लेखक की आलोचनात्मक कृतियाँ—

१. सूफीमत और हिन्दी-साहित्य
(पी-एच० डी० का स्वीकृत थीसिस)

२. हिन्दी-साहित्य रत्नाकर
वीर-गाथा काल से रीतिकाल तक के प्रमुख ११ कवियों एवं उनकी कृतियों का समीक्षात्मक अध्ययन

३. हिन्दी के अर्वाचीन रत्न
हिन्दी के अर्वाचीन काल के १० वरिष्ठ साहित्य-स्रष्टाओं तथा उनकी रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन

४. हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

५. 'रश्मि' सूर विशेषांक (सम्पादित)

६. तुलसी और उनका साहित्य (प्रेस में)

हिन्दी के अर्वाचीन रत्न

[अर्वाचीन दस साहित्य-स्रष्टाओं का समीक्षात्मक अध्ययन]
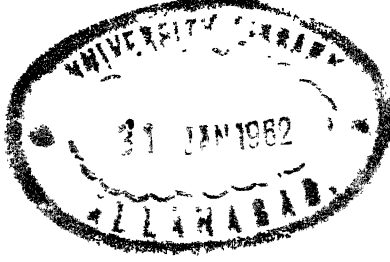
लेखक

डॉ० विमल कुमार जैन

एम० ए० (हिं०, सं०), पी-एच० डी०

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न

प्राध्यापक, दिल्ली कॉलेज

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई सड़क, दिल्ली

प्राक्कथन

वीरगाथा काल से रीतिकाल तक के ग्यारह वरिष्ठ कवियों का समीक्षात्मक विवेचन मैं इससे पूर्व 'हिन्दी-साहित्य रत्नाकर' नाम्नी पुस्तक में कर चुका हूँ। उसकी उपयोगिता के फलस्वरूप बढ़ती हुई माँग से उत्साहित होकर मैंने 'हिन्दी के अर्वाचीन रत्न' नामक इस पुस्तक में आधुनिक काल के दस प्रख्यात साहित्य-स्रष्टाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें स्थान-प्राप्त मान्य महानुभाव हैं—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० रामचन्द्र-शुक्ल, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मुंशी प्रेमचन्द, श्री मैथिलीशरण-गुप्त, श्री जयशंकरप्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री सुमित्रानन्दन पन्त और शुभश्री महादेवी वर्मा।

इसकी रचना भी 'हिन्दी-साहित्य रत्नाकर' की भाँति 'नातिविस्तृत-नाति संकुचित' शैली पर ही की गई है। प्रत्येक प्रकार का जिज्ञासु इसमें अपनी न्यूनाधिक रूप से जिज्ञासा शान्त कर सकता है क्योंकि मैंने प्रत्येक महानुभाव के जीवन एवं समस्त ग्रन्थों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण कृतियों पर तो पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है, उदाहरणतः 'मुद्राराक्षस', 'गंगावतरण', 'उद्धवशतक', 'प्रियप्रवास', 'चिन्तामणि', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान', 'साकेत', 'यशोधरा', 'आँसू', 'कामायनी', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कंकाल', 'तितली', 'परिमल', 'तुलसीदास', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'पल्लव', 'गुञ्जन', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'यामा', ('नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत') और 'दीपशिखा' आदि पर सभी दृष्टिकोणों से विचार किया गया है।

इस पुस्तक की भी पूर्व पुस्तक की भाँति यह विशेषता है कि यह बड़ी सुगम शैली में निर्मित हुई है। इसमें प्रत्येक साहित्य-निर्माता सम्बन्धी तथा उसकी रचना-सम्बन्धी विविध विषयों को भिन्न शीर्षकों से मोटे या मोनो काले

टाइप में दर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त उसकी प्रायः समस्त रचनाओं पर प्रकाश डालते हुए उसकी तद्विषयक साधारण मनोवृत्ति का भी विश्लेषण किया गया है। समीक्षा में तुलनात्मक अध्ययन, महत्व-प्रदर्शन एवं मूल्यांकन को भी स्थान दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने अपनी परिमित बुद्धि के अनुसार इनकी अपरिमेय कला-कुशलता को उद्घाटित एवं विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है।

ये रत्न तो अपार कान्ति से युक्त हैं परन्तु मेरी बुद्धि-निकष् मन्द एवं क्षीणशक्ति है अतः इस व्यापार में कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसे तो विद्वत्पारखी ही जानें। मैं तो इतना जानता हूँ कि विस्तृत अध्ययन के पश्चात् मैंने इसे लिख डाला है और इसलिए यह आशा रखता हूँ कि यह ग्रन्थ पाठक के लिए अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके ग्रन्थों का परिशीलन मेरे कृतकार्य होने में सहायक हुआ है।

२६ जनवरी, गणतन्त्र दिवस
सन् १९५६ ई०

विनीत—
विमलकुमार जैन

विषय-सूची

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु जी का जन्म सं० १९०७ (सन् १८५०) में भाद्रपद शुक्ला पंचमी को काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम गिरिधरदास था। जब ये पाँच वर्ष के थे तो इनकी माता का देहान्त हो गया और पूरे दस वर्ष के भी न होने पाए थे कि इनके पिता की छत्रछाया इनके सिर से उठ गई। इन्होंने स्कूल और कालेज की शिक्षा पाई। अध्ययन काल में अंग्रेजी और हिन्दी का इन्हें अच्छा अभ्यास हो गया। इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी, जिस विषय या भाषा को ध्यानपूर्वक थोड़े दिन भी देख लेते थे या अध्ययन कर लेते थे उसे हृदयंगम कर लेते थे। इन्होंने अंग्रेजी और हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी एवं बंगला आदि भाषाओं का अध्ययन घर पर ही किया और प्रशंसनीय दक्षता प्राप्त की। इनकी कुशाग्र बुद्धि और अलौकिक प्रतिभा का प्रमाण तो इसी से मिलता है कि सत्रह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने 'कविवचन सुधा' नाम की पत्रिका निकाली, जिसने हिन्दी एवं हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया। केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में सं० १९२४ में चौखम्भा स्कूल की स्थापना की। अठारह वर्ष की अवस्था में सं० १९२५ में इन्होंने अपना सर्वप्रथम 'विद्या-सुन्दर' नाटक बँगला से अनूदित किया और बीस वर्ष की अवस्था में ये ऑनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए।

यद्यपि ये केवल ३४ वर्ष ही जीवित रहे किन्तु क्या साहित्यकार की दृष्टि से क्या सामाजिक दृष्टि से सभी प्रकार से इन्होंने पूर्ण यश प्राप्त किया। अपने जीवन में इन्होंने अनेक संस्थाओं की स्थापना की यथा—कवि समाज, अनाथरक्षिणी सभा, डिबेटिंग क्लब, हिन्दी समाज एवं गोरक्षा सभा आदि। सं० १९३० में इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नामक पत्र निकाला, जिसका नाम आठ अंकों के पश्चात् 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। वास्तव में खड़ी बोली गद्य का परिष्कृत रूप सर्वप्रथम इसी में दीख पड़ा। उन्होंने अपनी 'कालचक्र' नाम्नी पुस्तक में लिखा भी है—"हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०"। इन्होंने एक वर्ष पश्चात् ही सं० १९३१ में स्त्री-शिक्षा के

लिए 'बाला बोधिनी' पत्रिका निकाली। इस प्रकार सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर चौंतीस वर्ष की अवस्था तक केवल अठारह वर्ष में ही उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं, सभाएँ स्थापित कीं, स्कूल चलाए एवं हिन्दी और गोरक्षा आदि के लिए आन्दोलन भी किये। इसी बीच वे छः साल तक म्युनिसिपल कमिश्नर भी रहे तथा अनेक सभा-समाजों के प्रधान एवं मंत्री रह कर सामाजिक कार्य भी करते रहे। फिर भी साहित्य-सेवा जितनी इन्होंने की उतनी और कम ही कर सके हैं। इन्होंने लगभग डेढ़ सौ ग्रन्थ लिखे और अन्य भी अनेक निबन्ध आदि रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

संभवतः इतना प्रतिभाशील व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ, जिसने केवल १८ वर्ष में इतने साहित्य का निर्माण किया हो। इनके पिता गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास स्वयं एक प्रतिभाशाली कवि थे। भारतेन्दु जी ने उनके चालीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है। ऐसे महान् कवि का पुत्र कवि क्यों न हो, सूर्य की किरणें प्रकाश ही देती हैं, चन्दन के वृक्ष में निकली हुई डालियाँ दिगदिगन्त को सुरभित ही करती हैं।

भारतेन्दु का समय वह समय था जब अंग्रेजी सत्ता ने भारतवर्ष पर पूर्ण शासन स्थापित कर लिया था। सन् १८५७ में राजक्रान्ति हुई और वह कुचल दी गई तथा दिल्ली का अन्तिम मुगल बादशाह बन्दी बना लिया गया। विदेशी दमन-चक्र प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः भारत का रूप-रंग बदलने लगा। बालक हरिश्चन्द्र उस समय केवल ९–१० वर्ष का था। किन्तु जब ये १६–१७ वर्ष के हुए तो उस समय तक भारत का गौरव और वैभव बहुत कुछ जा चुका था। नई सभ्यता ने नया जीवन ला दिया था, पूर्वी आकाश में पश्चिम की लालिमा छाने लगी थी और देखते ही देखते मनुष्य विलायती होने लगा था। चुस्त और चालाक अंग्रेज राजनीति के पण्डित थे, उन्होंने अपनी सत्ता को दृढ़ करने के लिए विभाजन की नींव डाली, भला, टाँकी बिना मारे दीवार टूट कैसे सकती है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा को प्रचारित किया, यहाँ की वेशभूषा को बदला, और साथ ही साथ मिशनरियों द्वारा अपने धर्म का प्रचार भी किया। भारतेन्दु जी ने इस सम्पूर्ण वातावरण को देखा और उन्हें बड़ा दुख हुआ। साथ ही उन्हें अपने देश की कुप्रथाएँ भी अखरीं। वे सच्चे राष्ट्र-प्रेमी थे, हिन्दुत्व से उन्हें प्रेम था और हिन्दी उनकी मातृभाषा थी अतः उन्होंने लोगों का ध्यान राष्ट्रप्रेम, भारतीयता, स्वधर्म एवं निज भाषा की ओर आकृष्ट किया। इसके लिए उन्होंने अपनी पुस्तकों एवं पत्रों को माध्यम बनाया। विविध संस्थाएँ भी इसी लिए स्थापित कीं। वे प्रभावशाली वक्ता एवं

अभिनेता भी थे अतः अपनी वक्तृताओं एवं अभिनयों से भी लोगों को शिक्षा देते थे और सन्मार्ग का प्रदर्शन करने थे। 'अन्धेर नगरी' और 'देवाक्षर चरित्र' नाटकों का अभिनय उन्होंने इसी ध्येय से किया था। अन्धेर नगरी में शासन की ढील और दुर्नीति का प्रकाशन था और देवाक्षर चरित्र पं० रविदत्त शुक्ल का लिखा एक प्रहसन था जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बड़े हास्यास्पद दृश्य थे।

भारतेन्दु जी की रचनाओं में हम समसामयिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, नैतिक एवं और भी अनेक विषय देखते हैं। वे स्वयं सच्चे देश-प्रेमी, निष्ठावान, ऋजु और चरित्रशील व्यक्ति थे अतः उनकी रचनाओं में भी एक सात्विक ऋजुता, प्रगाढ़ राष्ट्रीयता, उच्च नैतिकता एवं उच्चाशयता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने २१ काव्य-ग्रंथ लिखे तथा लगभग ६० और छोटे प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक कविताएँ लिखीं। उनकी 'भारत वीरत्व' एवं 'जातीय संगीत' आदि कृतियों में हमें उनका राष्ट्र-प्रेम दिखलाई देता है तथा 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' तथा 'उर्दू का स्यापा' आदि में हिन्दी-प्रेम। इनकी भक्ति-सम्बन्धी तो अनेक कविताएँ हैं।

कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने अनेक नाटक भी लिखे, जिनमें से कुछ तो अनूदित हैं और कुछ मौलिक। ये स्वयं एक प्रसिद्ध अभिनेता थे, अतः इनके नाटक मध्यम श्रेणी के अच्छे नाटक हैं।

इन्होंने अनेक इतिहास-सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखीं। इन्होंने ऐसी पुस्तकों का निर्माण सं० १९२८ से करना प्रारम्भ किया और उनमें सामयिक घटनाओं पर अच्छा और खरा प्रकाश डाला।

इनके काव्य-ग्रंथों में भक्ति-विषयक रचनाएँ भी हैं। वास्तव में ये बल्लभीय सम्प्रदाय के थे, अतः कृष्णभक्त थे, परन्तु बड़े सरस और सहृदय थे।

इन्होंने अनेक लेख भी लिखे, जिनमें उपर्युक्त सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इनकी विनोदप्रियता एवं व्यंग्य का पूरा आनन्द इनके निबन्धों में ही उठाया जा सकता है।

रचनाएँ—

काव्य-ग्रंथ—

१. भक्त सर्वस्व	५. प्रेम-सरोवर
२. प्रेम मालिका	६. प्रेमाश्रु-वर्षण
३. कार्तिक-स्नान	७. जैन-कुतूहल
४. वैशाख-माहात्म्य	८. प्रेम-माधुरी

९. प्रेम-तरंग
१०. उत्तरार्द्ध भक्तमाल
११. प्रेम-प्रलाप
१२. गीत गोविन्दानन्द
१३. सतसई-शृंगार
१४. होली
१५. मधु-मुकुल
१६. राग-संग्रह
१७. वर्षा-विनोद
१८. विनय-प्रेम-पचासा
१९. फूलों का गुच्छा
२०. प्रेम-फुलवारी
२१. कृष्ण-चरित

इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक छोटे प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक कविताएँ भी लिखीं, जिनकी संख्या ७० के लगभग है। उनमें से कुछ नाम नीचे दिए जाते हैं—

श्री अलबरत वर्णन
श्री राजकुमार सुस्वागत-पत्र
सुमनोञ्जलिः
देवी छद्म-लीला
दैन्य-प्रलाप
दान-लीला
बसंत होली
उर्दू का स्यापा
बकरी-विलाप
भारत शिक्षा
श्री सर्वोत्तम स्तोत्र
हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान
अपवर्गदाष्टक
श्रीनाथ-स्तुति
अपवर्ग-पञ्चक
भारत वीरत्व
श्री सीता-बल्लभ स्तोत्र
बन्दर सभा
विजय-बल्लरी
नये जमाने की मुकरी
जातीय-संगीत
रिपनाष्टक

नाटक—

[मौलिक]

१. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति
२. चन्द्रावली
३. विषस्य विषमौषधम्
४. भारत दुर्दशा
५. नील देवी
६. अंधेर नगरी
७. प्रेम-जोगिनी (अपूर्ण)
८. सती प्रताप ,,

[अनूदित]

१. विद्या-सुन्दर
२. पाखंड-विडंबन
३. धनंजय-विजय
४. कर्पूर-मंजरी
५. मुद्राराक्षस
६. सत्य-हरिश्चन्द्र
७. भारत जननी
८. दुर्लभ बन्धु (अपूर्ण)
९. रत्नावली नाटिका (अपूर्ण)

इतिहास—

१. काश्मीर-कुसुम
२. महाराष्ट्र देश का इतिहास
३. रामायण का समय
४. बादशाह-दर्पण
५. अग्रवालों की उत्पत्ति
६. खत्रियों की उत्पत्ति
७. बूँदी का राजवंश
८. उदयपुरोदय
९. चरितावली
१०. पंच-पवित्रात्मा
११. दिल्ली-दरबार दर्पण
१२. कालचक्र

इनमें कुछ निबन्ध भी सम्मिलित हैं, यथा काश्मीर-कुसुम आदि।

निबन्ध—

वैष्णवता और भारतवर्ष
भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है
ईशू खृष्ट और ईश कृष्ण
अकबर और औरंगजेब
मणिकर्णिका
लखनऊ
हिन्दी भाषा
ग्रीष्म ऋतु
दिल्ली दरबार दर्पण
सूरदास का जीवन-चरित्र
श्री जयदेव जी का जीवन-चरित्र
लार्ड मेयो साहिब का जीवन-चरित्र
अंगरेज स्तोत्र
मदिरास्तव राज
पाँचवें पैगम्बर
स्वर्ग में विचार सभा
स्त्री सेवा पद्धति
जाति विवेकिनी सभा
सबै जात गोपाल की
सम्पादक के नाम पत्र
मदालसा उपाख्यान
संगीत सार
जातीय सर्वस्व
श्रीवल्लभीय सर्वस्व
एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती, आदि

कुछ अन्य रचनाएँ—

नवमल्लिका नाटक (अपूर्ण, अप्रकाशित)
हमीर हठ (अपूर्ण गद्य ग्रन्थ, अप्रकाशित)
राजसिंह (अपूर्ण गद्यग्रन्थ)
सुलोचना (आख्यान)
मदालसा उपाख्यान (आख्यान)
शीलवती (आख्यान)
सावित्री चरित (आख्यान)
चित्र काव्य
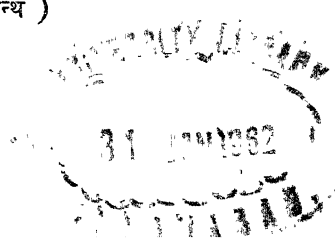
श्रुतिरहस्य
कुरान का अनुवाद
परिहासिनी
तहक़ीकात पुरी की तहक़ीक़ात आदि

इस तालिका से हम देख सकते हैं कि इतने बहुविध ग्रन्थों की रचना संभवतः किसी भी अन्य व्यक्ति ने नहीं की और वह भी १७-१८ वर्ष में। ऐसा प्रतीत होता है कि वे आशु कवि थे, नाट्य-कला उनकी लेखनी में बसी हुई थी और उनका हृदय भावों की एक वरप्राप्त अक्षय मञ्जूषिका थी।

भारतेन्दु जी की काव्यगत विचार-धारा एवं काव्य-कला—

भारतेन्दु जी बल्लभीय मत के अनुयायी थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर बल्लभाचार्य एवं बिट्ठलनाथ जी के प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित की है—

बल्लभ बल्लभ बल्लभ पंडित मंगल मंडन।
ब्रह्मवाद कर भाष्यकार माया-मत खण्डन ॥

× × ×

जे निस-दिन श्री बिट्ठल बिट्ठल बिट्ठल ही मुख भाखैं।
'हरीचन्द' तिनके पद की रज हम अपुने सिर राखैं ॥

बल्लभ सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का बड़ा महत्व है। इनके यहाँ जितना महत्व प्रेम-लक्षणा भक्ति को है उतना संन्यास की कठिन चर्या को नहीं। भारतेन्दु जी ने भी अपनी अधिकांश रचनाओं में राधा-कृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम, प्रेम-क्रीड़ाओं एवं रासलीला आदि का बड़ा सुन्दर शृंगारिक चित्रण किया है। प्रेममालिका, प्रेममाधुरी, प्रेम-तरंग, प्रेम-प्रलाप, गीतगोविन्दानन्द, होली, मधुमुकुल राग-संग्रह, वर्षा-विनोद, विनय प्रेम-पचासा और प्रेम-फुलवारी आदि रचनाओं में राधा-कृष्ण विषयक पद ही अधिक हैं। उरहना, तन्मयलीला, दानलीला एवं देवी छद्म-लीला में भी यही विषय है। 'कृष्ण' नामक कृति में केवल कृष्ण का चरित्र वर्णित है, जिसमें वात्सल्य का मनोहर चित्रण हुआ है। भक्तमाल में भक्तों का वर्णन है। इन ग्रन्थों में इनकी भक्ति परिलक्षित होती है। बल्लभ स्वामी ने पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन किया था, जिसके अनुसार कृष्ण के अनुग्रह से ही भक्त में भक्ति उद्बुद्ध होती है और पुनः वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है। भारतेन्दु जी ने भी भगवान् का प्रसाद प्राप्त करने के लिये उनके चरित्रों का तल्लीनता-पूर्ण अंकन किया है। 'दैन्य-प्रलाप' में इन्होंने विनय के पद भी लिखे हैं, जिनमें भक्त अपने भगवान् से दैन्य दिखलाता हुआ अपने उद्धार की अभ्यर्थना करता है।

भारतेन्दु जी बल्लभीय सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हुए भी संकीर्ण विचार के व्यक्ति नहीं थे, वरन् उनमें उदाराशयता थी। उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त 'सीता-बल्लभ-स्तोत्र' में राम की स्तुति की है और 'रामलीला' में राम की लीला का वर्णन किया है।

इनका सरस हृदय रसिकराज कृष्ण पर अधिक मुग्ध था तथापि किसी अन्य सम्प्रदाय से तनिक भी द्वेष नहीं था। राम की स्तुति तो इन्होंने की ही है, जैन आदि मतों में वर्णित बातों को भी वे बड़े विशाल दृष्टिकोण से देखते थे। 'जैन-कुतूहल' नामक ग्रन्थ में वे अरहंत ऋषभ एवं पार्श्वनाथ को उसी ईश्वर का रूप मानते हैं—

पियारे दूजो को अरहंत।

× ×

जय जय जयति ऋषभ भगवान।
जगत ऋषभ बुध ऋषभ धरम के ऋषभ पुरान प्रमान॥

× × ×

तुमहि तो पार्श्वनाथ हौ प्यारे।

इस प्रकार जैन तीर्थंकरों के प्रति भी वे अपनी आस्था प्रदर्शित करते हैं और उन्हें ही नहीं, संसार में अवतरित सभी देवदूतों को उसी का रूप मानते हैं—

अहो तुम बहु विधि रूप धरो।

वे 'जैन धरम में प्रगट कियो तुम दया धर्म सगरो' कह कर जैनों की दया को भी उसी एक ईश्वर की देन मानते हैं। अपनी उदाराशयता और वास्तविक तत्वदर्शिता का परिचय देते हुए वे कहते हैं कि—

नाहिं ईश्वरता अटकी वेद में।

ईश्वरता कोई वेद में ही है ऐसी बात नहीं। वह सभी धर्मों में विद्यमान है। रूप-भेद अवश्य है परन्तु वास्तव में कोई अन्तर नहीं। वे 'जैन धर्म को नास्तिक भाखै कौन' कह कर जैनों को नास्तिक कहने वालों को भर्त्सित करते हैं तथा 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत जैन मन्दिरम्' कहने वालों को निम्न पदांश में मूर्ख बताते हैं—

बात कोउ मूरख की यह मानो।
हाथी मारै तौहू नाहीं जिन-मन्दिर में जानो॥

इस प्रकार हम भारतेन्दु जी की रचनाओं से उनकी भक्ति, उदाराशयता एवं समन्वयवादिता को भली-भाँति जान सकते हैं।

भारतेन्दु जी की रचनाओं में हमें संगठन और प्रेम की एक सामयिक चेतना की प्रेरणा मिलती है। वे सभी मतवालों को 'भये सब मतवारे मतवारे' कह कर उन्मत्त कहते हैं तथा ईश्वर को ज्ञान, ध्यान एवं नियम से प्राप्य नहीं मानते और न रामायण, महाभारत, स्मृति और वेद में उसका होना मानते हैं। उनके अनुसार झगड़े, युक्ति, मतों के भेद, मन्दिर, पूजा एवं घंटा की घोर भी उसकी स्थिति और प्रेरणा नही है। वह तो एक प्रीति की डोर में ही बँधा हुआ है।

पियारो पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम-कुल नेम में॥
नहिं भारत मे नहिं रामायन मै नहिं मनु में नहिं वेद मैं।
नहिं झगरे मे नाहिं युक्ति मैं नाहिं मतन के भेद मैं॥
नहिं मन्दिर मे नहिं पूजा मै नहिं घंटा की घोर मैं।
'हरीचन्द' वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर मैं॥

भारतेन्दु जी सच्चे राष्ट्र-भक्त थे परन्तु प्रारम्भ मे उनके समय में राष्ट्र-भक्ति एवं राजभक्ति में कोई अन्तर नहीं था अतः उन्होंने तत्कालीन अंग्रेज सम्राट, उनके राजकुमार एवं महारानी विक्टोरिया और लॉर्ड रिपन की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा। सन् १८६९ ई० में जब ड्यूक आफ एडिनबरा भारत आये थे तब उन्होंने 'श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र' लिखा था और उसके आरम्भ में निम्न दोहे लिखे थे—

जाके दरशन हित सदा नैना मरत पियास।
सो मुखचन्द बिलोकिहैं पूरी सब मन आस॥
नैन बिछाए आपु हित आवहु या मग होय।
कमल-पाँवड़े ये किए अति कोमल पद जोय॥

इसी प्रकार सन् १८७५ में युवराज प्रिंस आफ वेल्स के भारत आने पर उन्होंने 'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन' लिखा था, जिसका प्रथम दोहा यह है—

स्वागत स्वागत धन्य तुम भावी राजाधिराज।
भई सनाथा भूमि यह परसि चरन तुव आज॥

इन उद्धरणों से हमें उनकी राज-भक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। परन्तु समय बदला और भारत में चतुर्दिक अव्यवस्था फैल गई, शोषण होने लगा और मनुष्यों की विपत्तियाँ फैल गईं तब इन्होंने भारत की दुर्दशा पर भी बहुत कुछ लिखा। 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' में इन्होंने कितने करुण शब्दों में

भारत-भूमि के विषय में लिखा है—

हाय वहै भारत भुव भारी।
सब ही विधि तें भई दुखारी ॥

भारतेन्दु जी राष्ट्र-प्रेमी होने के साथ-साथ हिन्दी-प्रेमी भी थे। इन्होंने 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' नामक पद्य की रचना की, जिसमें उन्होंने अपना हिन्दी-प्रेम प्रदर्शित किया है। यह उनका पद्य-बद्ध व्याख्यान था जो उन्होंने संवत् १९३४ में हिन्दी-बर्द्धिनी सभा में पढ़ा था। इस व्याख्यान में उन्होंने अपनी भाषा को सम्पूर्ण उन्नति का मूल बतलाया और सबको हिन्दी पढ़ने की प्रेरणा दी।

किसी वस्तु से प्रेम होने पर उससे विपरीत वस्तुओं से स्वतः ही वैर हो जाता है। राजा शिवप्रसाद जी उर्दू के प्रशंसक थे अतः भारतेन्दु जी ने उर्दू की बुराई की। इन्होंने हिन्दी की उन्नति पर इसके लिए 'उर्दू का स्यापा' लिखा, जिसमें प्रथम गद्य में उसकी मृत्यु पर स्यापा मनाते हुए लिखते हैं—

'अरबी, फारसी, पश्तो, पंजाबी इत्यादि कई भाषा खड़ी होकर छाती पीटती हैं।'

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय ॥ इत्यादि।

इस उर्दू के स्यापे से वे उर्दू का उपहास तो उड़ाते ही हैं साथ ही अरबी, फारसी, पश्तो और पंजाबी का भी।

'नए जमाने की मुकरी' में वे एक मुकरी में अँग्रेजी का भी उपहास उड़ाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै ॥
भीतर तत्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी ॥

भारतेन्दु जी बड़े सरस एवं विनोदी जन थे। उनकी फबतियाँ एवं व्यंग्य बड़े मनोहारी है। देखिए ग्रैजुएट एवं पुलिस पर मुकरियों में कैसे सुन्दर व्यंग्य कसे हैं—

तीन बुलाए तेरह आवैं। निज निज विपता रोइ सुनावैं।
आँखों फूटे भरा न पेट। क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रैजुएट ॥

रूप दिखावत सरबस लूटै। फंदे में जो पड़ै न छूटै।
कपट कटारी जिय में हूलिस। क्यों सखि सज्जन नहिं सखि पूलिस॥

'बन्दर सभा' कविता में बन्दर की सभा का इन्होंने बड़ा मनोरम और हास्यजनक चित्र खींचा है।

बाबू हरिश्चन्द्र बड़े दयालु भी थे। उन्होंने 'बकरी-विलाप' नामक कविता में बकरी के रोदन में करुणा का समुद्र उमड़ा दिया है।

भारतेन्दु जी की काव्य-कला का सुन्दर प्रदर्शन उनकी राधाकृष्ण विषयक श्रृंगारिक रचनाओं में है। इन्होंने श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का यथोचित अंकन किया है। संयोग का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

देखु सखी देख आजु कुंजन में नवल केलि,
करत कृष्ण संग बिबिध भाँति राधिका।
तैसोइ बहै त्रिविध पौन तैसोइ नभ चंद उग्यो,
तैसी परछाहीं परत लाज बाधिका।
किंकिनि की धुनि सुनात पातन की खरखरात,
तैसी निसि सनसनात सुखहि साधिका।
तहँ अलि 'हरिचंद' आय बिनवत ससि कों, मनाय,
आजु रहो थिर ह्वै रथ यह अराधिका॥

निम्नलिखित पद्य में वियोग की विविध दशाओं को भी देखिए :—

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी
दुखी सी रहत कछू नाहीं सुधि देह की।
मोही सी लुभाई कछु मोदक सों खाए सदा
बिसरी सी रहै नैक खबर न गेह की।
रिस भरी रहे कबौं फूलि न समाति अंग
हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की।
पूछे ते खिसानी होय उतर न आवै ताहि
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की॥

इस प्रकार संयोग और वियोग के एक से एक सुन्दर काव्य-गुणों से युक्त सैंकड़ों पद्य आपने निर्मित किए, किन्तु पुनरुक्ति कहीं भी नहीं होने पाई है।

भारतेन्दु जी ने श्रृंगार का चित्रण करते हुए प्रकृति का रूपांकन भी अत्यधिक मात्रा में किया है। 'वर्षाविनोद' में बारह मासा इनकी बड़ी आकर्षक कृति है। प्रकृति उन्हें इतनी प्रिय थी कि ड्यूक आँफ ऐडिनबरा के भारत

पधारने पर उन्होंने उन पर भी षट्ऋतु रूपक का निर्माण किया था। देखिए उसके प्रथम दोहे का ही रूपक कितना सुन्दर है :—

आनँद सों बौरी प्रजा, धाये मधुप समाज।
मन-मयूर हरखित भए, राजकुँवर रितुराज॥

शृंगारिक वर्णन में प्रकृति उद्दीपन रूप में चित्रित हुई है। संयोग में रति के उद्दीपनार्थ निम्न पद्य में पावस ने कितना योग दिया है :—

आयो पावस प्रचंड सब जग मैं मचाई धूम
कारे घन घेरि चारों ओर छाय।
गरजि गरजि तरजि तरजि बीजु चमक चहुँ दिसि
सो बरखत जल-धार लेत धरनि छिपाय।
मोर-रोर दादुर-रव कोकिल-कल झींगुर झनकारन
मिलि चारहु दिसि तुम कलह घोर सी मचाय।
'हरीचंद' गिरिधारी राधा प्यारी साथ लिये
ऐसी समै रहे मिलि कंठ लपटाय॥

जो पावस संयोग में प्रेमियों को गाढालिङ्गन के लिए प्रेरित करती है और इस प्रकार परम शान्ति देती है, वही वियोग में रति को उद्दीप्त कर तापकारी हो जाती है। उपर्युक्त पद्य में उसी पावस से राधाकृष्ण की बाहुएँ परस्पर गले का हार बनती हैं किन्तु निम्न पद्य में वही पावस वियोगिनी को विकल किए दे रही है :—

घेरि घेरि घन आए छाय रहे चहुँ ओर
कौन हेत प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगनूं चमक तैसी
नभ मैं बिशाल बग-पंगति सँवारी है।
ऐसो समैं 'हरिचंद' धीर न धरत नेकु
बिरह-बिथा में होत व्याकुल पियारी है।
प्रीतम पियारे नंदलाल बिनु हाय यह
सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है॥

अन्तिम पंक्ति में संदेह की कैसी सुन्दर योजना हुई है। निम्न पंक्तियों में मोर और चन्द्रमा पर उत्प्रेक्षा की योजना भी दर्शनीय है :—

सखी री मोरा बोलन लागे।
मनु पावस को टेरि बोलावत तासों अति अनुरागे॥

× × ×

देखि सखि चन्दा उदय भयो ।
कबहूँ प्रगट लखात कबहुँ बदरी की ओट भयो ॥
करत प्रकास कबहुँ कुंजन में छन छन छिपि जाय ।
मनु प्यारी मुख-चंद देखि के घूँघट करत लजाय ॥

इस प्रकार हमें प्रकृति के बड़े सुन्दर वर्णन इनकी रचनाओं में मिलते हैं परन्तु वे सब आये उद्दीपन के रूप में ही हैं ।

भारतेन्दु जी बहुज्ञ थे यह बात हमें उनकी रचनाओं से ज्ञात होती है । उनकी रचनाओं पर जयदेव के गीतगोविन्द, सूर, तुलसी, मीरा और विहारी आदि का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । गीतगोविन्द के निम्न श्लोक का कुछ शब्द सहित भाव हमें इनकी 'वर्षा-विनोद' रचना में मिलता है—

गीतगोविन्द—

ललित-लवंग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे
मधुकर-निकर करम्बित-कोकिल-कूजित-कुंज-कुटीरे,
हरिरिह विहरति सरस-बसन्ते नृत्यति,
युवतिजनेन समं सखि विरहि-जनस्य दुरन्ते ॥

वर्षा विनोद—

हरि हरि हरिरिह विहरत कुंजे मन्मथ मोहन बनमाली ।
श्री राधाय समेतो शिखिशेखर शोभाशाली ।
गोपीजन-बिधुबदनबनज-बन ,मोहन मत्ताली ।
गावति निज दासे 'हरिचन्दे' गल-जालक माया-जाली ॥

'गीतगोविन्दानन्द' तो जयदेव की कविता का अनुवाद ही है । इस पुस्तक में उपरिलिखित श्लोक का अनुवाद इस प्रकार है—

हरि बिहरत लखि रसमय बसन्त ।
जो बिरही जन कहँ अति दुरंत ॥
वृन्दावनि-कुंजनि सुख समंत ।
नाचत गावत कामिनी-कंत
लै ललित लवंग-लता-सुबास ।
डोलत कोमल मलयज वतास ॥
अलि-पिक-कलरव लहि आस पास ।
रह्यौ गूँजि कुंज गहवर अबास ॥

इनके राधाकृष्ण विषयक पदों में सूर का बड़ा प्रभाव है । देखिए

प्रबोधिनी में तुलसी और भारतेन्दु जी की निम्न पंक्तियों में कितना साम्य है—

तुलसी—तमचुर मुखर सुनहु मेरे प्यारे।
भारतेन्दु—करत रोर तम-चोर...... ।

इसके अतिरिक्त तुलसी की विनयपत्रिका की सामासिक प्रणाली का भी हमें यत्र-तत्र प्रभाव दीख पड़ता है, उदाहरणार्थ इनका एक पदांश नीचे दिया जाता है—

जयति राधिकानाथ चंद्रावली-प्रानपति,
घोष - कुल - सकल - संताप - हारी।
गोपिका-कुमुद-वन-चंद्र साँवर बरन,
हरन बहु बिरह आनंदकारी॥

मीरा की प्रणाली पर राजस्थानी भाषा में भी इन्होंने कई पद बनाए, यथा—

बेगाँ आवो प्यारा बनवारी म्हारी ओर।
× × ×
थानें जग दीनदयाल कहै छै क्यौं म्हारी सुरत बिसारी।
प्राण दान दीजै मोहि प्यारा हौंछूँ दासी थारी॥

'सतसई-सिंगार' में बिहारी के दोहों का भाव ज्यों का त्यों सुरक्षित है, जैसे—

मेरी भव-बाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परै स्याम हरित दुति होइ॥
स्याम हरित द्युति होइ परै जा तन की झाँई।
पाय पलोटत लाल लखत साँवरे कन्हाई॥
श्री 'हरिचंद' वियोग पीत पट मिलि दुति टेरी।
नित हरि जा रँग रँगे हरौ बाधा सोइ मेरी॥

इसी प्रकार बिहारी के ८५ दोहों का भाव इन्होंने इस ग्रन्थ में उपर्युक्त रीति से अंकित किया है।

भारतेन्दु जी ने चित्र-विचित्र कविताएँ भी की हैं। 'मनोमुकुल-माला' में महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा में इंगलैंडी-पारसीक-वर्णचित्रिता, अंकमयी, रंगचित्रिता, संस्कृत एवं गजल कविता उनकी विचित्र रुचि की परिचायिका है। इनका क्रमशः एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

G बहु E स अ C स बल हरहु प्रजन की P र।
(जीवहु ईस असीस बल हरहु प्रजन की पीर)

× × ×

करि वि ४ देख्यौ बहुत जग बिनु २ स न १।
(करि विचार देख्यौ बहुत जग बिनु दोस न एक)

× × ×

—दुति करि बैरि झट—मुख मसि लाय।
—परिजन—लित—हि इत पठवाय॥
पीरे दुति करि बैरि झट कारे मुख मसि लाय।
हरे पीरजन नील लित लाल हि इत पठवाय॥

× × ×

श्रीमत्सर्वगुणाम्बुधेर्जनमनोवाराशिविद्रूराकृतेर्निस्था-
नंदघनस्य पूर्णकरुणासारैर्जनान् सिंचतः।
शक्तिः श्रीपरमेश्वरस्य जनताभाग्यैरवाप्तोदया—
साम्राज्यैकनिकेतनं विजयिनी देवी वरीवृध्यते॥

× × ×

उसको शाहनशाही हर बार मुबारक होवे।
कैसरे हिन्द का दरबार मुबारक होवे॥

इन उद्धरणों से उनके अगाध पाण्डित्य और बहुविज्ञता का परिचय मिलता है। ये हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, उर्दू, बँगला, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और पूर्वी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। इनकी कविताओं में प्रयुक्त इन भाषाओं के कुछ शब्द एवं उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

फारसी-उर्दू—जल्वा, हूर, नूर, हुस्न, दुनियाँ, माशूक, जुल्फ, नशीली, शक्ल, राग, जुदा, तदबीर, खयाल, शिकारी, मियाँ हसरत और दिलवर आदि।

इन्होंने अनेक ग़जल भी लिखीं, जैसे कि एक उदाहरण ऊपर दिया गया है।

बँगला—

प्रानेर बिना की करी रे आमी कोथाय जाई।
आमी की सहिते पारी बिरह-जंत्रना भारी॥

राजस्थानी—म्हारी, थानै, थारी, छै आदि। इसका उदाहरण मीरा के प्रभाव में दिया जा चुका है।

गुजराती—

> **आवो आवो भारत राज भारत जोवाने।**
> **दई दरसन दुख एनूं जनम जनमनो खोवाने।।**
> **ज्यम चन्द्रोदय जोई चकोर जिय राचे रे।**
> **ज्यम नव घन आतां लखी मोर बन नाचे रे।।**

पंजाबी—

> **बेदरदी बे लड़िबे लगी तैंड़े नाल।**
> **बे परवाही वारी जी तू मेरा साहबा असी इत्थों बिरह-बिहाल।।**
> **चाहने वाली दी फिकर न तुझ नूँ गल्लों दा ज्वाब ना स्वाल।**
> **'हरीचन्द' ततबीर ना सुझदी आशक बेतुल-माल।।**

पूर्वी हिन्दी—पियरवा, गरवा, छयल, रहत हौं, लोगवा, परदेसवा आदि।

> **आओ रे मोरे रूठे पियरवा, धाय लागो प्यारी के गरवा।**

संस्कृत का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। इन्होंने 'प्रेम-प्रलाप' में अष्टपदी, 'मधुमुकुल' में राग बसंत और 'श्री सीतावल्लभ स्तोत्र' आदि रचनाएँ संस्कृत में ही लिखीं।

इन्होंने कहीं-कहीं अपनी भाषा में समस्त प्रणाली को अपनाया है। कुछ समस्त पद ये हैं—

जुगल-रूप-रस-अमृत माधुरी, बल्लभ-पद-कमल, गोप-सागर-रतन, गोपिका-कुमुद-वन-चन्द, ब्रज-जन-चित-चोर, कलिन्दजा-कुञ्ज-तट, रसिक-चूड़ा-रतन, जुगल-केलि-रस-रीति, लोक-निकुंज-नायक, मुनि-मन-मानस-जलज-विकासन और गोप-कुल-सीस-मुकुट-मनि आदि।

इसके अतिरिक्त इन्होंने कहीं-कहीं उर्दू के शब्दों में सम्बोधन बड़े हास्य-जनक प्रयुक्त किए हैं। कहीं प्रिय को 'यार' कहा है तो कहीं 'रसिया बे' और कहीं 'नशीली आँखों वाले'। तनिक निम्न पंक्तियों पर दृष्टि डालिये—

> **नयन की मत मारो तरवरिया।**
> × × ×
> **जिय लेके यार करो मत हाँसी।।**
> × × ×

नशीली आँखों वाले सोए रहो अभी है बड़ी रात।

× × ×

शिकारी मियाँ वे जुलफों का फन्दा न डारो।

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई छैला मद पिए यार-दोस्तों की महफिल में खुल पड़ा है और हाथ लम्बे कर-कर के उन्हें अपनी शायरी सुना रहा है।

भारतेन्दु जी ने रेल आदि आधुनिक यंत्रों का उल्लेख भी अपनी कविता में किया है। 'प्रेम-प्रलाप' में वे संसार की चलाचली में रेल और तार का चलना भी वर्णित करते हैं।

इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं लिंग आदि की त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, यथा—तार धाय कै **चली,** प्रीत **के** डोर में और **प्रकर्ण** आदि।

भारतेन्दु जी की निबन्ध-कला—

भारतेन्दु जी के कुछ निबन्धों की सूची पहले ही दी जा चुकी है। अब हम उनकी निबन्ध-कला पर सूक्ष्मतः विचार करेंगे। भारतेन्दु जी ने मुख्यतः काव्य, नाटक एवं निबन्ध लिखे। काव्य में प्रायः अतिरञ्जना अधिक रहती है, अलंकार-विधान एवं उक्ति-वैचित्र्य की प्रमुखता होती है और अभिव्यञ्जनार्थ शैली में सहजभाव प्रायः कम ही रहता है एवं नाटकों में भी पात्रानुकूल और देशकालानुसार कथनोपकथन होता है अतः भाषा में नाटकीय दृष्टि से प्रवाह एवं सौष्ठव तो रहता है परन्तु बलाघातबाहुल्य होने के कारण वह नैसर्गिक नहीं रहती। निबन्ध ही एक ऐसी गद्य है जिसमें भावों का सहज किन्तु रसानुकूल व्यक्तीकरण होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी गद्य को ही भाषा की कसौटी माना है। इस दृष्टि से भारतेन्दु जी के निबन्ध बड़ा महत्व और मूल्य रखते हैं। सर्वप्रथम आधुनिक काल में वास्तव में खड़ी बोली गद्य के संस्कर्त्ताओं में आप ही का नाम है। आपने भाषा का परिमार्जन करते हुए अनेक मित्रों को भी इस ओर आकृष्ट किया था।

इन्होंने पचासों निबन्ध लिखे, जिनमें से 'वैष्णवता और भारतवर्ष' तथा 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' आदि सांस्कृतिक निबन्ध हैं। साहित्यिक निबन्धों में 'हिन्दी भाषा', 'ग्रीष्म ऋतु', दिल्ली-दरबार दर्पण' और 'मेंहदावल' आदि मुख्य है। कुछ निबन्ध जीवन-चरित्र सम्बन्धी भी हैं, यथा—'सूरदास जी का जीवन-चरित्र', 'श्री जयदेव जी का जीवन-चरित्र', 'श्री राजाराम शास्त्री का जीवन चरित्र,' 'महात्मा मुहम्मद' और 'लार्ड मेयो साहिब का जीवन चरित्र' आदि। ऐतिहासिक निबन्धों में 'महाराष्ट्र का इतिहास', 'बूँदी का राजवंश',

'बादशाह दर्पण', 'उदयपुरोदय' एवं 'काश्मीर कुसुम' आदि प्रसिद्ध है। कुछ निबन्ध पुरातत्व-सम्बन्धी भी हैं, जैसे 'अकबर और औरंगजेब', 'रामायण का समय' और 'मणिकर्णिका' आदि। भारतेन्दु जी ने अनेक हास्यजनक एवं व्यंग्य-पूर्ण लेख भी लिखे। इस कोटि में 'कंकड़ स्तोत्र', 'मदिरास्तवराज', 'स्त्री सेवा-पद्धति', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' और 'पाँचवें पैगम्बर' आदि आते हैं।

भारतेन्दु जी भारतीय संस्कृति के उपासक थे। यद्यपि वे नवीनता से प्रभावित थे तथापि भारतीय ऋजुता एवं उदारता के वे साक्षात् आदर्श थे अतः उन्होंने जो सांस्कृतिक निबन्ध लिखे, उनमें भारतवर्ष एवं यहाँ की प्राचीन संस्कृति का ही महत्त्व प्रदर्शित है। उनमें एक अन्तःप्रेरणा है, जागृति है और है एक पथप्रदर्शन।

इनके साहित्यिक निबन्धों में हमें इनका रुचि-वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। इनमें विषय-विभिन्नता के साथ-साथ शैली-पार्थक्य और भाषा-विभेद भी दृष्टि-गोचर होता है। इनकी बुद्धि की प्रखरता, मस्तिष्क की सजगता और हृदय की सरसता इन लेखों में पूर्णतः विलसित हुई हैं। वाणी का वैदग्ध्य भी प्रचुरमात्रा में है। हमने व्यंग्य के निबन्धों को पृथक् लिखा अवश्य है परन्तु वास्तव में वे इसी कोटि में आते हैं। इनके व्यंग्यात्मक निबन्ध बड़ी मार्मिकतापूर्ण है। इन्होंने इन निबन्धों में आलोचना भी की है, व्यंग्य भी कसे है और उपहास भी किया है। 'स्त्री सेवा पद्धति' में एक व्यंग्य चित्र देखिए—

"इस पूजा में अश्रुजल ही पाद्य है, दीर्घ श्वास ही अर्घ्य है, आश्वासन ही आचमन है, मधुर भाषण ही मधुपर्क है, सुवर्णालंकार ही पुष्प है, धैर्य ही धूप है, दीनता ही दीपक है, चुप रहना ही चन्दन है और बनारसी साड़ी ही बिल्वपत्र है..."

"हे स्त्री देवी! संसार रूपी आकाश में तुम गुब्बारा हो, क्योंकि बात-बात में आकाश में चढ़ा देती हो, पर जब धक्का देती हो तब समुद्र में डूबना पड़ता है अथवा पर्वत के शिखरों पर हाड़ चूर्ण हो जाते हैं। जीवन के मार्ग में तुम रेलगाड़ी हो; जिस समय रसनारूपी एञ्जिन तेज करती हो एक घड़ी भर में चौदह भुवन दिखला देती हो, कार्यक्षेत्र में तुम इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ हो, बात पड़ने पर एक निमेष में उसे देश-देशान्तर में पहुँचा देती हो, तुम भव-सागर में जहाज़ हो, बस अधम को पार करो।

"तुम वायु हो क्योंकि जगत की प्राण हो; तुम्हें छोड़कर कितनी देर जी सकते हैं।"

"तुम अग्नि हो क्योंकि दिन-रात्रि हमारी हड्डी-हड्डी जलाया करती हो।"

उपर्युक्त उद्धरणों में स्त्री की पूजा में विविध उपकरणों एवं स्त्री के अनेक आरोपों का कैसा सुन्दर एवं हास्यास्पद वर्णन है।

इसी प्रकार इन्होंने अंग्रेज स्तोत्र में अंग्रेज़ों पर बड़ी सुन्दर फबतियाँ कसी हैं। कंकड़स्तोत्र में काशी-म्युनिसिपैलिटी की दुर्व्यवस्था पर व्यंग्य कसे हैं। सड़क पर कंकड़ों से बरसात में कीचड़ हो जाती है और उससे लोगों की क्या दशा होती है, इसका चित्रण है। इसके अतिरिक्त उत्सवों में कंकड़ सिर भी फोड़ते हैं, इसका तनिक चमत्कार देखिए—

'...साहिब कमिश्नर, साहिब मजिस्ट्रेट और साहिब सुपरइनटेण्डेण्ट के इसी नगर में रहते और साढ़े तीन-तीन हाथ के पुलिस इंसपेक्टरों और कांस्टिबलों के जीते भी गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पड़ कर रुधिर धारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हो अतएव हे अंग्रेज़ी राज्य में नबाबी स्थापक! तुम को नमस्कार है।'

'मदिरास्त्रव राज' में व्यंग्य खुलकर खेला है। एक स्थान में वे लिखते हैं—

"हे सर्वानन्द सारभूते! तुम्हारे बिना किसी बात में मज़ा नहीं मिलता। रामलीला तुम्हारे बिना निरी सुपनखा की नाक मालूम पड़ती है, नाच निरे फूटे काँच और नाटक निरे उच्चाटक बेवकूफी के फाटक दिखाई पड़ते हैं अतएव हे मज़े की पोटरी तुम्हें प्रणाम है।

हे मुखकज्जलावलेपके! होटल नाच जाति पांति घाट-बाट मेला तमाशा दरबार घोड़दौर इत्यादि स्थान में तुम्हें लेकर जाने से लोग देखो कैसी स्तुति करते हैं अतएव हे पूर्वपुरुषसंचित[illegible]प्र[illegible]-समूहसत्यानाशनि! तुम्हें बारबार प्रणाम ही करना योग्य है।"

इसी प्रकार 'स्वर्ग में विचार सभा' एवं 'जाति विवेकिनी सभा में' भी बड़े चित्ताकर्षक सामाजिक व्यंग्य हैं।

इनके जीवन-चरित्रों का संग्रह 'चरितावली' और 'पंच पवित्रात्मा' में है। इन निबन्धों में कोई जीवन के तथ्यों का या उसके वास्तविक स्वरूप का चित्रण नहीं है वरन् व्यक्तियों की महानता एवं असाधारणता को प्रगट करने के लिए घटनाओं के वैचित्र्यपूर्ण वर्णन हैं।

ऐतिहासिक निबन्धों में इन्होंने बड़ी गम्भीर एवं खोजपूर्ण विवेचना की है। 'काश्मीर कुसुम' में काश्मीर का इतिहास है। इसकी भूमिका इतिहासकारों के लिए बड़ी लाभप्रद है। इसी प्रकार 'बादशाह-दर्पण' की भूमिका मुस्लिम एवं अंग्रेजी शासन-प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। परन्तु इसमें अंग्रेजों

की अपेक्षा मुसलमानों की कटु आलोचना है, जिसका कारण यही था कि इस समय अंग्रेजी राज्य था और अंग्रेजों की आप पर विशेष कृपा थी। इन्होंने इस प्रकार के निबन्धों में ऐतिहासिकता को ही ग्रहण किया है। प्रायः राजघरानों के इतिहास और कुछ घटनाओं का वर्णन है।

इनके पुरातत्व-सम्बन्धी निबन्धों से ज्ञात होता है कि उन्हें शिलालेख आदि का भी पर्याप्त ज्ञान था। इन लेखों में भी ऐतिहासिकता को आधार बनाया गया है।

भारतेन्दु जी के सभी निबन्ध बहुत छोटे हैं। उनमें हमें सूक्ष्मता कम ही दृष्टिगोचर होती है। भावों का गम्भीर विश्लेषण नहीं है, केवल वस्तु-वर्णन की प्रधानता है अतः कह सकते हैं कि इतिवृत्तात्मक शैली को अपनाया गया है। विषम-दृष्टि से उनमें सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक एवं ऐतिहासिक आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ऐतिहासिक निबन्धों में राजवंशों का वर्णन बड़े अनुक्रम एवं ऐतिहासिकता लिए हुए है। इसी प्रकार व्यंग्यात्मक निबन्धों में भी हास्य, व्यंग्य एवं आक्षेप आदि की सहज एवं विचित्र उद्भावना मिलती है।

भाषा का परिमार्जन इन्होंने किया तो था परन्तु पूर्ण रूप से हो न सका क्योंकि इनके निबन्धों में भी भाषा-सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ एवं अशुद्धियाँ दिखलाई देती हैं। उदाहरणार्थ कुछ अशुद्ध शब्द एवं वाक्यांश नीचे दिए जाते हैं—

जगत की प्राण, जी सक्ते हैं, तुम हौ, इस्से, सुपनखा, घोड़दौर, सई (सही), आलस बढ़ गई, बरताव, रीत, निंदा किया, आज्ञा दिया, मेरा देह, मेरे जान यह नामकरण व्यर्थ है, लगैगा, लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, आदि।

कहीं-कहीं पर विराम-चिह्न ही दूर तक नहीं आते, यथा—

"पहले तैमूर के वंश वालों की मुलाकात हुई फिर श्री महाराज विजयानगरम् और उनके कुँअर की इसी भाँति सब लोगों का नाम बोलते गए और सलाम होती गई श्री महाराज विजयानगर भी बांई ओर खड़े हो गए थे जब सब लोगों की हाजिरी हो चुकी। श्रीयुत् लार्ड साहिब कोठी पधारे और सब लोग इस बंदीगृह से छूट छूटकर अपने-अपने घर आए।"

कहीं-कहीं पर अंग्रेजी, हिन्दी और उर्दू के शब्द एक ही वाक्य में साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं—

"इसके अनन्तर श्रीयुत वाइसराय समाज को एड्रेस करने के अभिप्राय

से खड़े हुए। श्रीयुत् वाइसराय के खड़े होते ही सामने के चबूतरे पर जितने बड़े-बड़े राजा लोग और गवरनर आदि अधिकारी थे खड़े हो गए पर श्रीयुत ने बड़े ही आदर के साथ दोनों हाथों से हिन्दुस्तानी रीति पर कई बार सलाम करके सबसे बैठ जाने का इशारा किया।"

किसी-किसी लेख में हम उर्दू-फारसी के शब्दों की इतनी भरमार देखते हैं कि अर्थ समझना कठिन हो जाता है, देखिए 'खुशी' की परिभाषा वे निम्न शब्दों में करते हैं—

'हरवदिल ख्वाह आसूदगी को खुशी कह सकते हैं याने जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तिफाकिय: बग़ैर कोशिश किये वर आवे तो हमको खुशी हासिल होती है खुशी ज़िन्दगी के फल को कहते हैं अगर खुशी नहीं है तो ज़िन्दगी हराम है क्योंकि जहाँ तक ख्याल किया जाता है मालूम होता है कि इस दुनिया में भी तमाम ज़िन्दगी का नतीजा खुशी है।"

इस प्रकार भारतेन्दु जी की भाषा को हम पूर्ण परिमार्जित भाषा नहीं कह सकते। परन्तु इस शैली का श्रेय उन्हीं को है क्योंकि सर्वप्रथम वे ही थे जिन्होंने भाषा-संस्कार का कार्य प्रारम्भ किया। इनकी निबन्ध की भाषा का सब से बड़ा गुण है प्रवाह। शब्द हिन्दी के हों या उर्दू के, वे यथास्थान जड़े हुए से हैं और भाषा की गति में तनिक भी बाधा एवं कुरूपता उपस्थित नहीं करते।

भारतेन्दु जी की नाटकीय-कला—

भारतेन्दु जी ने लगभग ८ मौलिक नाटक लिखे और ९ का अनुवाद किया। मौलिक एवं अनूदित नाटकों में दो-दो अपूर्ण हैं। इनके नाम पहले दिये जा चुके हैं। 'विद्यासुन्दर' और 'सत्य-हरिश्चन्द्र' भी पूर्णत: अनूदित नहीं वरन् क्रमश: बंगला के मूल नाटक एवं संस्कृत के 'चण्डकौशिक' के आधार पर लिखे गये हैं। 'पाखण्ड-विडंबन,' 'धनंजय-विजय,' 'कर्पूरमंजरी' और 'मुद्राराक्षस' संस्कृत से अनूदित हुये हैं तथा 'दुर्लभबन्धु' अंग्रेज़ी से।

इनसे पूर्व नाटक ब्रजभाषा में लिखे जाते थे। यहाँ तक कि इनके पिता ने नहुष नाटक भी ब्रजभाषा में लिखा था। इनसे पूर्व केवल राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद खड़ी बोली गद्य में किया था किन्तु पद्य ब्रज में ही थी। परन्तु इसका परिष्करण पच्चीस वर्ष तक होता रहा। सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने ही मौलिक नाटक खड़ी बोली में लिखे किन्तु पद्य भाग की भाषा ब्रज ही रखी।

इनके नाटक प्राचीन नाट्य-शास्त्र के आधार पर लिखे हुए हैं। अधिकांश नाटकों में सर्वप्रथम मंगलाचरण या नान्दी है पुनः सूत्रधार एवं नटी रंगमंच पर आकर सूक्ष्म वार्त्तालाप द्वारा अभिनेय नाटक की सूचना देते हैं। सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में ऐसा ही हुआ है। कुछ नाटकों में नटी के स्थान पर पारिपार्श्वक है जैसे 'धनंजय विजय व्यायोग,' 'प्रेमजोगिनी' एवं 'श्री चन्द्रावली नाटिका' में। कुछ नाटकों में मंगलाचरण तो है परन्तु सूत्रधार आदि का वार्त्तालाप नहीं और कुछ में न मंगलाचरण है और न सूत्रधार आदि का वार्त्तालाप यथा 'भारत दुर्दशा' नामक लास्यरूपक में मंगलाचरण ही है और 'नीलदेवी' नामक गीतिरूपक एवं 'अंधेरनगरी' नाम के प्रहसन में दोनों ही वस्तु नहीं हैं।

कुछ नाटकों में अंक हैं, कुछ में दृश्य हैं और कुछ में घटनाओं का उल्लेख मात्र है। 'हरिश्चन्द्र,' 'श्री चन्द्रावली,' 'मुद्राराक्षस,' 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' आदि नाटक अंकों में विभक्त है परन्तु उन में दृश्य नहीं। 'प्रेमजोगिनी' नाटिका में केवल एक ही अंक है परन्तु उसी अंक में चार गर्भांक हैं। 'नीलदेवी' में अंक नहीं है, केवल दृश्य हैं। इसी प्रकार 'सती प्रताप' में भी केवल दृश्य ही हैं। कहीं-कहीं नाटकों में विष्कम्भक एवं अंकावतार भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा 'चन्द्रावली नाटिका' में प्रस्तावना के पश्चात् विष्कम्भक एवं 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक के तृतीय अंक में अंकावतार दिया गया है। मध्य में कहीं-कहीं स्वगत एवं आकाशभाषित भी मिलते हैं। भारतेन्दु जी ने प्राचीन परम्परा के अनुसार 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'चन्द्रावली' एवं 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों के अन्त में भरतवाक्य को भी स्थान दिया है।

'नीलदेवी' इनकी वियोगान्त नाटिका है।

इन्होंने अपने सभी नाटकों का गद्य भाग खड़ी बोली और पद्य भाग ब्रजभाषा में निर्मित किया। गद्य की भाषा अधिक निखरी हुई नहीं है। शब्दों के उच्चारण, लिंग, वचन एवं वाक्य-विन्यास सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ एवं अशुद्धियाँ इनके नाटकों में मिलती हैं। ब्रज का रूप सुन्दर है। इन्होंने कविता को अधिक स्थान दिया है। कहीं-कहीं पर तो अंक का अंक कविता में ही है, यथा 'भारत दुर्दशा' का प्रथम अंक। इसका छठा अंक भी कविताबहुल है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' एवं 'सतीप्रताप' में भी प्रथम दृश्य कवितामय ही है। भाषा में सारल्य और सहज प्रवाह है। पद्य भाग अवश्य कहीं-कहीं कठिन हो गया है। कहीं-कहीं पर किसी विशेष भावना के वश में होकर इन्होंने अनिच्छित विषय को भी इष्ट की भाँति बलात् स्थान दे दिया है, जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में

गंगा-वर्णन। कविता में ब्रजभाषा के अतिरिक्त यत्र-तत्र संस्कृत का प्रयोग भी किया गया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र में कुछ वार्त्तालाप संस्कृत श्लोकों में है।

इनके नाटकों में रस का परिपाक अच्छा हुआ है और प्रसादगुण की प्रधानता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेरनगरी चौपट राजा' आदि प्रहसनों में बड़ा तीव्र व्यंग्य और प्रबल हास भरा हुआ है। उक्तियों में बड़ी विचित्रता किन्तु नैसर्गिकता दीख पड़ती है।

नाटक प्रायः सभी अभिनेय हैं, जिनमें से कई नाटक तो बड़ी सफलता से खेले जा चुके हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'भारत दुर्दशा' और 'अन्धेर नगरी' आदि तो अनेक बार अभिनीत हो चुके हैं। बाबू हरिश्चन्द्र स्वयं एक बड़े अभिनेता एवं नाट्य-शास्त्र के मर्मज्ञ थे अतः उनके नाटकों में नाटकीय कला का सुन्दर रूप हमें मिलता है। यद्यपि वह रूप प्राचीन परम्परा एवं शैली का ही परिणाम है तथापि उसमें कृत्रिमता नहीं है। यदि देखा जाय तो इन्होंने इतिवृत्तात्मक शैली को ही अपनाया है क्योंकि जितना वृत्त, घटना-चक्र एवं यथार्थ वर्णन को इन्होंने स्थान दिया है उतना भावों के विश्लेषण, जीवन के स्वरूप-निरूपण एवं अन्तःसौष्ठव को मूल्य नहीं दिया है।

मुद्राराक्षस—

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने संस्कृत के कवि विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस का हिन्दी-अनुवाद किया। नान्दी के अनन्तर नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे। जर्मन प्रो० हिलब्रैण्ड ने भारत में भ्रमण कर मुद्राराक्षस की अनेक प्रतियों को प्राप्त किया। उनमें से कुछ में कवि के पिता का नाम भास्करदत्त भी दिया हुआ है। प्रो० विल्सन ने इनके पिता पृथु को पिथौरा और पृथ्वीराज ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और वटेश्वर दत्त के विषय में उनका कहना है कि चंद ने भाषा में वटेश्वर को सोमेश्वर लिख दिया है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि पिता और पुत्र दोनों में नाम-साम्य नहीं और न विशाखदत्त नाम का पृथ्वीराज का कोई पुत्र कहीं लिखा है।

उपरिलिखित नामों के अतिरिक्त नाटककार ने अपने देश-काल के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। नाटक में भरत वाक्य के विवरण से इनका उत्तरी भारत का निवासी होना संकेतित होता है। मुद्राराक्षस की किसी-किसी हस्तलिखित प्रति के भरत वाक्य में अवन्तिवर्मन नाम आया है। इतिहास के अनुसार अवन्तिवर्मन दो हुए हैं—एक तो मौखरी राजा हुआ है जिसके पुत्र

गंगा-वर्णन। कविता में ब्रजभाषा के अतिरिक्त यत्र-तत्र संस्कृत का प्रयोग भी किया गया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र में कुछ वार्त्तालाप संस्कृत श्लोकों में है।

इनके नाटकों में रस का परिपाक अच्छा हुआ है और प्रसादगुण की प्रधानता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेरनगरी चौपट राजा' आदि प्रहसनों में बड़ा तीव्र व्यंग्य और प्रबल हास भरा हुआ है। उक्तियों में बड़ी विचित्रता किन्तु नैसर्गिकता दीख पड़ती है।

नाटक प्रायः सभी अभिनेय हैं, जिनमें से कई नाटक तो बड़ी सफलता से खेले जा चुके है। 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'भारत दुर्दशा' और 'अन्धेर नगरी' आदि तो अनेक बार अभिनीत हो चुके हैं। बाबू हरिश्चन्द्र स्वयं एक बड़े अभिनेता एवं नाट्य-शास्त्र के मर्मज्ञ थे अतः उनके नाटकों में नाटकीय कला का सुन्दर रूप हमें मिलता है। यद्यपि वह रूप प्राचीन परम्परा एवं शैली का ही परिणाम है तथापि उसमें कृत्रिमता नहीं है। यदि देखा जाय तो इन्होंने इतिवृत्तात्मक शैली को ही अपनाया है क्योंकि जितना वृत्त, घटना-चक्र एवं यथार्थ वर्णन को इन्होंने स्थान दिया है उतना भावों के विश्लेषण, जीवन के स्वरूप-निरूपण एवं अन्तःसौष्ठव को मूल्य नहीं दिया है।

मुद्राराक्षस—

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने संस्कृत के कवि विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस का हिन्दी-अनुवाद किया। नान्दी के अनन्तर नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे। जर्मन प्रो० हिलब्रैण्ड ने भारत में भ्रमण कर मुद्राराक्षस की अनेक प्रतियों को प्राप्त किया। उनमें से कुछ में कवि के पिता का नाम भास्करदत्त भी दिया हुआ है। प्रो० विल्सन ने इनके पिता पृथु को पिथौरा और पृथ्वीराज ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और वटेश्वर दत्त के विषय में उनका कहना है कि चंद ने भाषा में वटेश्वर को सोमेश्वर लिख दिया है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि पिता और पुत्र दोनों में नाम-साम्य नहीं और न विशाखदत्त नाम का पृथ्वीराज का कोई पुत्र कहीं लिखा है।

उपरिलिखित नामों के अतिरिक्त नाटककार ने अपने देश-काल के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। नाटक में भरत वाक्य के विवरण से इनका उत्तरी भारत का निवासी होना संकेतित होता है। मुद्राराक्षस की किसी-किसी हस्तलिखित प्रति के भरत वाक्य में अवन्तिवर्मन नाम आया है। इतिहास के अनुसार अवन्तिवर्मन दो हुए हैं—एक तो मौखरी राजा हुआ है जिसके पुत्र

ने हर्ष की पुत्री से विवाह किया था और दूसरा काश्मीर का राजा जिसका राजत्व काल सन् ८५५ से ८८३ ई० तक है। प्रो० जैकोबी ने लिखा है कि मुद्राराक्षस में जिस ग्रहण का वर्णन है वह ता० २ दिसम्बर सन् ८६० का ही ग्रहण है। इसी दिन राजमंत्री शूर ने इस नाटक का अभिनय कराया था। म० म० हरप्रसाद-शास्त्री लिखते हैं कि इन्होंने गौड़ी रीति का प्रयोग किया है अतः वे गौड़ देश के थे।

उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से यही फल निकलता है कि विशाखदत्त महाराज पृथु के पुत्र और सामंत बटेश्वरदत्त के पौत्र थे। ये पृथु पृथ्वीराज और बटेश्वर सोमेश्वर नहीं थे वरन् कोई अन्य थे। नाटक में मंगलाचरण से प्रतीत होता है कि वे शिव-भक्त थे। नाटक की कथावस्तु एवं शैली और उद्देश्य से प्रतीत होता है कि वे इतिहास-विज्ञ, राजनीतिमर्मज्ञ, वीररसप्रिय एवं बहुश्रुत थे।

नाटक के निर्माण काल के विषय में सर्वप्रथम प्रो० विलसन ने खोज की और सिद्ध किया कि इसमें म्लेच्छ शब्द आया है, जिसका अर्थ मुसलमान है अतः यह ग्रन्थ महमूद गजनवी या मुहम्मद गौरी के समय में बना होगा अतः इसका रचनाकाल ११ वीं या १२ वीं शताब्दी हो सकता है। उन्होंने जैन क्षपणक जीवसिद्धि नामक पात्र को भी नवीन काल की उद्भावना माना। परन्तु पं० काशीनाथ तैलंग ने इसका खण्डन करते हुए इसका रचना काल दशवीं शताब्दी लिखा। उनका कहना है कि दशरूपक में मुद्राराक्षस का उल्लेख तीन बार हुआ है। दशरूपक के रचयिता धनञ्जय परमार राजा मुंज के समकालीन थे और मुंज का निधन काल सन् ९९५ के आसपास है अतः यह नाटक अवश्य ही सन् ९९५ से पूर्व बना होगा। इसके अतिरिक्त मुद्राराक्षस के सातवें अंक के तृतीय श्लोक का भावार्थ शार्गधर में उद्धृत है और उसे मुक्तापीड़ कृत बतलाया है। मुक्तापीड़ काश्मीर के राजा ललितादित्य का ही दूसरा नाम था और उनका काल सन् ७२६ से ७५३ ई० है अतः इसका रचना काल भी यही है। नाटक की हस्तलिखित प्रति में अवन्तिवर्मन का नाम आने से जैकोबी आदि विद्वानों ने विशाखदत्त का समय ९ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है अतः इस नाटक का रचनाकाल भी वे यही मानते हैं।

उपर्युक्त समीक्षण से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण ईसा की आठवीं या नवीं शताब्दी में हुआ। नाटक में जो पाटलिपुत्र का वर्णन है, उससे भी नाटक की अतिप्राचीनता ज्ञात नहीं होती।

कहा जा चुका है कि मूल नाटक संस्कृत में है जिसमें राजनीति के दाव-पेचों का चित्रण है। इसमें शृंगार एवं करुण रस का तो नितान्त अभाव है।

अन्तिम अंक में चन्दनदास की स्त्री अवश्य रंगमंच पर आकर कुछ करुण दृश्य उपस्थित करती है परन्तु वहाँ भी करुण रस अपने वास्तविक रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके वचनों से कर्त्तव्यपरायणता ही झलकती है अतः शोक का पूर्ण उद्भाव नहीं होता। इसके अतिरिक्त स्त्री-पात्रों का भी अभाव सा ही है। अतः इस नाटक में माधुर्य गुण कम ही है। वीर-रस-प्रधान नाटक होने से इसमें ओज गुण अपने सुन्दर रूप में मिलता है। कहीं-कहीं हास्य का पुट भी है।

यह नाटक सात अंकों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा इतिहास से ली गई है। इतिहास-प्रसिद्ध मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त इसके धीरोदात्त नायक हैं। नाटक का उद्देश्य नन्दवंश का सर्वनाश कर महाराज चन्द्रगुप्त को शासक बनाना एवं उनकी राज्यश्री को स्थिर करने के लिए नन्द के स्वामिभक्त मंत्री राक्षस को उनसे मिलाना है। यही आधिकारिक कथावस्तु का मूल स्रोत है। उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रथम अंक में राक्षस की मुद्रा की अँगूठी का प्राप्त करना, शंकरदास से झूठा पत्र लिखवाकर उसे चाणक्य के घर सिद्धार्थक को सौंपना, जीवसिद्धि को देश निकाला देना और चन्दनदास का बन्दी होना वर्णित हैं। द्वितीय अंक में शंकरदास का सिद्धार्थक के साथ भागना, सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में रहना, मलयकेतु के आभूषणों को सिद्धार्थक द्वारा लेना और मुद्रा को लौटा देना तथा पर्वतक के गहनों को राक्षस के हाथ बेचना वर्णित है। तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य का पारस्परिक कृत्रिम कलह है। यह सब उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यत्न हुआ है। चतुर्थ अंक में मलयकेतु का राक्षस पर शंका करना और चाणक्य के गुप्तचर भागुरायण पर विश्वास करना तथा पंचम अंक में मलयकेतु का राक्षस से विग्रह एवं पुनः बन्दी होना उद्देश्य की प्राप्त्याशा को उत्तेजित करता है। षष्ठम अंक में चन्दनदास की रक्षा के लिये चाणक्य के चर द्वारा बाध्य किये जाने पर राक्षस का चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर बध्य-स्थान को जाना नियताप्ति है और सप्तम अंक में राक्षस का मंत्रीपद ग्रहण करना फलागम है।

अर्थप्रकृति की दृष्टि से राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाना इस नाटक का बीज है। राक्षस से मुद्रा को प्राप्त कर उसके प्रयोग द्वारा मलयकेतु को धोखा देना बिन्दु है। विराधगुप्त का राक्षस को यह बतलाना कि उसके प्रयत्न निष्फल हुए, इसमें पताका है। राक्षस को चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मिथ्या कलह का समाचार देना प्रकरी है और राक्षस का मंत्रीपद ग्रहण करना कार्य है।

नाटक का सम्पूर्ण कथानक एक वर्ष के अन्दर का है। नाटक का आरम्भ जीवसिद्धि के विषकन्या के प्रयोग द्वारा मलयकेतु के पिता पर्वतक के

मारने के अपराध में निर्वासित किये जाने से होता है। चतुर्थ अंक में मलयकेतु भागुरायण और कंचुकी के समक्ष दीर्घ श्वास लेकर कहता है कि आज पिता की मृत्यु हुए दस मास हुए। मलयकेतु पिता की मृत्यु के पश्चात् हा राक्षस से जा मिला था और उसका उपर्युक्त कथन उसी के यहाँ का है। इसके पश्चात तीन अंकों की कथा का समय दो मास से अधिक का नहीं अतः सम्पूर्ण कथानक केवल एक वर्ष का ही है।

प्रस्तुत अनूदित नाटक में कवितांश ब्रज में है और शेष खड़ी बोली में। ब्रज खड़ी बोली की अपेक्षा अधिक खरे रूप में है। क्योंकि गद्य भाग में अनेक अशुद्धियाँ एवं त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, यथा—कृपा किया, बोलैगा, ऐसा शंका "वैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण जो शुक्रनीति और चौसठों कला से ज्योतिष शास्त्र में बड़ा प्रवीण है, उसे मैंने पहले ही योगी बनाकर·········।" आदि। पद्य भाग का अनुवाद अच्छा हुआ है, उदाहरणार्थ कुछ श्लोक अनुवाद सहित नीचे दिए जाते हैं—

मूल श्लोक—

धन्या केय स्थिता ते शिरसि शशिकला, किन्नु नामैतदस्याः
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥

अनुवाद—

कौन है शीश पै 'चन्द्रकला' कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी।
हाँ यही नाम है, भूल गई किमि जानतहू तुम प्रान-पियारी।
नारिहिं पूछत चंद्रहि, नाहि, कहै विजया जदि चंद्र लबारी।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥

श्लोक—

प्राकारान् परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्षिप्यताम्।
द्वारेषु द्विरदैः परद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
मुक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्त्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले।
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः॥

अनुवाद—

चढ़ौ लै सरैं धाइ घेरौ अटा कों।
धरौ द्वार पै कुंजरैं ज्यों घटा कों।

कहौ जोधनै मृत्यु को जीति धावैं।
चलैं संग में छाँड़ि कै कीर्ति पावैं॥

इन उद्धरणों में अनुवाद पर्याप्त निखरा हुआ है और शब्द-भावानुकूल हैं। द्वितीय में तो अनुवाद और भी सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर होता है। छन्द छोटा होते हुए भी शब्दों की योजना में भाव ज्यों का त्यों संरक्षित है।

भारतेन्दु जी का स्थान—

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आधुनिक काल के साहित्यकारों में सर्वप्रथम हुए हैं। वर्तमान काल के चार भागों में प्रथम भाग आपके ही नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने चौंतीस वर्ष के लघु जीवन में लगभग सोलह वर्ष ही साहित्य का सृजन किया। परन्तु वह इतना और बहुरंगी है कि साधारण बुद्धि का व्यक्ति तो उसका चतुर्थांश भी निर्मित न कर सकता। आप सफल प्रतिभाशाली कवि, नाटककार एवं निबन्धकार थे। साथ ही प्रसिद्ध वक्ता, निडर आलोचक एवं आकर्षक अभिनेता थे। स्वयं तो साहित्य-मन्दिर के पुजारी थे ही, साथ ही प्रतापनारायण मिश्र एवं वदरीनारायण चौधरी आदि अनेक महानुभावों को भी सरस्वती का प्रगाढ़ आराधक बनाया। यद्यपि इनके समय में रीति-परम्परा के अनुसार कविता की भाषा व्रज ही रही परन्तु गद्य में खड़ी बोली का व्यवहार होने लगा। इनकी खड़ी बोली यद्यपि इतनी परिमार्जित एवं प्रवाह-पूर्ण नहीं है तथापि उसकी स्थापना करने वालों में सर्वप्रथम और श्रेष्ठ होने के कारण आप का स्थान और महत्व वही है जो किसी भवन की नींव रखने वाले का होता है और आपकी कृतियों का भी वही मूल्य है जो नींव का होता है। आप संस्कृत, हिंदी, (खड़ी, व्रज, पूर्वी), फ़ारसी, उर्दू, अंग्रेज़ी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी और मराठी आदि अनेक भाषाओं के पण्डित थे। इस प्रकार आप बहुभाषाविद्, बहुमुखी साहित्यस्रष्टा, ओजस्वी वक्ता, मनोहर अभिनेता, हिन्दी के परम भक्त और साहित्य के अन्धकारावृत्त उपवन में मार्ग-प्रदर्शक आदि सभी कुछ थे। आपके भावों में एक सहज भाव, भाषा में सुगति और शैली में प्रौढ़ता है। अतः तत्कालीन साहित्यकारों में तो आपका स्थान अद्वितीय है और मार्ग-प्रदर्शक होने के नाते आपका स्थान साहित्य में ही नहीं सभी के हृदयों में सदैव के लिये बन गया है।

जगन्नाथ दास रत्नाकर

ब्रजभाषा के महाकवि जगन्नाथ दास रत्नाकर का जन्म सं० १६२३ में ऋषि-पंचमी के दिन काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तम दास था। इनके पूर्वज पानीपत के जिलान्तर्गत सफीदों ग्राम के निवासी थे, जहाँ से वे मुग़ल-सम्राट् अकबर के सिंहासनारूढ़ होने पर दिल्ली चले गये थे। बहुत काल तक वे मुग़ल-दरबार में प्रतिष्ठा पाते रहे किन्तु औरंगज़ेब के पश्चात् जब मुग़ल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तो इनके तत्कालीन पूर्वज जहाँदार शाह के साथ काशी चले आये। यहाँ वे दिल्ली वाले वैश्य कहलाते थे।

इनके पिता फ़ारसी के अच्छे विद्वान् थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र उनके मित्रों में से थे और ये प्रायः उनके गृह पर आते-जाते थे, जहाँ कवि-गोष्ठियाँ होती रहती थीं। बाबू पुरुषोत्तम दास को भी हिन्दी से रुचि होने लगी। उनके साथ उनके सुपुत्र रत्नाकर भी उन गोष्ठियों में जाते और कविताएँ सुनते थे। इसका उन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वास्तव में इसी समय के जमे हुए अंकुर ने ही उनके हृदय में ऐसे विशाल वृक्ष का रूप धारण किया, जिसने पुष्पित होकर चतुर्दिक अपनी सुरभि को प्रसारित किया।

इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में ही हुई। सं० १६४८ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। इन्होंने अध्ययन-काल में फारसी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। सं० १६५७ में ये अवागढ़ रियासत में एक उच्च पदाधिकारी नियुक्त हुए परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण इन्हें दो वर्ष पश्चात् ही वह स्थान छोड़ना पड़ा। तदनन्तर अयोध्या के महाराज प्रतापनारायण सिंह ने इन्हें अपना मंत्री नियुक्त किया। इन्होंने इतनी निपुणता से कार्य किया कि शीघ्र ही प्रधान मंत्री बना दिये गये। महाराज के निधनोपरांत महारानी ने भी उसी प्रकार इन्हें सम्मानित किया।

ये अंग्रेजी, फारसी, हिंदी और उर्दू के उद्भट विद्वान् थे। इन्हें संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था क्योंकि इनके ग्रंथों पर संस्कृत के ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव

है। नौकरी करते हुए इन्होंने साहित्य की भी बड़ी सेवा की। भारतेन्दु जी की कवि-मंडली में सरदार, सेवक, हनुमान एवं नारायण आदि बड़े कलाविद् कवि थे। रत्नाकर जी ने उनके सम्पर्क से अपनी प्रतिभा को और भी प्रखर किया। इन्होंने बी० ए० पास करने से पूर्व ही सं० १९४६ से ब्रजभाषा में कविता करना प्रारम्भ कर दिया था और शीघ्र ही इतनी सुन्दर कविता करने लगे थे कि बड़े-बड़े कवि उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। वास्तव में ब्रज-भाषा के कवियों में जगन्नाथ दास रत्नाकर अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। लगभग पैंसठ वर्ष की आयु तक दिग-दिगन्तों को सुरभित कर सं० १९८९ में आषाढ़ कृष्णा ३ को हरिद्वार में यह महान् विभूति असार संसार से उठ गई।

रचनाएँ—

इन्होंने अनेक रचनाएँ कीं, जिनमें ये प्रमुख हैं—

(१) हिंडोला

(२) हरिश्चन्द्र

(३) समालोचनादर्श

(पोप कविकृत 'ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद)

(४) घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर

(५) कलकाशी

(६) अष्टक रत्नाकर

(७) गंगावतरण

८) उद्धव शतक

इन्होंने बिहारी सतसई की टीका भी की जो परिमार्जित खड़ी बोली में है। बिहारी सतसई पर लगभग ६० टीकाएँ मिलती हैं परन्तु वे इनकी बिहारी-रत्नाकर नामक टीका के पासंग में भी नहीं उतरतीं।

रत्नाकर जी के काव्यों में 'गंगावतरण' एवं 'उद्धव शतक' ही श्रेष्ठतम काव्य ग्रंथ है। यों तो भाषा, भाव एवं कला की दृष्टि से इनके सभी काव्य श्रेष्ठ हैं परन्तु इन दो काव्य एवं उपर्युक्त टीका ने ही इन्हें अमरता प्रदान की है अतः हम इन रचनाओं पर ही सूक्ष्मतः विचार करेंगे।

गंगावतरण—रत्नाकर जी ने गंगावतरण की रचना भक्ति-भाव से की। हिंदी में केवल पद्माकर ने 'गंगा-लहरी' लिखी थी। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र गंगा की स्तुति तो मिलती है, यथा तुलसीदास ने रामचरितमानस एवं विनयपत्रिका में तथा हरिश्चन्द्र ने हरिश्चन्द्र नाटक में गंगा की स्तुति की है

परन्तु स्वतंत्र रूप से ग्रंथ किसी ने नहीं लिखा था। इस अभाव की पूर्ति रत्नाकर जी ने की।

गंगा का माहात्म्य वैदिक काल से चला आ रहा है परन्तु वैदिक काल में इतनी प्रतिष्ठा नहीं हुई जितनी पौराणिक काल में। शिव, शक्ति एवं विष्णु की उपासनार्थ पुराणों में पर्याप्त लिखा गया। कुछ पुराण तो केवल इनमें से एक की ही उपासना के लिए लिखे गये। 'ब्रह्म वैवर्त्त पुराण' एवं 'विष्णु पुराण' में विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए उनकी आराधना एवं पूजा पर पर्याप्त बल दिया गया। 'भागवत पुराण' में भी उन्हीं की महिमा गाई गई है। 'शिव पुराण' में शिव का माहात्म्य स्थापित किया गया है तथा 'देवी भागवत' में शक्ति की शक्ति को ही सर्वोपरि माना है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पुराणों में इन शक्तियों की सर्वोपरिता एवं श्रेष्ठता सिद्ध की गई है परन्तु गंगा का माहात्म्य अन्य पुराणों की भाँति इन पुराणों ने भी समान रूप से माना है। प्रारम्भिक पुराणों में गंगा को मर्त्यलोकवाहिनी माना है। 'ब्रह्म वैवर्त्त पुराण' ने इसे इहलोक प्रवाहिनी तो माना परन्तु इसे गोलोक की वस्तु बना दिया। इसी प्रकार आगे-आगे पुराणों में इसका माहात्म्य बढ़ता ही चला गया। यहाँ तक कि यह स्वर्ग से चलकर मर्त्यलोक में आकर पाताल में भी पहुँची। भगवान् विष्णु के चरण-नख से ये उत्पन्न हुई, पुनः ब्रह्मा जी के कमण्डलु में घुमेड़ लेती रहीं और तदनन्तर शिव जी के जटापाश में आबद्ध हो रमण करती रहीं। यह सब भक्तों की वाणी के विलास का परिणाम था। आदि कवि वाल्मीकि ने तो रामायण के ३५वें सर्ग में गंगा की उत्पत्ति हिमवान् और मैना से मानी है। उन्होंने लिखा है—

शैलेन्द्रो हिमवान्नाम धातूनामाकरो महान्।
तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि॥
या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया॥
तस्यां गंगेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गंगा हिमालय से उद्भूत एक नदी थी। रामायण में लिखा है कि देवताओं ने देवहितार्थ एवं तीनों लोकों के कल्याण के लिये हिमवान् से गंगा को स्वर्ग में ले जाने की प्रार्थना की। हिमवान् ने उन्हें सहर्ष अपनी पुत्री समर्पित कर दी और वे गंगा को लेकर स्वर्ग चले गये—

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया ।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गंगां त्रिपथगां नदीम् ॥
ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम् ।
स्वच्छन्दपथगां गंगां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥
प्रतिगृह्य त्रिलोकार्थं त्रिलोकहितकांक्षिणः ।
गंगामादाय तेऽगच्छन्कृतार्थेनान्तरात्मना ॥

इन श्लोकों में स्पष्ट ही गंगा को नदी लिखा है परन्तु साथ ही हिमवान् की पुत्री के रूप में वर्णित किया है । उसे इतना पवित्र भी बतलाया गया है कि देवता भी उसे स्वहितार्थ एवं त्रैलोक्य-कल्याणार्थ देवलोक में चाहते थे और इसीलिये वे ले गये । आगे-आगे इसका माहात्म्य पुराणों में और भी बढ़ता गया । कहने का तात्पर्य यह है कि गंगा ने देवी का रूप धारण कर लिया, यहाँ तक कि शैवों ने शिवप्रिया मानी और वैष्णवों ने अखिल-पापविनाशिनी कहा ।

रत्नाकर जी ने भी गंगा का माहात्म्य वर्णित करने के लिये ही इस ग्रन्थ को लिखा । इसमें १३ सर्ग हैं, जिनमें से १२ सर्गों का आधार वाल्मीकि-रामायण है । केवल चतुर्थ सर्ग ऐसा है कि जिसका आधार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण एवं देवी-भागवत पुराण हैं क्योंकि उन्हीं के अनुसार इसमें गंगा की उत्पत्ति गोलोक में विष्णु से मानी गई है । ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में 'श्रीकृष्णाङ्गसम्भूताम्' और देवी-भागवत में 'कृष्णविग्रहसम्भूतां' कहकर कृष्ण से उसकी उत्पत्ति मानी गई है ।

शेष बारह सर्गों का आधार रामायण के ३९ से ४४वें सर्ग तक छः सर्ग हैं । रामायण में कथा सूक्ष्मतः लिखी हुई है परन्तु गंगावतरण में उसे बड़ा विस्तृत कर किया गया है । इसके नवें सर्ग से त्रयोदश सर्गों तक की कथा का आधार केवल निम्न-लिखित एक श्लोक है—

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ।
सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ॥

इसी को इतना विस्तृत किया गया कि कथा में बन्ध न रहा, गुम्फन न हो सका वरन् शैथिल्यपूर्ण एक विश्रृंखलता सी आगई । किन्तु प्रायः ये ही सर्ग इनके मौलिक हैं, शेष में तो अनेक रामायण के श्लोकों का ज्यों का त्यों अनुवाद अनेक स्थलों पर मिलता है । उदाहरणार्थ कुछ श्लोक एवं गंगावतरण के पद्यांश नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

रामायण—

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुंबं व्यजायत ।
षष्टि-पुत्रसहस्राणि तुंबभेदाद्विनिःसृता ॥

गंगावतरण—

सुमति सलोनी जनी एक तूँबी अति अद्भुत ।
निकसे जासौं साठ सहस लघु बीज सरिस सुत ॥

रामायण—

घृतपूर्णेषु कुंभेषु धात्र्यस्तान्समवर्धयन ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥

गंगावतरण—

दीरघ घृतघट घालि पालि ते धाइ बढ़ाए ।
समय-संग सब अंग रूप जोवन अधिकाए ॥

रामायण—

भगवन्पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो बध्यंते जलचारिणः ॥

गंगावतरण—

सगर-सुवन सुख-दुवन भुवन खोदे सब डारत ।
जलचारी बहु सिद्ध संत मारे अरु मारत ॥

रामायण—

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसंति सगरात्मजाः ॥

गंगावतरण—

इहै कियौ मख-भंग इहै हरि लियौ तुरंगम ।
यौं कहि हिंसत सबहि लहैं जासौं जहँ संगम ॥

इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। हाँ, भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा का यह एक अनूठा रत्न है। भाषा में प्रसंगानुकूल जितनी प्रखरता एवं प्रवाह इसमें दीख पड़ते हैं, अन्यत्र दुर्लभ हैं। गंगा जहाँ स्वर्ग से उतर रही है, वहाँ ओजपूर्ण शब्दों से साक्षात् गंगा गिरती सी ही प्रतीत होती है। उतरती हुई उत्साहपूर्ण गंगा के वचनों में तनिक ओज तो देखिए—

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं ।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं ।

लै सवेग विक्रम पताल पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्मलोक कौं बहुरि पलटि कंदुक इव आऊँ ।।

उमँगती हुई गंगा ने ज्यों ही शिव का सुन्दर रूप देखा तो उसका उत्साह काफ़ूर हो गया और रति भाव जाग्रत हो गया। वीर के शमनोपरान्त शृंगार की व्यंजना का कैसा सुन्दर उदाहरण निम्न पद्य में मिलता है—

भई थकित छवि छकित हेरि हर-रूप मनोहर।
ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर ।।
भयौ कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष-रुखाई ।।

आकाश के वक्षस्थल को चीर कर उतरती हुई गंगा से विश्व थर्रा गया। भय का ऐसा संचार हुआ कि सूर्य के घोड़े चमक गए, शिव और विष्णु के वाहन भी अवश हो गए, दिग्गज चिंघाड़ने लगे तथा पहाड़ों की छातियाँ धड़कने लगीं :—

भरके भानु तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके बाहन रुकत नेंकु नहि विधि हरि हर के।
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय थरके।
धुनि प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके ।।

शृंगार, वीर और भयानक के अतिरिक्त करुण का चित्रण भी उस स्थल पर बड़ा मार्मिक हुआ है जहाँ राजा सगर ने अपने मृत पुत्रों का समाचार सुना है। रानियाँ तो पछाड़ खाकर मछली की भाँति तड़फने लगीं :—

लागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी।
मानहु माजा मज्जि तलफि सफरी अकुलानी ।।

इस प्रकार विविध रसों की सुन्दर व्यंजना इस ग्रन्थ में हुई है। यद्यपि यह ग्रन्थ गंगा की श्रद्धा से उसके माहात्म्य के प्रतिपादनार्थ ही लिखा गया है तथापि इसमें कहीं कुछ अश्लीलता भी दृष्टिगोचर होती है जो उचित नहीं, यथा सुर-सुन्दरियों का वर्णन करते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं—

उचकावति कुच पीन खीन लंकहि लचकावति।
अधर दवाइ हलाइ ग्रीव अंगनि मचकावति।
सस्मित भृकुटि-विलास करति करि त्रिकुटि तनेनी।
गावति मंगल चली संग सुर-सुन्दरि-स्रेनी ।।

इस ग्रन्थ में यों तो अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है परन्तु अनुप्रास की छटा और उत्प्रेक्षा का विधान बड़े सुन्दर रूप में दीख पड़ते हैं। उत्प्रेक्षाएँ

तो एक से एक मनोहारी हैं। कुछ उत्प्रेक्षाओं पर दृष्टि डालिए—

लागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी।
मानहु माजा मज्जि तलफि सफरी अकुलानी।।

× × ×

तैरत बूड़त तिरत चलत चुभकी लै जल मैं।
चमकति चपला मनहुँ सरद घन विमल पटल मैं।।

गंगा में तैरती हुई रमणी कभी डूबती है, कभी तैरने लगती है और कभी चुभकी लेकर आगे बढ़ जाती है। वह ऐसी प्रतीत होती है मानो श्वेत शारदी मेघमाला में विद्युत् चमक रही हो।

एक स्थान पर गंगा में उछलते हुए जलखण्डों के परस्पर गुथ जाने और पुनः वेग से आगे बढ़ जाने के लिए कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि मानो कागदी कपोतों के गोत उड़ते हुए परस्पर गुथते और उलझते हुए आगे बढ़ रहे हैं—

जल सौं जल टकराइ कहूँ उच्छलत उमंगत।
पुनि नीचैं गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत।
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए।।

वास्तव में यह खण्डकाव्य ब्रजभाषा साहित्य-कोष का एक सुन्दर रत्न है, जिसमें कथा की विस्तृति, भाषा की प्राञ्जलता, भाव की उदात्तता एवं शैली की प्रवहमान प्रखरता अपने स्फुट एवं विकसित रूप में दीख पड़ती है।

उद्धव शतक—उद्धव शतक रत्नाकर जी की बड़ी प्रौढ़ रचना है। इसमें सगुण भक्ति का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का प्रचलन प्रायः इसी क्रम से हुआ है। आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में असभ्य लोग रहते थे। उनमें सभ्यता का विकास नहीं हुआ था और आत्म-कर्त्तव्य एवं धर्म के सिद्धान्तों से वे परिचित न थे, यहाँ तक कि उनमें जीवन के नैतिक आधार को समझने की भी बुद्धि न थी। वे पाशविक जीवन व्यतीत करते थे। आर्य लोग जब भारतवर्ष में आये तो उन्होंने इनसे संघर्ष किया और अपनी सत्ता स्थापित की। शनैः-शनैः उन्होंने प्रकृति के अनेक शक्तिमान् पदार्थ एवं सबल शक्तियों की क्रियाओं से प्रभावित हो उनकी स्तुतियाँ प्रारम्भ कीं। वेदों में विविध देवों की स्तुतियाँ इसी मनोवृत्ति का परिणाम है। वास्तव में यहीं से कर्मकाण्ड की नींव पड़ी। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञादि के जो नाना विधान दिखलाई पड़ते हैं वे इसी आधार पर निर्मित हुए थे, जिन्होंने आगे चल कर बड़ा भीषण रूप धारण किया। इसी कर्मकाण्ड से ऊब कर एवं इसकी निष्फलता

समझ कर परम तपस्वियों ने अरण्यों में जाकर ब्रह्म के निराकार स्वरूप का चिन्तन किया और उसे ज्ञानगम्य एवं ध्यानध्येय बताया। यह ज्ञान नीरस सिद्ध हुआ और अधिक काल तक बल न पा सका परन्तु कर्म और ज्ञान दोनों ही प्रतिष्ठा पाते रहे। अन्त में पौराणिक काल में देवों की पृथक् प्रतिष्ठा हुई और कर्म के साथ-साथ अर्चा और चर्चा ने पग बढ़ाया और यही भाव भक्ति के रूप में परिणत हो गया। भक्ति ने आराधना के स्थान पर उपासना को महत्व दिया। भागवत पुराण में भक्ति का ही मह्हात्म्य प्रदर्शित किया गया है। दर्शन-शास्त्रियों ने भी कर्म और ज्ञान को बड़ा गौरव दिया। जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड के और व्यास ने उत्तर मीमांसा में ज्ञान के महत्व को स्वीकार किया। परन्तु उत्तर मीमांसा में ज्ञान की प्रधानता होते हुए भी कर्म का खण्डन नहीं था। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय हो गया किन्तु तदनन्तर भी ये तीनों किसी न किसी रूप में अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा के लिये प्रकाश में आते ही रहे। आठवीं शताब्दी में एक ओर कुमारिल भट्ट ने कर्मकाण्ड का प्रसार किया, दूसरी ओर स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रचार किया। इस अद्वैत ने उत्तरी भारत में भागवत धर्म को लुप्तप्राय सा कर दिया। पुनः १२ वीं एवं १३ वीं शताब्दी में इसकी प्रतिक्रिया रूप विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत एवं शुद्धाद्वैत की प्रतिस्थापना हुई। ये चारों ही भागवत धर्म थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और भक्ति में अपनी-अपनी स्थापना के लिए पर्याप्त संघर्ष रहा है। गोपी-उद्धव-संवाद का मूलाधार भी यही है। सर्वप्रथम यह प्रकरण हमें भागवत में मिलता है, जिसमें कृष्ण का आदेश पाकर उनके परम सखा उद्धव गोपियों को ज्ञानोपदेश देने जाते हैं और साथ ही संदेश भी लाते हैं। भागवत में भ्रमर के आजाने से उद्धव को मधुकर रूप में उपालम्भ दिये गये हैं। यह परिपाटी हमें सूरदास आदि की रचनाओं में भी मिलती है। सूरदास और नन्ददास आदि ने तो पृथक् भ्रमर गीत ही रच डाले। भागवत में हम राधा का नाम भी नहीं देखते जब कि सूरदास आदि ने राधा को पर्याप्त रूप में इस प्रकरण में चित्रित किया है। सूरदास और नन्ददास आदि के अतिरिक्त प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियों ने राधा, गोपी एवं उद्धव के सम्भाषण को किसी न किसी रूप में लिखा ही है। रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास भी इस लोभ को संवृत न कर सके और उन्होंने कृष्ण गीतावली में भ्रमरगीत सम्मिलित कर दिया।

भक्तों के अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों ने भी इस प्रसंग को न्यूनाधिक रूप में यत्र-तत्र वर्णित किया ही है। रहीम, मतिराम, देव, घनानन्द एवं

पद्माकर आदि कवि किसी न किसी रूप में इसे लिख ही गये हैं।

आधुनिक काल में भी सत्यनारायण कविरत्न, हरिऔध एवं रत्नाकर जी आदि कवियों ने इस प्रसंग को काव्य का विषय बनाया है। यदि उपर्युक्त सभी रचनाओं पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि सूरदास का भ्रमर-गीत अपनी समता नहीं रखता। निराकार के खण्डन एवं कृष्णाराधन के मण्डन में सैकड़ों ही मधुर, व्यंग्यपूर्ण, उपालम्भसमन्वित एवं तर्कपूर्ण उक्तियों को देख कर चमत्कृत एवं साथ ही आह्लादित हुए बिना नहीं रहा जाता। भागवत की गोपियाँ भक्त नहीं थीं अतः उनमें प्रखरता नहीं। वे उद्धव की ज्ञानगरिमा के समक्ष नतमस्तक हो जाती हैं। वे उपालम्भ देने के साथ-साथ ईर्ष्या भी प्रदर्शित करती हैं। सूर की गोपियों में आत्मसमर्पण की भावना है। वे कृष्ण से इतना प्रेम करती हैं कि प्रत्युत्तर एवं प्रतिदान नहीं चाहतीं। कुब्जा उन्हें अपना बना सकती है, अच्छा है परन्तु उनका प्रिय उन्हें क्यों भूले, वह उनका भी तो है। इस अनन्य प्रेमातिरेक से वे ईर्ष्या को अपने पास तक भी नहीं फटकने देतीं। परन्तु भागवत की गोपियों की अपेक्षा सूर की गोपियाँ मुखर हैं। उद्धव का ज्ञान बोलता है तो गोपियों का प्रेम। ज्ञान शुष्क है, प्रेम सरस, भला नीरस सरस की क्या समानता करे। अन्त में भीषण वाग्युद्ध के अनन्तर उद्धव की ज्ञान-गरिमा जाती रही, गला रुँध आया और अपना सा मुँह लेकर अपने सखा के अञ्चल में जाकर मुँह छिपाया। भागवत में उद्धव को इसलिए भेजा गया है कि वे अपने महान् ज्ञान द्वारा गोपियों को समझावें परन्तु सूर के भ्रमर गीत में ज्ञानमानी उद्धव को भक्ति के माहात्म्य की शिक्षा लेने के लिये भेजा गया है। तुलसी की गोपियाँ सलज्ज अधिक हैं। भागवत की गोपियाँ अबोध हैं, सूर की बाचाल और तुलसी की सरल। उन्हें कष्ट तो महान् है पर संकोचवश कह नहीं सकतीं। तुलसी ने उद्धव के भेजने का कारण नहीं लिखा। नन्ददास ने भी नहीं लिखा कि उद्धव क्यों गये थे परन्तु उनके उद्धव हैं बेढब, खुद शास्त्रार्थ करते हैं। उधर गोपियाँ भी खुल कर उत्तर देती हैं। यहाँ सेर को सवा सेर मिला है। यहाँ न अज्ञान है, न मौख्र्य और न संकोच; है केवल तर्क और वह भी प्रखर।

रीतिकालीन कवियों ने भ्रमरगीत क्रमशः नहीं लिखा है वरन् कहीं-कहीं स्फुट छन्द हैं, जिनमें यह प्रकरण आगया है। सत्यनारायण कविरत्न ने गोपी-उद्धव-संवाद न रखकर यशोदा के द्वारा मन-मधुकर को कृष्ण के पास भेजा है। हरिऔध जी ने गोपी-उद्धव के संवाद में यशोदा और गोपों को भी

जोड़ दिया है। उद्धव राधा के पास स्वयं जाते हैं। वास्तव में इनकी गोपियाँ बड़ी संयत हैं।

रत्नाकर जी ने सब से भिन्न एक नवीन प्रणाली को अपनाया। यद्यपि यह विषय किसी-न-किसी रूप में पर्याप्त पिष्टपेषित हो चुका था तथापि रत्नाकर जी की प्रखर बुद्धि की शाण पर चढ़कर इसने एक नूतन ही रूप धारण किया। इनकी गोपियाँ विचक्षण भी हैं और तार्किक भी। इन्होंने यशोदा एवं गोपों को ही नहीं राधा को भी इस प्रसंग से दूर रक्खा है। तथा केवल गोपियों को ही उद्धव के प्रतिवादी का स्थान दिया है। वार्त्तालाप के समय यशोदा एवं राधा थीं अवश्य क्योंकि उन्होंने उद्धव के जाते समय कुछ उपहार दिए हैं। इनकी गोपियों में आधुनिक नारियों का चापल्य भी दृष्टिगोचर होता है। रीति-काल का प्रभाव तो इनके 'उद्धव-शतक' पर स्पष्ट ही है क्योंकि इन्होंने छन्द भी कवित्त ही प्रयुक्त किया है और अलंकारों का प्रयोग भी खुल कर किया है, विशेषतः श्लेष और अनुप्रास का।

उद्धव-शतक में भ्रमर का प्रवेश नहीं होता। सूर, तुलसी एवं नन्ददास आदि अनेक कवियों के प्रतिकूल यह एक नवीनता ही है। इसमें कथारम्भ इस प्रकार हुआ है कि एक दिन कृष्ण स्नानार्थ यमुना जाते हैं। वहाँ वे एक मुरझाए कमल को बहता हुआ देखते हैं, जिससे उन्हें विरह-व्यथिता राधा की स्मृति हो आती है और सहसा उद्विग्न हो जाते हैं। उद्धव उनकी उद्विग्नता का कारण पूछते हैं परन्तु कृष्ण कह नहीं सकते। उन्हें विरह-पीड़ा ने विकल कर दिया परन्तु ज्यों ही कुछ सम्हल कर वे कुछ कहना ही चाहते थे कि हृदय मुँह को आ गया, गला रुँध गया और आँसू नेत्रों से टप-टप गिरने लगे—

तौलौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आई भिचि।
नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियान तैं॥

तदनन्तर कृष्ण की विरह-व्यथा का चित्रण किया गया है। भक्त कवियों ने गोपियों के विरह का ही वर्णन अधिक किया है, कृष्ण के विरह का वर्णन तो सूक्ष्मतः किया है परन्तु रत्नाकर जी ने कृष्ण के विरह का वर्णन भी बड़ा मार्मिक किया है। सम्भवतः यह इसलिये कि उन्होंने तुल्यानुराग को ही प्रदर्शित किया है। भक्तों ने भक्ति-भावना को सम्मुख रक्खा था और भक्त भगवान् के प्रति श्रद्धा से बढ़ता है, अनुराग करता है तथा सर्वस्व का समर्पण भी कर देता है। उसे निश्चय तो होता है कि उसका भगवान् भक्त-वत्सल है परन्तु उसे अपने दुख के समक्ष किसी का भान नहीं। वह तड़पता है, विकल होता है, विरह-दग्ध हो-होकर मरणासन्न तक हो जाता है और अपनी ही वेदना को

विविध प्रकार से लक्षित एवं व्यंजित करने का प्रयत्न करता है। मज़ा ही इसमें है कि प्रेमी तो तड़पे परन्तु प्रियतम दयार्द्र होता हुआ भी न तड़पे। प्रेम के दीवाने प्रेम पर बलि हो जाने में ही सौभाग्य समझते हैं इसीलिए तो उनकी दृष्टि में निर्दय दीपक एवं जल की अपेक्षा शलभ एवं मीन का मूल्य अधिक है। रत्नाकर जी ने भक्ति के उस आदर्श पर रचना नहीं की, उन्होंने विशुद्ध प्रेमादर्श को अपने समक्ष रक्खा और इसीलिए तुल्यानुराग दिखलाया।

कृष्ण को गोकुल की गली, ग्वालिन, दूध-माखन की चोरी, नवेलियों का गाना-गवाना और नाचना-नचाना उनकी अमहार-मनुहार, उनके बीच मंजुल बाँसुरी का बजाना, यशोदा का प्रेम-पगा पालना और लाड़-भरा लालना, यमुना की कछार, रास-रंग और वन-विहार आदि सभी बातें एक-एक करके याद आने लगीं। वे उद्धव से बोले—ग्वाल एवं ग्वालबालाओं को विरहानल में झोंक कर मणिमंडित मुकुट से हमें क्या और षट-रस व्यञ्जनों से भी क्या। हमें तो मोर-पंखियों का मुकुट ही अच्छा था और माखन अधिक मनभावना था। आगे व्याकुल होकर कहते हैं कि गोपाल नाम छोड़कर हम त्रिलोकपति कहा कर भी क्या करेंगे—

प्यारौ नाम गोविंद गुपाल कौ बिहाय हाय
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा।

ठीक भी है जब प्रिय पास नहीं, तो पेय हेय हैं, खाद्य खाद के समान है और लोक शोक का ओक है। प्रेमी तो जले और प्रियतम अपने को सेके ऐसा कैसे हो सकता है। आग लगी तो उसी का नाम है जो दोनों घर लगे। गोपियाँ विकल हों तब फिर कृष्ण को कल कैसे पड़े। कृष्ण को उद्धव ने बहुत समझाया परन्तु उनके अश्रु बन्द न हुए। कृष्ण ने सोचा इसे प्रेम का तीर लगा नहीं है, अच्छा हो यदि इसे ही भेजा जाय और स्वयं जाकर देख आवे। यह सोचकर वे बोले—हे उद्धव! तनिक एक बार तुम गोकुल तो हो आओ फिर हम तुम्हारी शिक्षा को शिरोधार्य कर लेंगे—

आवौ एक बार धरि गोकुल-गली की धूरि
तब इहिं नीति की प्रतीति करि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिन सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम॥

ज्ञानमानी उद्धव अपने ज्ञान की सुरक्षा-सज्जा के साथ चल पड़े, परन्तु ज्यों ही गोकुल में पहुँचे, वहाँ के चराचर जगत् को विरह-दग्ध, मोहमुग्ध एवं शुष्क-सा देखकर उनका ज्ञानाभिमान गलने लगा, योग के विधान ध्यान से टलने

लगे, शरीर रोमाञ्चित हो गया और नेत्र बरसने लगे। उद्धव के आने का समाचार सुनकर गोपियाँ उनके चारों ओर घिर आई और यह जान कर कि उनके चितचोर ने एक पाती भेजी है, उनका हृदय बल्लियों उछलने लगा। आतुरतावश वे बोलीं—

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा
हमकौं लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं।

इन शब्दों में कितनी व्यग्रता है, कैसा सहज स्नेह व्यंजित हो रहा है। उद्धव देखकर ठगे-से रह गये और उनकी प्रवीणता लीन हो गई। कहते कुछ नहीं बनता था, परन्तु सम्हल कर सम्पूर्ण धैर्य को सज्जित करके बोले—जिसे आप देखना चाहती है वह तो तुम्हारे हृदय में ही है, तन को क्षीण और मन को दीन किए बिना ही ज्ञान और ध्यान से तुम उसे पा सकती हो। वे तुमसे दूर नहीं हैं। गोपियाँ सुना-अनसुना करके कृष्ण के दर्शन की लालसा व्यक्त करती हैं। उद्धव भी कमर कसकर वेदान्त की मञ्जूषा खोल देते हैं—ब्रह्म तो अगोचर है, अरूप है, अव्यक्त है और व्यापक है। उसका ध्यान करना चाहिए, वह तो अलक्ष्य है, ध्यान के ही योग्य है। पर गोपियाँ कोई कच्ची गोलियों से नहीं खेली थीं, झमक कर बोलीं—अव्यक्त है, अलक्ष्य है तो फिर हाथ-पैरों के बिना गायें कैसे चराता था, नाचता कैसे था, मुख के बिना माखन कैसे खाता और मुरली कैसे बजाता था। ज्ञात होता है तुम्हारा ब्रह्म कोई और है, जो रूप-रस-हीन है, उसका ध्यान करना ही क्या!

उद्धव के ज्ञान को प्रेम से श्रेष्ठ बतलाने पर गोपियाँ कहती हैं—

प्रेम-नेम छाँड़ि ज्ञान-क्षेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।

इसके पश्चात् वे उद्धव की उक्तियों का बड़ी युक्ति से उत्तर देती हैं। वे योग-रत्नाकर में श्वास घुटाना नहीं चाहतीं वरन् ब्रजचन्द की एक मुसकान चाहती हैं—

एक ब्रजचंद - कृपा - मुसकानि ही मैं
लोक-परलोक कौ अनन्द जिय जानै हम।

वास्तव में भक्त को चाहिए क्या, भक्तवत्सल भगवान् की कृपा की एक सुखद कोर और वह उसी में स्वर्ग-अपवर्ग सभी का सुख मानता है। फिर न उसे भुक्ति चाहिए और न मुक्ति। वह तो ब्रजचंद का चकोर होना चाहता है, इसीलिए उसे विरह-चिनगारियों से किंचित भी भय नहीं लगता—

जब ब्रजचंद कौ चकोर चित चारु भयौ
बिरह चिंगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा ।

आगे बड़ी ही मार्मिकता से कहती हैं कि देखो उद्धव ! यदि ब्रह्म होने पर भी हम नारी बनी रहें तो हमें आपकी बात मानने में कोई आनाकानी नहीं, हम प्राण जाने पर भी यह अभिमान न छोड़ना चाहेंगी कि—

हम उनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं ।

वास्तव में अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति इसी का नाम है । रसखान ने जिसे 'एकरस' प्रेम कहा है वह यही है कि प्रेमी ब्रह्मरूप होकर भी अपने को उसी रूप में चाहता है । भक्ति में एक अटूट श्रद्धा-भाव होता है, अतः भक्त भगवान् से सायुज्य चाहता हुआ भी अभेद नहीं चाहता, अतः उसकी वाञ्छा में सान्निध्य का भाव अधिक रहता है । इसीलिए गोपियाँ उद्धव से पञ्चाग्नि तप तपने एवं प्राणायाम करने का भी वचन देती हैं, यदि ऐसा करने से उनका प्रियतम मिल जाय ।

उद्धव रोकने से रुकते नहीं, उनका ज्ञान-नाला गोपियों की प्रेम-सरिता से टकरा रहा था । गोपियों ने अपना रुख बदला और व्यंग्यपूर्वक परिहास से बोलीं—उद्धव ! तुम एक बार हमारी आँखों से—प्रेमी या भक्त की आँखों से—उन कन्हैया के रूप को तनिक भी देख लेते तो ऐसा न कहते । भाई, इसमें तुम्हारा अपराध नहीं, तुम थोड़े ही बोल रहे हो, कुब्जा का तोता बोल रहा है—

सुनीं गुनीं समझीं तिहारी चतुराई जिती
कान्ह की पढ़ाई कविताई कुबरी की हैं ।

हम तो एक ही अनंग (कामदेव) की साध से छक गई हैं, भला और दूसरे अनंग (ब्रह्म) की आराधना से क्या करेंगी । यहाँ गोपियों की वाक्-चातुरी में कितना माधुर्य है और है कितनी पटुता । आगे उद्धव को डपट कर कहती हैं—

चुप रहौ ऊधौ सूधौ पथ मथुरा कौ गहौ ।

वहीं जाओ जहाँ कुब्जा योग का पाठ पढ़ाती है । यहाँ तो हमारे साथ रास रचते थे और वहाँ कुबड़ी का योग सीख गये । भला यह तो बतलाओ कि तुम उनके गुरु हो या चेला—

वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कुबरी कौ जोग ।
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं ॥

इसमें कितना परिहास भरा हुआ है । 'कूबरी' शब्द से योग की कुटिलता भी व्यञ्जित हो रही है । भई ! कुबड़ी ने तो योग कृष्ण को सिखाया और

तुम हमें सिखाने आए हो, भला तुममें गुरु कौन है ? तुम व्यर्थ ही कृष्ण का नाम बदनाम करते हो, वे तो रसिक-शिरोमणि है, ज्ञात होता है कि कुब्जा ने ही ऊपर से ऊपर तुम्हें भेज दिया है—

रसिक-सिरोमणि कौ नाम बदनाम करौ
मेरी जान ऊधौ कूर-कूबरी पठाए हौ।

अब उद्धव अवाक् रह गये। वाक्‌चाबुक की मार खाकर धीमे से बोले कि अब कृष्ण महाराज हो गये हैं। गोपियों ने सुनकर आर्द्र-हृदय से कहा—अच्छा फिर जाओ और कभी अवसर मिलने पर महाराज पूछें तो मुख से कुछ न बोलना, जो कुछ तुमने देखा है उसे कराह कर, आह भर कर, नेत्रों में जल भर कर और हिचकी लेकर व्यञ्जित कर देना—

औसर मिलै औ सरताज पूछहि तौ,
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिबे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ॥

इन शब्दों में कितनी मार्मिकता है, कितनी विवशता है और कितनी दीनता है। प्रेमी का कार्य तो प्रेम करना है और बेचारा क्या करे। यहाँ आत्म-त्याग की पराकाष्ठा है, भक्त का भगवान् के लिए सर्वस्व का समर्पण है।

उद्धव का ज्ञान-कोष समाप्त हो चुका था, युक्तियाँ विफल हो गई थीं और अभिमान मोम की भाँति गल गया था। बेचारे अपने ताम-झाम को लेकर उठ खड़े हुए। गोपियाँ बेचारी क्या करतीं, सोचा कुछ भेंट ही भेज दें और उन्होंने वे ही वस्तुएँ भेजीं जो कृष्ण को प्यारी थीं, सम्भवतः इनसे उन्हें याद आ जाय।

किसी ने मयूर-पंख भेजीं तो किसी ने गुंजाएँ और किसी ने दही दिया तो किसी ने मही। नंद ने पीताम्बर और यशोदा ने नवनीत भेजा। राधा ने भी एक वस्तु दी और वह थी कृष्ण की परम प्यारी बाँसुरी। गोपियों ने उद्धव को रस-सिक्त कर दिया, उनका ज्ञान-नीरस हृदय प्रेम से सरसा गया। वे नतनेत्र हुए विराग-तूमड़ी में प्रेम रस और ज्ञान-गूदड़ी में अनुराग सा रत्न लिए लौट आये। चौबे जी छब्बे जी होने गये थे, दूबे जी होकर लौटे। लौट कर अपने मित्र के समक्ष रुहासे होकर बोले—

ल्याए धूरि पूरि अंग अंगनि तहाँ की जहाँ
ज्ञान गयौ सहित गुमान गिरि गाँठी तैं।

हम गये तो थे पर पछाड़ खाकर आये हैं, देखो अंगों में धूल भरी हुई

है, अभिमान-सहित ज्ञान भी गाँठ से खो गया है। यदि आपको भी सही बात बताने की इच्छा न होती तो सच, हम गोकुल को छोड़ कर यहां पैर भी न रखते—

होतौ चित-चाव जौ न रावरे चितावन कौ
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं।

काश ! तुम्हें भी उसी राह ले जाना था इसीलिए आया हूँ, अन्यथा यहाँ क्या काम था, वहाँ की सरस-सरिता में स्नान कर यहाँ की धूल फाँकने कौन आता !

इस प्रकार इस ग्रन्थ में भी निराकार का खंडन एवं साकार का मंडन है परन्तु भक्तों के प्रतिकूल प्रेम की द्विपक्षी व्यंजना में इसकी मौलिकता है।

इस ग्रन्थ में उद्धव द्वारा जो निराकार ब्रह्म का स्वरूप वर्णित हुआ है वह उपनिषदों के ही अनुसार है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

उद्धव भी उसे अपाणिपाद एवं चक्षुःकर्णविहीन कहते हैं। आगे इसी उपनिषद में ब्रह्म को अणु से अणु और महान् से महान् बतलाकर उसे अन्तः-करण-स्थित लिखा है और कहा है कि विषयभोग के संकल्प से शून्य आत्मा ही उसे पाती है—

अणोरणीयान्महतो महीया
नात्मा गुहायाँ निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति बीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥

इसी भाव की पूर्ण छाया हम सूर के इस पद में पाते हैं—

सुनहु गोपी हरि को संदेश।
करि समाधि अन्तर्गति ध्यावहु यह उनको उपदेश ॥
वै अविगति अविनाशी पूरण सब घट रह्यो समाइ।
निर्गुण ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुराणन गाइ ॥
सगुण रूप तजि निर्गुण ध्यावो इक चित इक मन लाइ।
यह उपाव करि विरह तरी तुम मिलै ब्रह्म तब आइ ॥

सूर ने उस भाव को तनिक व्याख्यात कर दिया है। रत्नाकर जी ने सूर के समूचे भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार रक्खा है —

सोई कान्ह सोई तुम सोई सबही हैं लखौ
घट-घट अन्तर अनंत स्याम घन कौं।
कहै रतनाकर न भेद-भावना सौं भरौ
बारिधि औ बूँद के विचारि बिछुरन कौं ॥
अविचल चाहत मिलाप तौ बिलाप त्यागि
जोग-जुगति करि जुगावौ ज्ञान-धन कौं।
जीव आतमा कौं परमातमा में लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौं।

परन्तु यह सिद्धान्त स्थाप्य नहीं है। यह तो केवल प्रतिक्रिया के लिए वर्णित है। स्थाप्य विषय है सगुण का माहात्म्य और वह गोपियों द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अन्त में विजय भी गोपियों की ही हुई है—प्रेम ने ज्ञान पर विजय पाई है। वास्तव में यह कृष्ण-भक्त कवियों के अनुसार ही हुआ है। इसमें बल्लभ स्वामी की अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति का सुन्दर स्वरूप परिलक्षित होता है। परन्तु नवीन युग में उत्पन्न होने के कारण रत्नाकर जी की लेखनी ने गोपियों में आधुनिक नारी का चापल्य भी भर दिया है।

इस ग्रन्थ की भाषा ब्रज है। यह तो प्रसिद्ध है ही कि रत्नाकर जी ब्रजभाषा के महान् पंडित थे। उद्धव शतक की भाषा भी खरी, परिमार्जित एवं अलंकृत ब्रज है। इन्होंने रीतिकालीन परम्परा के अनुसार भाषा के साथ छन्द भी कवित्त ही व्यवहृत किया है परन्तु इन्होंने भूषण-देव आदि की भाँति भाषा को बिगाड़ा नहीं है। भाषा में एक प्रवाह है। शब्दों की योजना ऐसी हुई है कि उसमें अनुप्रास तो पग-पग पर है। कहीं-कहीं यमक आदि शब्दालंकार भी दिखाई पड़ते हैं। कवि को श्लेष अधिक प्रिय है। कहीं-कहीं तो वह अत्यन्त दुरूह हो गया है। अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अनुप्रास—

जमुना कछारनि की रंग-रस-रारनि की
बिपिन-विहारनि की हौंस हुमसावती।

× × ×

सीत के प्रभाव भाव भावना भुलानी के।

× × ×

लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।

× × ×

जैहै बनि-बिगरि न वारिधिता बारिधि का
बूँदता बिलैहै बूँद बिवस बिचारी की।

यमक—

सीत के प्रभाव भाव.........।

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात

श्लेष—

स्याम-रंग-राँचे साँचे हिय हम ग्वारिनि कैं
जोग की भगौंहीं भेष-रेख रचिहैं नहीं।

यहाँ श्याम (कृष्ण, काला) और भगोंहीं (भगवा रंग की, भाग जाने वाली) में श्लेष है।

× × ×

कहीं-कहीं श्लिष्ट पद्य अत्यन्त कठिन हो गये हैं, यथा—

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चारू मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्शन हूँ यौं सुधि सिराई है।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि को
भाय क्यों अनारिनि कौ भरत कन्हाई है।
ह्यां तौ विषमज्वर-वियोग की पढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है॥

इसमें वियोग को विषमज्वर बताया है अतः सुदर्शन (सुदर्शन रस, दर्शन), नारिनि (नाड़ियों, स्त्रियों), अनारिनि (नाड़ी ज्ञान से अपरिचित वैद्यों, अनाड़ियों) और पाती (पत्री, पत्रिका) श्लिष्ट पद हैं।

बिहारी ने भी एक दोहे में वियोग को विषमज्वर बतला कर सुदर्शन (सुदर्शन रस तथा सुन्दर दर्शन) का प्रयोग किया है—

यह विनसत नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयें आइ सुदरसनु देहु॥

प्रतीत होता है कि रत्नाकर जी ने यह भाव बिहारी से ही लिया है।

रूपक—

जोग-रतनाकर मैं साँस घूँटि बूढ़ै कौन
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।

मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहा है जब
मोहन लला पै मन- मानिक ही वारि चुकीं ।

इसमें योग में रत्नाकर का आरोप किया गया है अतः मुक्ति में मुक्ता का और मन में मानिक का आरोप है ।

× × ×

प्रेम-रस रुचिर विराग-तूमड़ी मैं पूरि
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौ रतन लै ।

इसमें भी रेखांकित पदों में रूपक है ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में अलंकारों की बड़ी सुन्दर योजना हुई है । कलापक्ष के साथ-साथ भावपक्ष भी इसका बड़ा उज्ज्वल है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है ।

इस ग्रन्थ में मुख्यतः वियोग शृंगार का चित्रण हुआ है, जिसमें कृष्ण और गोपी दोनों के ही वियोग का वर्णन है, साथ ही उद्धव की ज्ञानपूर्ण उक्तियों में शान्त रस भी है । कहीं-कहीं गोपियों की वक्रोक्तियों में हास्य-रस भी व्यञ्जित हो रहा है, यथा—

वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं ।

एक स्थान पर गोपियों के वचन में क्षोभ की छाया भी मिलती है—

चुप रहौ ऊधौ सूधौ पथं मथुरा कौ गहौ
कहौ ना कहानी जौ विविध कहि आए हौ ।

ग्रन्थ में रसानुकूल माधुर्य एवं प्रसाद गुण की योजना भी सुचारु रूप में हुई है ।

रत्नाकर जी की काव्य-कला—काव्य के दो पक्ष हैं—कलापक्ष और भावपक्ष । कलापक्ष में भाषा एवं अलंकार-योजना आती है । इनकी भाषा ब्रज है जो अत्यन्त सहज, खरी और प्रवाह-पूर्ण है । उसमें न दुरूहता है और न द्राविड़ प्राणायाम की साधना । अनुप्रास-छटा अवश्य दृष्टिगोचर होती है जो ब्रजभाषा के सौन्दर्य द्वारा उद्‌गत भावों के तरंगित उद्‌गारों की सहज रूप से प्रवहमान धार है । ब्रजभाषा की शब्दावली ही ऐसी है कि उसमें स्वयं लच्छे पड़ते चले जाते हैं, यथा—

'सखि मोरी अँगुरियन की सँकरियन में कँकरियाँ इलझ गईं री ।

इसमें नायिका ने भाषा बना कर कही हो ऐसी बात नहीं है । वह तो

स्वतः अनुप्रासित हो गई है। यही बात इनकी भाषा में है। इनकी रचनाओं में अलंकारों की योजना बड़ी सहज रूप से हुई है। कहीं-कहीं श्लेष दुरूह हो गया है। यों तो प्रायः सभी प्रसिद्ध अलंकार प्रयुक्त हुए हैं परन्तु अनुप्रास और यमक ही अधिक दीख पड़ते हैं।

रसानुकूल भाषा का प्रयोग इनका बड़ा गुण है अतः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण अपने-अपने स्थान पर बड़ी सुन्दर रीति से योजित हुए हैं। भावपक्ष तो इनका बड़ा उज्ज्वल है। उदाहरणार्थ उद्धव-शतक में वियोग शृंगार, हरिश्चन्द्र में हरिश्चन्द्र एवं शैव्या के वार्त्तालाप में करुण और श्मशान के वर्णन में बीभत्स, गंगावतरण में गंगा के अवतरण से भयानक रस की व्यंजना बड़ी सुन्दर हुई है। वास्तव में इनकी विशेषता ही भाव एवं रस की व्यञ्जना में है। रसाभिव्यक्ति में विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारियों का विधान भी अनुकूल ही हुआ है। इनकी रचनाएँ सहज रस से अनुप्राणित हैं। इनकी एक विशेषता यह भी है कि ये वर्ण्यवस्तु एवं विहित भाव का चित्र सा खड़ा कर देते हैं। इनके वस्तु-चित्र एवं भाव-चित्र बड़े मनोहारी हैं।
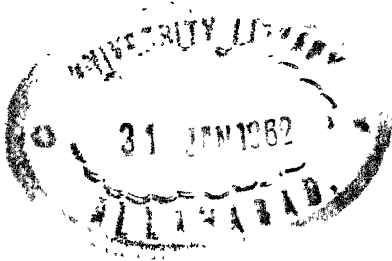
रामचन्द्र शुक्ल

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ ई० में बस्ती जिले के अगोना ग्राम में हुआ था। इनके पिता पं० चन्दबली शुक्ल एक कानूनगो थे। उन्होंने इनकी शिक्षा का प्रबन्ध ६ वर्ष की आयु से ही कर दिया था। इनकी माता जी भी विदुषी थीं। वे इन्हें रामायण सुनाया करती थीं और कभी-कभी सूर के पद गाया करती थीं, जिन्हें बालक शुक्ल बड़ी रुचि से सुनता था। विद्वान् पिता भी इन्हें अनेक पुस्तकें सुनाया और पढ़ाया करते थे। विशेषतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों को सुनने में इनकी विशेष रुचि थी। दुर्भाग्यवश आठ वर्ष की अवस्था में इनकी माता का देहान्त हो गया। उसके पश्चात् ही इनके पिता मिर्जापुर चले गये, वहीं इनकी विद्यालय की शिक्षा प्रारम्भ हुई और सन् १६०१ में इन्होंने दशम कक्षा पास की। इन्होंने अंग्रेजी और उर्दू का अध्ययन तो किया ही था, पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के सम्पर्क से इन्होंने संस्कृत भी सीखी और शनैः-शनैः इनका प्रेम संस्कृत से बढ़ता चला गया। बाबू काशीप्रसाद जायसवाल के सम्पर्क में आने से इनके हृदय में हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत हुआ। इस प्रकार दसवीं कक्षा पास करने के समय तक इनकी रुचि हिन्दी और संस्कृत की ओर परिवर्द्धित हो चुकी थी। इन्होंने आगे पढ़ने का भी प्रयत्न किया, परन्तु कुछ पारिवारिक विषम परिस्थितियों से पढ़ न सके, वकालत की परीक्षा भी दी, परन्तु उत्तीर्ण न हुए।

इस विद्यार्थी जीवन में इनकी एक बड़ी विशेषता यह रही कि इन्हें अध्ययन से बड़ा प्रेम था। रात्रि को बारह-एक बजे तक ये पुस्तकें पढ़ते रहते थे, जिससे इनकी बुद्धि का अपरिमित विकास हुआ। इससे इनकी लेखन-कला को भी वल मिला और शीघ्र ही ये अपनी प्रतिभा का परिचय देने लगे। यहाँ तक कि 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने जब हिन्दी-कोश का सम्पादन किया तो हिन्दी के शब्दों के संग्रह का काम युवा शुक्ल को ही सौंपा गया। तत्पश्चात् इन्होंने उसके सम्पादन में बड़ा हाथ बटाया। अब ये काशी में ही रहने लगे

और काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हु
प्रतिभा और सक्षम योग्यता के बल पर इन्होंने सन् १९३० में हिन्दी ...
पद को सुशोभित किया।

दशम कक्षा पास करने से पूर्व ही ये लेखन द्वारा अपनी प्रतिभा दिखाने लगे थे। १२–१३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'हास्य-विनोद' नामक छोटा सा नाटक और अनेक कविताएँ लिखीं जो बाल-चापल्यवश लिखी गईं और फाड़ दी गईं परन्तु इससे उनके हृदय में जमे हुए उस बीजांकुर का आभास मिलने लगा था, जो आगे चल कर सपत्र और पुष्प-फलवान् विशाल वृक्ष बन गया। सन् १९०० में इनकी 'मनोहर छटा' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् तो अनेक लेख और कविताएँ इन्होंने पत्रों में दीं परन्तु इनके लेखों में जितना भाव-सौष्ठव एवं शैली का परिष्कार होता था, उतना कविताओं में नहीं। यह महावीर प्रसाद द्विवेदी का समय था जब इतिवृत्तात्मकता से धीरे-धीरे व्यञ्जनात्मक शैली की ओर लेखकों की प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

शुक्ल जी ने आगे चल कर अपने जीवन में अनेक अमर रचनाएँ लिखीं। सर्वप्रथम इनका साहित्यिक जीवन निबन्ध और कविताओं से आरम्भ हुआ। पुनः इन्होंने निबन्ध, समालोचना अनुवाद, इतिहास एवं काव्य-सम्बन्धी अनेक ऐसी कृतियाँ उपस्थित कीं जिन्होंने हिन्दी साहित्य में एक जीवन फूँक दिया। आपकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

रचना	विधा
१. चिन्तामणि भाग १, २	(निबन्ध-संग्रह)
२. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका	समालोचना
३. भ्रमर-गीत-सार की भूमिका	
४. तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका	
५. रसमीमांसा	
६. कल्पना का आनन्द (Essays on the Imagination, एडिसन)	अंग्रेज़ी के अनुवाद
७. राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा (Minor Hints, सर टी माधवराय)	
८. विश्वप्रपञ्च (Riddle of the Universe, हीगल)	

९. आदर्शजीवन (Plain living and High thinking, स्माइल) — अंग्रेजी के अनुवाद
१०. मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण — अंग्रेजी के अनुवाद
११. बुद्ध चरित (Light of Asia, एडविन आर्नल्ड) — अंग्रेजी के अनुवाद
१२. शशांक (बँगला से अनुवाद)
१३. हिन्दी साहित्य का इतिहास
१४. फारस का प्राचीन इतिहास

इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक लेख लिखे तथा कविता और समालोचनाएँ भी लिखीं, जो समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित होती रहीं। इन्होंने हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादन में सहायता दी और बहुत काल तक ये नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के भी सम्पादक रहे।

अब इनकी प्रमुख रचनाओं पर संक्षेपतः प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं। इसके दो भाग हैं—चिन्तामणि भाग पहला और चिन्तामणि भाग दूसरा। प्रथम भाग में सत्रह निबन्ध हैं, जिनमें से प्रथम दस—भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध—ये मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध हैं और शेष सात निबन्धों में—कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणी-करण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद एवं रसात्मक बोध के विविध रूप—ये चार सैद्धान्तिक (काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले) और तीन—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग तथा मानस की धर्मभूमि—विवेचनात्मक हैं। यदि हम इन सभी निबन्धों को साहित्यिक निबन्ध कहें तो अनुचित न होगा, क्योंकि प्रथम मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध भी उन भावों से सम्बन्ध रखते हैं जिनकी प्रकृति अथवा संघटना, संबल, उद्भूति, उद्रेक एवं सांकर्य से जन्य विकृति की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं से उद्‌गारित विचारों के संकलन का नाम ही साहित्य है और दूसरे प्रकार के निबन्ध तो साहित्यिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते ही हैं तथा शेष तीन में साहित्यिक व्यक्तियों एवं उनकी कृतियों का आलोचनात्मक विवेचन है। चिन्तामणि पुस्तक के मुखपृष्ठ पर 'विचारात्मक निबन्ध' लिखा होने के कारण कई व्यक्ति इन निबन्धों को विवरणात्मक मान लेते हैं और कहते हैं कि इनमें केवल विचार किया गया है। वे भ्रम में हैं,

विचारात्मक निबन्ध से तात्पर्य है विचार=मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध, अतः ये मनोवैज्ञानिक साहित्यिक निबन्ध हैं।

चिन्तामणि द्वितीय भाग में तीन निबन्ध संग्रहीत हैं—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद। ये निबन्ध भी साहित्यिक निबन्ध हैं, जिनमें बड़े विस्तार से विवेचना के साथ-साथ आलोचना भी की गई है।

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में समस्त शैली को अपनाया है। निबन्ध के विषय-प्रवेश में मनोविकार की परिभाषा देते हैं, पुन: उसकी व्याख्या करते हैं और तत्पश्चात् निर्णय पर पहुँचते हैं। उनकी शैली में वाक्यों का विन्यास गुम्फन से युक्त होता है, उसमें शब्दों की समन्विति, विचारों का सैन्य-सटन और भावों का सूक्ष्म विश्लेषण रहता है तथा बुद्धि का भार, मस्तिष्क की खुरचन किन्तु साथ ही मन्द और सीमित प्रवाह भी रहता है जो स्वयं तो इतना तरल एवं चञ्चल नहीं है परन्तु विज्ञ पाठक के मानस को अवश्य तरंगित करता है। उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है'।

'जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है।'

'श्रद्धा महत्व की आनन्द पूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का सञ्चार है।'

'यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी. बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी, वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख कर आदर से सिर नवाएँगे·········।'

'प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।'

'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'

'जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।'

'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है।'

९. आदर्शजीवन (Plain living and High thinking, स्माइल) — अंग्रेजी के अनुवाद
१०. मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण — अंग्रेजी के अनुवाद
११. बुद्ध चरित (Light of Asia, एडविन आर्नल्ड) — अंग्रेजी के अनुवाद
१२. शशांक (बँगला से अनुवाद)
१३. हिन्दी साहित्य का इतिहास
१४. फारस का प्राचीन इतिहास

इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक लेख लिखे तथा कविता और समालोचनाएँ भी लिखीं, जो समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित होती रहीं। इन्होंने हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादन में सहायता दी और बहुत काल तक ये नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के भी सम्पादक रहे।

अब इनकी प्रमुख रचनाओं पर संक्षेपतः प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं। इसके दो भाग हैं—चिन्तामणि भाग पहला और चिन्तामणि भाग दूसरा। प्रथम भाग में सत्रह निबन्ध हैं, जिनमें से प्रथम दस—भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध—ये मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध हैं और शेष सात निबन्धों में—कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणी-करण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद एवं रसात्मक बोध के विविध रूप—ये चार सैद्धान्तिक (काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले) और तीन—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग तथा मानस की धर्मभूमि—विवेचनात्मक हैं। यदि हम इन सभी निबन्धों को साहित्यिक निबन्ध कहें तो अनुचित न होगा, क्योंकि प्रथम मनोविकार सम्बन्धी निवन्ध भी उन भावों से सम्बन्ध रखते हैं जिनकी प्रकृति अथवा संघटना, संबल, उद्भूति, उद्रेक एवं सांकर्य से जन्य विकृति की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं से उद्गारित विचारों के संकलन का नाम ही साहित्य है और दूसरे प्रकार के निबन्ध तो साहित्यिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते ही हैं तथा शेष तीन में साहित्यिक व्यक्तियों एवं उनकी कृतियों का आलोचनात्मक विवेचन है। चिन्तामणि पुस्तक के मुखपृष्ठ पर 'विचारात्मक निबन्ध' लिखा होने के कारण कई व्यक्ति इन निबन्धों को विवरणात्मक मान लेते हैं और कहते हैं कि इनमें केवल विचार किया गया है। वे भ्रम में हैं,

विचारात्मक निबन्ध से तात्पर्य है विचार=मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध, अतः ये मनोवैज्ञानिक साहित्यिक निबन्ध हैं।

चिन्तामणि द्वितीय भाग में तीन निबन्ध संग्रहीत हैं—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद। ये निबन्ध भी साहित्यिक निबन्ध हैं, जिनमें बड़े विस्तार से विवेचना के साथ-साथ आलोचना भी की गई है।

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में समस्त शैली को अपनाया है। निबन्ध के विषय-प्रवेश में मनोविकार की परिभाषा देते हैं, पुनः उसकी व्याख्या करते हैं और तत्पश्चात् निर्णय पर पहुँचते हैं। उनकी शैली में वाक्यों का विन्यास गुम्फन से युक्त होता है, उसमें शब्दों की समन्विति, विचारों का सैन्य-सटन और भावों का सूक्ष्म विश्लेषण रहता है तथा बुद्धि का भार, मस्तिष्क की खुरचन किन्तु साथ ही मन्द और सीमित प्रवाह भी रहता है जो स्वयं तो इतना तरल एवं चञ्चल नहीं है परन्तु विज्ञ पाठक के मानस को अवश्य तरंगित करता है। उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है'।

'जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है।'

'श्रद्धा महत्व की आनन्द पूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का सञ्चार है।'

'यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी, वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख कर आदर से सिर नवाएँगे.........।'

'प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।'

'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'

'जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।'

'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है।'

'हृदय की इसी मुक्ति की साधना (रसदशा की प्राप्ति) के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं ।'

'धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है ।'

'धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है ।'

'मानसिक रूप-विधान का नाम ही कल्पना है ।'

'रूप-विधान तीन प्रकार के हुए—

१. प्रत्यक्ष रूप-विधान,

२. स्मृत रूप-विधान और,

३. कल्पित रूप-विधान ।'

उपरिलिखित उद्धृतांशों में हमने देखा कि कोई सूत्रकार सूत्र लिखता है और पुनः उसे दुर्गम एवं दुरूह समझ कर उसकी स्वयं व्याख्या करता है । वास्तव में ये सूत्र भाव-सागर की गहराइयों में प्राप्त और पुनः गुम्फित मुक्ता हैं । ऐसा सूक्ष्म विवेचन हमें अन्यत्र नहीं मिलता । बेकन ने अवश्य भावों का विश्लेषण किया है परन्तु वह इनके पासंग में भी नहीं आ सकता । यह गोताखोर इतना गहरा उतरा है कि अपनी पारदर्शक दृष्टि से अतल के बहुमूल्य रत्नों को स्पष्ट देख सका और पुनः व्यक्त करने में सफल हुआ । विश्लेषण में बाल की खाल निकाल दी है । यह बात वहाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है, जहाँ इन्होंने मनोविकारों में भेद बतलाया है । श्रद्धा और प्रेम का अन्तर बतलाते हुए आप लिखते हैं—'श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त । प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार' । यदि इसको यों कहा जाय कि प्रेम में प्रगाढ़ता होती है और श्रद्धा में अपेक्षाकृत पतलापन किन्तु व्यापकता तो उचित ही होगी । वास्तव में प्रेम हृदय की वह पुञ्जीभूत द्रवात्मक अनुरक्ति है जो निर्जनता चाहती है अनन्यता चाहती है और चाहती है केवल एकरसता अतएव उसमें घनत्व है परन्तु श्रद्धा में एकान्त की आवश्यकता नहीं, वह तो समाज में ही अधिक पनपती है । प्रेम संकुचित होकर एक समय में दो में ही सीमित रहना चाहता है परन्तु श्रद्धा अनेक के प्रति व्यापक रूप से प्रदर्शित होती है । अतः निबन्धकार का उपर्युक्त वचन तथ्य की कसौटी पर खरा उतरता है ।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखते हैं—'आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है, इससे लज्जा की ही हो सकती है जिसका सम्बन्ध दूसरों की धारणा से है । ग्लानि की आशंका नहीं हो सकती ।' शुक्ल जी की सूक्ष्म विवेचना यहाँ कितनी

गहराई पर पहुँची है। वे आशंका को निश्चयात्मक वृत्ति नहीं बतलाते। दूसरे व्यक्ति प्राय: अनिश्चयात्मक धारणा बनाते रहते हैं और उन्हीं से लज्जा की उद्भावना होती है किन्तु ग्लानि के विषय में ऐसा नहीं अत: उसकी आशंका ·हीं होती।

ऐसे सैकड़ों ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। देखिए घृणा और क्रोध के भेद में कैसी हिल्लोलायमान विच्छित्ति है। वे लिखते हैं—'घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है, और क्रोध प्रवृत्ति का।' भाव तो स्पष्ट है कि यदि कोई पुरुष या स्त्री प्रेमपूर्वक आप से किसी भीषण बुराई में साझीदार होने के लिए कहते हैं तो आप घृणा करेंगे, दूर भागेंगे परन्तु यदि वे क्रोध करें तो आप भी क्रोध में प्रवृत्त हो जायेंगे परन्तु ऐसी सूक्ष्मता पर सूक्ष्म दृष्टि ही पहुँचती है, स्थूल नहीं।

ईर्ष्या को एक संकर भाव बतलाते हुए उसमें आलस्य, अभिमान और नैराश्य का योग बतलाते हैं। ठीक भी है ईर्ष्यालु ईर्ष्या-पात्र की अपेक्षा सक्षम नहीं होता और उसमें उसकी अकर्मण्यता ही अधिक कारण बनती है किन्तु अपने को मिथ्याभिमान से सन्तुष्टि देता रहता है और ज्यों-ज्यों ईर्ष्या-विषय की उपलब्धि में विलम्ब होता जाता है ईर्ष्या अधिक बढ़ती जाती है।

वास्तव में शुक्ल जी की बुद्धि इतनी पैनी है कि महीन से महीन भाव को भी छील कर रख दिया है। विषय के साथ भाषा भी गंभीर है परन्तु पाठक विचलित नहीं होता, वायु में उत्ताप तो है परन्तु वसन्त भी है अत: रुचिकर है। काठिन्य तो है परन्तु स्पर्शसुख भी है, भला दांतों के दुर्बल होने पर भी कोई मीठे गन्ने को छोड़ थोड़े ही देता है।

शुद्ध साहित्यिक निबन्धों में हम शुक्ल जी को खरे आलोचक के रूप में देखते हैं। उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण तो रीति-काव्य शास्त्रों के आधार पर ही किया है। साधारणीकरण का यह लक्षण कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उस में रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है' भट्ट नायक एवं अभिनवगुप्त के अनुसार ही है। परन्तु इसकी आलोचनात्मक विवेचना में इनकी मौलिकता है। चिन्तामणि द्वितीय भाग के प्रथम निबन्ध में ही काव्य में प्राकृतिक दृश्य के चित्रण में अतिशयोक्ति को वे एक मज़ाक कहते हैं। उन्होंने बड़े दृढ़ शब्दों में अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्यों को अशक्त कहा है

और उनमें काव्यत्व का अभाव माना है। इसी प्रकार 'काव्य में रहस्यवाद' नामक द्वितीय लेख में आधुनिक रहस्यवादियों को अनुभूति से हीन होने के कारण आडम्बर-रचयिता कहा है तथा उनकी चेष्टाओं को झूठे इशारे बतलाया है—

'जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति में हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकाल कर मतवालों के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।'

'.........चारों ओर से बेदखल होकर छोटे-छोटे कनकौओं पर भला कविता कब तक टिक सकती है। असीम और अनन्त की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई ज़रूरत नहीं।'

मनोविकारों को श्रेणीबद्ध करते हुए शुक्ल जी ने बुद्धि की बड़ी प्रखरता दिखाई है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—'क्रोध की सब से नीची श्रेणी चिड़चिड़ाहट है, बीच की श्रेणी अमर्ष है और अन्तिम श्रेणी क्रोध है।'

उपर्युक्त विवेचन से यदि हम फलित निकालें तो हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी के विचार हृदय से तो आए हैं परन्तु बुद्धि की शाण पर चढ़ कर। कहीं-कहीं तो वे भाव-जगत के इतने गम्भीर या दुर्गम कोने में पहुँच गए हैं जहाँ से उनके शब्द प्रतिध्वनित से होते सुनाई पड़ते हैं परन्तु ध्वनि में स्पष्टता छिपी नहीं है। इनका अपना व्यक्तित्व उसी प्रकार मुखर है जिस प्रकार विविध वाद्यों के समष्टि वादन में मृदङ्ग मुखर होता है।

भावों का लक्षण, उनके भेदोपभेद, मनोविकारों में परस्पर अन्तर, उनका आलोचनात्मक विवेचन, विषय में एकसूत्रता, उक्तियों में सामासिकता तथा भावोद्गति के साथ भाषा की तरंगायित मन्द चाल ये सभी शुक्ल जी के व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य के परिचायक हैं। इनके लेख कोरे लेख ही नहीं, उनमें एक आदर्श भरा हुआ है और वह है नैतिक। वास्तव में चिन्तामणि आचार के नियमों का सूक्ति रूप में एक वृहतकोष है और भारतीय हृदय की साक्षात प्रदर्शनी है। यदि साहित्य के भाव-पक्ष की इसे भूमिका कहें तो उपयुक्त होगा।

शुक्ल जी निबन्ध को भाषा की कसौटी मानते हैं। वे कहते हैं—'भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है।' और यह ठीक भी है, निबन्ध गद्य में होते हैं और भावों का प्रवाह से अबाध रूप में

निकलना गद्य में ही सरल होता है। ऐसी अवस्था में ही भाषा का सुष्ठु प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टि से भी शुक्ल जी के निबन्धों का स्थान अद्वितीय है। इसमें एक बात और भी है कि शुक्ल जी ने पश्चिम से बहुत कुछ सीख कर उसे भारतीयता में ढाल दिया है; अतएव उनके निबन्धों में कठोरता के साथ-साथ सड़क-भड़क भी है। वास्तव में सोने में सुगन्ध आ गई है।

जायसी ग्रन्थावली की भूमिका—शुक्ल जी ने जायसी के तीनों ग्रन्थ—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम—का सम्पादन करते हुए इस विशाल भूमिका को लिखा था। यह २०२ पृष्ठों एवं २३ अध्यायों में समाप्त हुई है। इतनी वृहद् भूमिका संभवतः दूसरी नहीं है। इसमें कवि जायसी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालते हुए प्रेम-गाथाओं में पद्मावत की कथा का आधार बतलाया गया है। पुनः पद्मावत की प्रेम-पद्धति को बतलाते हुए शृंगार के वियोग और संयोग पक्ष का ग्रन्थ के उद्धरणों के ही आधार पर विशद विवेचन किया गया है। नागमती के वियोग-वर्णन को तो शुक्ल जी ने विश्व-साहित्य में उज्ज्वल एवं उत्तम बतलाया है। तदनन्तर इस रति को ईश्वरोन्मुख बतलाते हुए उन्होंने ग्रंथ की प्रबन्ध-कल्पना पर विचार किया है। पुनः वस्तु-वर्णन, भावव्यंजना, अलंकार एवं पात्रों के स्वभाव का चित्रण करते हुए ग्रंथ में वर्णित मत एवं सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। सूफीमत के सिद्धान्तों का सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट विवेचन करते हुए उन्होंने जायसी के रहस्यवाद को स्पष्ट किया है। अन्त में उनकी भाषा पर विचार किया है, जिसमें ब्रज एवं अवधी की विशेषता बतलाते हुए जायसी की भाषा को तुलसी की संस्कृत-गर्भित अवधी की अपेक्षा ठेठ अवधी लिखा है।

वास्तव में यह भूमिका क्या है, एक वृहद् पुस्तक ही है। इसे जायसी को समझने का सही माध्यम कहें तो उपयुक्त होगा। यद्यपि शुक्ल जी जायसी को तुलसी की कोटि में तो नहीं लेते तथापि जायसी की प्रबन्धात्मकता पर वे मुग्ध हैं। जायसी का कथा-निर्वाह, वस्तु-वर्णन एवं इस पर भी रहस्यात्मकता उन्हें बड़ी अच्छी लगी है। बीच-बीच में कवि ने सूफी सिद्धान्तों के जो संकेत दिए हैं उनसे लौकिक कथा के निर्वहण में भी बाधा नहीं पड़ी है और रहस्य का उद्घाटन यथावत् हुआ है। इसमें पात्रों द्वारा भाव-व्यंजना ने बड़ा योग दिया है। इस पर शुक्ल जी की आलोचक बुद्धि की दृष्टि पड़ी और अपनी कसौटी पर उसे कस डाला। सारी भूमिका एक क्रमिक आलोचनात्मक निबन्ध है, जिसमें उत्तरोत्तर विषय को समझाने की क्षमता है। ग्रंथ-सम्बन्धी स्यात् ही कोई बात ऐसी रही हो जो इस भूमिका में न लिखी हो। इसमें पद्मावत की

प्रेम-पद्धति, वियोग-पक्ष, ईश्वरोन्मुख प्रेम, प्रेमतत्व, मत और सिद्धान्त तथा जायसी का रहस्यवाद आदि अध्यायों में विषय का प्रतिपादन बड़ी गम्भीरता एवं मार्मिकता से हुआ है। इससे शुक्ल जी के पाण्डित्य, बहुश्रुतत्व, निबन्ध-पटुत्व एवं बुद्धि-वैलक्षण्य और वैचक्षण्य पर पूरा प्रकाश पड़ता है और पाठक पूर्ण रूप से जान लेता है कि यह एक प्रखर पण्डित आलोचक की लेखनी की करामात है।

भ्रमर-गीत-सार की भूमिका—यह भूमिका ७७ पृष्ठों में समाप्त हुई है तथा इसमें विषयबद्ध अध्याय नहीं हैं। इसमें आलोचक ने इतिवृत्तात्मक शैली को नहीं अपनाया है, अतः कवि की जीवनी एवं ऐतिहासिकता पर प्रकाश नहीं डाला है। इसमें शुद्ध अभिव्यंजनात्मक शैली को ही अपनाया गया है, अतः सूर के भावपक्ष को विशेषतः स्पष्ट किया है। जायसी ने जिस प्रेम-व्यापार का दिग्दर्शन कराया है, उसकी अपेक्षा सूर की गोपियों का प्रेम कहीं सहज और विशद है। 'पद्मावत' में शुक्ल जी उसकी रहस्यात्मकता एवं हिन्दू लौकिक कथा में सूफी सिद्धान्तों की व्यंजना से प्रभावित हुए थे, परन्तु यहाँ गोपियों के सहज, क्रमिक एवं निश्छल प्रेम पर मुग्ध हैं। शक्ति, शील और सौन्दर्य को आलोचना का मापदण्ड मानने वाला आलोचक यहाँ केवल सौंदर्य के बल पर ही चला है। कृष्ण की बाल-लीलाओं से लेकर वर्धमान आयु के साथ नवोन्मिषित प्रेमांकुर में उसे ऐसी कोमलता दीख पड़ी कि वह प्रशंसा किए बिना न रहा। साथ ही इसमें कलापक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है। तार्किक एवं दार्शनिक लेखक को भ्रमर-गीत का विषय अधिक रुचिकर हुआ होगा तथा कृष्ण के बाल-चापल्य एवं गोपियों के सहज प्रेम ने उस पर जादू किया होगा, इसीलिए उसने इस ग्रंथ के भावपक्ष को इतना मनोयोग के साथ सुस्पष्ट किया है। कलापक्ष के उद्घाटन में सूर की गीति ने अधिक योग दिया होगा।

शुक्ल जी सूर को मुख्यतः श्रृंगार और वात्सल्य का ही कवि मानते हैं, अतः उद्धरणों द्वारा इन्हीं के चित्रण के साफल्य पर उन्होंने प्रकाश डाला है। अन्त में सूर की विशेषताएँ भी बतलाई हैं।

तुलसी ग्रंथावली की भूमिका—पहले यह तुलसी ग्रंथावली की भूमिका के रूप में ही लिखी गई थी, परन्तु बाद में इसे पृथक् पुस्तकाकार में कर दिया गया। यह ग्रंथ पौने दो सौ पृष्ठ में है। इसमें तुलसी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त, उनकी भक्ति-पद्धति, लोक-धर्म, मंगलाशा, लोकनीति और मर्यादावाद, शील-साधना और भक्ति, ज्ञान और भक्ति, तुलसी की काव्य-पद्धति, तुलसी की भावुकता, उनकी भाषा, उक्ति-वैचित्र्य एवं अलंकार तथा हिन्दी-साहित्य में

उनका स्थान और मानस की धर्मभूमि आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जायसी की आलोचना में शुक्ल जी हिन्दू लौकिक कथा में प्रबन्धात्मकता एवं रहस्यात्मकता से प्रभावित हुए हैं, भ्रमरगीत-सार की भूमिका के लिखने में गोपियों के सहज प्रगाढ़ प्रेम एवं यशोदा के वात्सल्य और सगुण की सुतर्कपूर्ण स्थापना ने उन्हें प्रेरित किया, परन्तु तुलसी ग्रंथावली की भूमिका का मूलाधार है राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य। 'तुलसीदास' में लिखा है—'भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रक्खा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं, जिन पर हृदय क्रमश: टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-पंडित, राजा-रंक सब उस पर अपने हृदय को बिना प्रयास अड़ा देते हैं। इसकी स्थापना गोस्वामी जी ने राम के रूप-माधुर्य का अत्यन्त मनोहर चित्रण करके की है।' एक बात इस आलोचना में अवश्य विचारणीय है कि शुक्ल जी ने तुलसी को लोकमर्यादा-प्रचारक एवं सुधारक और न जाने क्या-क्या कहा है। हमारे विचार से आलोचक ने उसे अपनी, हमारी और सब की आँखों से देखा है, परन्तु तुलसी थे केवल राम के भक्त और इससे अधिक कुछ नहीं। हाँ, रामचरित मानस की रचना से तुलसी में ये गुण अवश्य देखे जा सकते हैं।

रस मीमांसा—इस ग्रंथ में आठ अध्याय हैं—काव्य, काव्य के विभाग, काव्य का लक्षण, विभाव, भाव, रस, शब्दशक्ति और ध्वनि। यद्यपि ग्रंथ का नाम रस-मीमांसा है, परन्तु काव्य के लक्षण, विभाग एवं शब्दशक्ति आदि विषयों को इसलिए लिया है कि ये रस से सम्बन्धित हैं। रस काव्य की आत्मा होता है, काव्य सगुण, अदोष और सालंकार शब्दार्थ को कहते हैं और ध्वनि शब्द-शक्तियों में तृतीय शक्ति व्यंजना ही का नाम है। इस प्रकार ये सब विषय परस्पर सम्बन्धित हैं। रस के विवेचन के लिए इनका प्रतिपादन आवश्यक था। प्राय: शुक्ल जी ने सम्पूर्ण विवेचन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर ही किया है, परन्तु एक विशेषता है कि वे रस को आध्यात्मिक नहीं मानते और न उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं। उसे वे केवल मनसा चर्व्य एवं आस्वाद्य मानते हैं। इस मीमांसा में आलोचनात्मक विवेचन भी इनकी मौलिकता है।

शुक्ल जी ने काव्य को दर्शन की भाँति मुक्ति का साधन माना है। जिस प्रकार दर्शन ज्ञान को मुक्ति का साधन बताता है उसी प्रकार काव्य का सात्विक भाव भी मनुष्य को मुक्ति दिलाता है। दर्शन बुद्धि के पाद-पीठ पर

विराजता है तो काव्य हृदय के सिंहासन पर। एक में कठोरता है तो दूसरे में सरसता। एक में तर्क की भीषण लपटें हैं तो दूसरे में मन्द झकोरे। काव्य केवल मनोविनोद की ही वस्तु नहीं, वह आत्मचेतना का साधन भी है। इस काव्य की आत्मा रस मानी गई है। अतः इसके निरूपण के लिए काव्य का विवेचन उपयुक्त ही है। वास्तव में काव्य रसानुभूति का मूल साधन है। काव्य ही चराचर जगत् के प्रति मानव हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न कर प्रेम उत्पन्न करता है। जगत् आलम्बन है और हृदय उसके विविध चित्रों का आश्रय है, जहाँ उनका नाना भावों द्वारा मस्तिष्क की सहायता से विश्लेषण होता है। मस्तिष्क की सहायता से इसलिए कि पागल के हृदय में यह प्रक्रिया नहीं होती। पागल संगीत से तरंगित हो सकता है, काव्य से नहीं। जगत् काव्य का विषय है और काव्य में चित्रित उसी के वासना रूप से मानव-मन में रमे हुए विभिन्न रूप रसानुभूति का प्रधान कारण बनते हैं, अतः काव्य का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शुक्ल जी ने रसानुभूति के प्रधान कारण काव्य में कल्पना को बड़ा महत्व दिया है। काव्य में भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमान चराचर जगत् जो आलम्बन या उद्दीपन के रूप में हैं, कल्पना के बल पर ही चित्रित होता है। कहा जा चुका है कि मानव-मन में विविध भाव वासना रूप में विद्यमान रहते हैं, उनमें से नौ स्थायी हैं और कुछ ऐसे हैं जो संचरणशील हैं, उनकी संख्या आचार्यों ने तेतीस बताई है, परन्तु वास्तव में उनकी कोई गणना नहीं। मानस की तरंगें गिनी नहीं जा सकतीं। मानव-हृदय के स्थायी भाव ही रसानुभव के उपादान कारण हैं, अन्य भाव निमित्त कारण हैं। रसानुभूति में शुक्ल जी ने भट्ट नायक एवं अभिनवगुप्त के साधारणीकरण को बड़ा महत्व दिया है। भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद एवं शंकुक के अनुमितिवाद से वे सहमत नहीं। उन्होंने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को ही स्वीकृत किया है, अतः इस ग्रंथ में शब्द-शक्तियों एवं ध्वनि (अभिव्यंजना) का भी विवेचन किया है।

अनुवाद—पहले लिखा जा चुका है कि शुक्ल जी ने कई अंग्रेजी एवं बँगला पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में किया। उनकी तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है—

अनुवाद	मूलग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
कल्पना का आनन्द	एडीसन कृत ऐसेज ऑन इमैजिनेशन
राज-प्रबन्ध-शिक्षा	सर टी माधवराय कृत माइनर हिंट्स
विश्व-प्रपञ्च	हीगल-निर्मित रिडिल ऑफ दि यूनिवर्स
आदर्श जीवन	स्माइल-रचित प्लेन लिविंग ऐण्ड हाई थिंकिंग्

मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण	डा० श्वानवक कृत मेगस्थनीज इण्डिया
बुद्धचरित	एडविन आर्नल्ड कृत लाइट आफ एशिया
शशांक	राखालदास बन्द्योपाध्याय निर्मित शशांक

शुक्ल जी के अनुवादों में एक विशेषता है कि उनमें कृत्रिमता नहीं आने पाई है जैसा कि प्राय: अनुवादों में हुआ करता है। इन अनुवादों में बुद्ध-चरित एवं शशांक ही विशेषतया उल्लेखनीय हैं, अत: उन्हीं पर सूक्ष्मत: प्रकाश डाला जाता है।

शुक्ल जी ने 'बुद्ध-चरित' को अंग्रेजी कवि एडविन आर्नल्ड कृत 'लाइट आफ एशिया' के अनुवाद् रूप में उपस्थित किया है। काव्य का काव्य में ही अनुवाद है, जो एक बड़ा विषम प्रयास है। काव्य का गद्य में अनुवाद सरल होता है क्योंकि मूलभावों को गद्य में संचित करने का अवसर अधिक होता है परन्तु कविता में भावछाया बड़ी बाधा डालती है और वह भी चुने हुए वर्ण एवं मात्राओं से आबद्ध छन्दों में। मूल पुस्तक एक ही छन्द—ब्लैंक वर्स—में है परन्तु शुक्ल जी ने कवित्त-सवैया आदि कई छन्दों को अपनाया है। पूर्ण भावों का स्थापन करते हुए छन्दों में कहीं भी शैथिल्य नहीं आया है। भाषा तो ब्रज के पूर्ण माधुर्य के साथ छन्दों में कस कर बैठी है। पुस्तक को पढ़ कर कोई नहीं कह सकता कि यह अनुवाद है वरन् एक स्वतंत्र काव्य के रूप में प्रतीत होती है। वास्तव में यह एक सफल प्रयास है जो अपने क्षेत्र में अनुपम है। अंग्रेजी एवं हिन्दी के उद्भट विद्वान् होने के कारण अंग्रेजी का प्रत्येक भाव निखर तो गया है परन्तु कहीं भी मन्द नहीं पड़ा है।

आर्नल्ड साहब भगवान् बुद्ध की जीवनी से पूर्ण परिचित न थे अत: उन्होंने ऐतिहासिक भूल भी की हैं, यथा—आर्नल्ड ने भवनोपवन में ही शालवृक्ष. के नीचे बुद्ध जी का जन्म लिखा है जब कि जातकग्रन्थों के अनुसार उनका जन्म लुम्बिनी वन में हुआ था। शुक्ल जी ने जातक ग्रन्थों के अनुसार ही लिखा है। इसके अतिरिक्त वस्तु एवं भाव की व्यंजना में तो अनेक स्थलों पर शुक्ल जी आर्नल्ड नं कहीं आगे बढ़ गए हैं। उदाहरणार्थ एक स्थान पर आर्नल्ड ने लिखा है—

The thoughts ye cannot stay
With brozen chains,
A girl's Hair lightly binds.

इसका अनुवाद शुक्ल जी ने इस प्रकार किया है—

लौह-सींकड़ सौं नहीं जो भाव रोको जाय।
कुटिल-कामिनि-केश सौं सो सहज ही बँधि जाय ।।

देखिए अनुवाद में कितनी नैसर्गिकता और मार्मिकता है। आर्नल्ड पीतल की शृंखलाएँ बताते हैं जबकि शुक्ल जी लोहे की, उन्होंने लड़की के बाल लिखा है जब कि इन्होंने कामिनि के केश और वे भी कुटिल। लड़की के बालों की अपेक्षा कामिनी के केश बड़े भी होते हैं, कुटिल भी होते हैं और उनमें भावों को बाँधने की शक्ति भी होती है। काले होने के नाते लौह-शृंखलाओं से साम्य भी ठीक बैठता है। केश हैम तो होते हैं, पित्तली नहीं। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर शुक्ल जी आर्नल्ड को पीछे छोड़ गए हैं। कहीं-कहीं उन्होंने मौलिकता भी दिखाई है। ऐसा वहीं हुआ है जहाँ आर्नल्ड महोदय अज्ञानवश त्रुटि कर गए हैं, जैसे उन्होंने एक स्थान पर वसंत में हल जोतना लिखा है परन्तु शुक्ल जी ने उसे खलिहान कर दिया है, जो ठीक है। संभवत: आर्नल्ड ने अपने दृष्टिकोण से लिखा है, वहाँ की स्त्रियों के बाल प्राय: काले नहीं होते हैं और संभवत: वहाँ वसंत में हल चलते हों परन्तु शुक्ल जी भारतीय थे, उनसे यह भूल छिप कर नहीं निकल सकती थी।

यदि हम इस अनुवाद में उनके दृष्टिकोण को देखना चाहते हैं तो इसके लिए 'बुद्धचरित' के प्रारम्भिक वक्तव्य को देखें। वे लिखते हैं—"यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिन्दी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया । दृश्य वर्णन जहाँ अयुक्त और अपर्याप्त प्रतीत हुए वहाँ बहुत कुछ फेर-फार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।"

शशांक राखालदास बन्द्योपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास शशांक का अनुवाद है। अनुवाद भाव का आश्रय लेकर लिखा गया है, कलेवर पर इतना ध्यान नहीं दिया गया है, अत: शुक्ल जी की भाषा में कुछ गम्भीरता आगई है परन्तु सौष्ठव ज्यों का त्यों है। एक और विशेषता करदी है कि मूल उपन्यास दु:खान्त है परन्तु अनुवाद सुखान्त है। सम्भवत: शुक्ल जी को भारतीय परम्परा के अनुसार यही अच्छा जँचा होगा।

इतिहास—इन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' एवं 'फारस का प्राचीन इतिहास,' ये दो इतिहास लिखे। हिन्दी साहित्य का इतिहास इनकी अमर कृति है। ऐसा आलोचनात्मक सुचारु शैली से लिखा गया दूसरा इतिहास

नहीं। इनका कालविभाग भी काल-प्रवृत्ति के अनुसार हुआ है अतः मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक इसलिए कि उनकी शैली पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त है। काल के प्रारम्भ में उसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए आगे सामयिक कवियों के विषय में इतिवृत्तात्मक एवं रचनाओं के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन बड़े सुन्दर ढंग पर हुए हैं। विषय का प्रतिपादन सूक्ष्मतः हुआ है परन्तु अपने में पूर्ण सटन और गठन के साथ है। आधुनिक काल को गद्यकाल बतलाते हुए उन्होंने गद्य की नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध एवं समालोचना सम्बन्धी बहुमुखी प्रगति पर बड़ा उज्ज्वल प्रकाश डाला हैं। साथ ही कविता-पुस्तकों का भी विवरण देते हुए आधुनिक काल में उद्भूत नए वादों—छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद आदि—की भी मनोरम विवेचना की है। इनके इतिहास के विषय में अधिक कहना उचित नहीं क्योंकि उसकी महत्ता इसी से उद्घोषित हो रही है कि हिन्दी साहित्य के कवि एवं उसकी कृति पर कोई रचना ऐसी नहीं जिसमें इनके इतिहास से सहायता न ली गई हो या न ली जाय।

कविता—बुद्ध-चरित शुक्ल जी का अनूदित काव्य ग्रन्थ है। उस पर सूक्ष्मतः प्रकाश डाला जा चुका है। उनकी फुटकर कविताएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो देश, जाति एवं अपनी भाषा से सम्बन्ध रखती हैं और दूसरी वे जिनमें प्रकृति का चित्रण हुआ है। 'भारतेन्दु जयन्ती', 'हमारी हिन्दी', 'गोस्वामी जी और हमारी हिन्दू जाति', 'प्रेम-प्रताप' और 'भारत और बसन्त' आदि कविताएँ प्रथम वर्ग में आती हैं, कुछ उनकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। वास्तव में कवि की कला इन्हीं प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में ही चमकी है। प्रथम प्रकार की रचनाओं में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता है परन्तु द्वितीय प्रकार की रचनाओं में अभिव्यञ्जना को उचित स्थान मिला है।

उदाहरणार्थ एक छन्द नीचे उद्धृत किया जाता है—

ग्राम के सीमान्त का सुहावना स्वरूप अब,
भासता है भूमि कुछ और रंग लाती है।
कहीं-कहीं किंचित् हेमाभ हरे खेतों पर,
रह-रह श्वेत शक आभा लहराती है।

उमड़ी सी पीली भूरी हरी द्रम पुञ्ज घटा,
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती ही जाती है।
उसी में विलीन एक ओर धरती ही मानो,
घरों के स्वरूप में उठी सी दृष्टि आती है ।।

देखिए शब्दों में कितना मधुर सामञ्जस्य है और चित्रण कितना सहज एवं सजीव है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सं० १९२२ (सन् १८६५ ई०) में निजामाबाद में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय और माता का नाम रुक्मिणी देवी था। पाँच वर्ष की अवस्था में इनके पितृव्य पं० ब्रह्मसिंह ने गृह पर ही इनका शिक्षण प्रारम्भ किया। ब्रह्मसिंह बड़े धर्मनिष्ठ और चरित्रशील विद्वान् थे अतः इनमें भी धर्म, चरित्र और विद्या के पवित्र और दृढ़ अंकुर जम गए। दो वर्ष पर्यन्त घर पर ही विद्याध्ययन कराने के पश्चात् इन्हें निजामाबाद के मिडिल स्कूल में प्रविष्ट कराया गया। घर में ब्रह्मसिंह जी प्रायः भागवत की कथा कहा करते थे, जिससे बालक अयोध्यासिंह के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति एक मधुर आकर्षण हो गया। घर पर उनकी संस्कृत-शिक्षा प्रारम्भ हुई, अध्यापक थे स्वयं पं० ब्रह्मसिंह। स्कूल में ये मौलवी इमामअली से फ़ारसी भी पढ़ते थे। मिडिल पास होने पर इन्हें छात्र-वृत्ति मिली और अंग्रेजी पढ़ने के लिए क्वींस कॉलेज बनारस भेजा गया। परन्तु वहाँ इनका स्वास्थ्य ठीक न रहा अतः इन्हें घर बुला लिया गया और पुनः संस्कृत और फ़ारसी का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। शनैः-शनैः संस्कृत और फ़ारसी का उत्कृष्ट ज्ञान इन्हें हो गया। इसी बीच इन्हें साहित्य-गोष्ठियों में जाने का अवसर मिला और हिन्दी की ओर रुचि हुई। धीरे-धीरे हिन्दी का परिज्ञान भी इन्हें अधिक हो गया और हिन्दी में कविता करने लगे। निजामावाद में सिख-सम्प्रदाय के स्थानीय गुरु सुमेरसिंह के यहाँ कवि-समाज एकत्र होता था, उपाध्याय जी भी उसमें समस्यापूर्तियाँ पढ़ते थे। उस समय ये 'हरिऔध' के उपनाम से कविता करते थे और तभी से यह चला आ रहा है।

जब ये पन्द्रह-सोलह वर्ष के थे, एक बंगाली महाशय तारिणीचरण से इनका परिचय हुआ और इन्होंने बँगला का अध्ययन प्रारम्भ किया। शीघ्र ही ये बँगला को भली-भाँति समझने लगे और इन्होंने अनेक बँगला के ग्रन्थों को पढ़ा, जिनसे इन्हें बड़ी प्रेरणा मिली।

विवाहोपरान्त आजीविका की चिन्ता हुई और पं० रामवर्ण के प्रयत्न से निजामाबाद के स्कूल में ही ये अध्यापक हो गये। शिक्षाविभाग के सहकारी निरीक्षक बाबू श्याममनोहरदास हिन्दी के बड़े प्रेमी थे और हरिऔध जी की कविताओं से बड़े प्रभावित थे। जब पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र द्वारा सम्पादित 'काशीपत्रिका' में प्रकाशित उर्दू के 'बेनिस का बाँका' और 'रिपवान विंकल' नामक दो उपन्यासों को हिन्दी में अनुवाद करने का प्रश्न उठा तो उन्होंने हरिऔध जी को ही चुना। इन्होंने इसको स्वीकार किया और अनुवाद कर दिया, जो इतना सुन्दर हुआ कि सभी ने प्रशंसा की।

आजमगढ़ के सदर कानूनगो बाबू धनपतिलाल ने जब 'बेनिस का बाँका' की आलोचना पढ़ीं तो उनका ध्यान भी इनकी ओर गया और उन्होंने इन्हें कानूनगोई की परीक्षा में बैठने के लिए प्रेरित किया। उत्तीर्ण होने के पश्चात् इन्हें कानूनगोई भी दिलवाई और लगभग ३५ वर्ष इन्होंने इस क्षेत्र में सम्मान-पूर्वक कार्य किया। पुनः महामना मदनमोहन मालवीयजी के कहने से इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापन का अवैतनिक कार्य स्वीकृत किया और सन् १९४१ (सं० १९९८) तक वहीं कार्य करते रहे। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने पर ये आजमगढ़ में स्थायी रूप से रहे और ५ वर्ष पश्चात् सन् १९४७ में छः मार्च को इस असार संसार को छोड़ गए।

कृतियाँ—उपाध्यायजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने, कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध और समालोचना सभी के क्षेत्र में अत्यधिक कार्य किया। उनकी रचनाओं की तालिका विषयानुसार इस प्रकार बना सकते हैं—

काव्य-ग्रन्थ—प्रियप्रवास, वैदेही बनवास, रसकलश, पद्यप्रसून, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रस्त्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह, प्रेमपुष्पोपहार, प्रेम प्रपंच, काव्योपवन, कल्पलता, पारिजात और सतसई आदि।

उपन्यास—अनुवाद—वेनिस का बाँका, रिपवान विंकल, मौलिक—ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधखिला फूल।

नाटक—रुक्मिणी परिणय और प्रद्युम्न विजय व्यायोग।

आलोचनात्मक—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली की आलोचना और साहित्य संदर्भ।

रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टि—अयोध्यासिंह उपाध्याय को बाल्यकाल से ही संस्कृत और फ़ारसी की उचित शिक्षा मिली थी, अतः आगे चलकर इन भाषाओं के ग्रन्थों का अध्ययन ये गम्भीरता से कर सके, जिसने इन्हें प्रखर प्रतिभा प्रदान की। संस्कृत के परिज्ञान एवं हिन्दी-वातावरण से इन्हें हिन्दी में

भी उत्कट अभिरुचि हो गई और यौवन से पूर्व ही कविता करने लगे। सुमेर-सिंहजी के यहाँ जो कवि-गोष्ठियाँ होती थीं, उनमें ये भाग लेते थे। उस समय प्राय: व्रजभाषा में कविता होती थी क्योंकि भारतेन्दुजी की शिष्य-मण्डली का बोलबाला था। उपाध्याय जी की अवस्था १५-१६ वर्ष की थी। ये भी व्रज-भाषा में समस्यापूर्ति करने लगे, छन्द होते थे कवित्त और सवैया।

सत्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'श्रीकृष्ण शतक' लिखा। यह शतक सम्भवत: संस्कृत के शतकों को देखने के पश्चात् ही लिखा गया होगा, परन्तु यह कोई प्रशंसनीय कृति नहीं है, क्योंकि इसमें कवि का ध्यान भाषा को अलंकृत करने की ओर अधिक है न कि भाव की ओर। श्रीकृष्ण के विषय में लिखा हुआ ग्रंथ है और वह भी एक किशोर द्वारा, जो न भक्त है और काव्यदृष्टि से सशक्त। ग्रंथ का कलेवर तो है, परन्तु प्राणहीन। यह सब कुछ होते हुए भी इससे उपाध्याय जी की कवि-प्रतिभा का पता अवश्य लगता है।

बीस वर्ष की अवस्था में सन् १८८५ ई० में इन्होंने 'रुक्मिणी परिणय' नामक नाटक लिखा और तीन महीने पश्चात् 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' का निर्माण किया, किन्तु इनका प्रकाशन उस समय न हो सका और लगभग दस वर्ष पश्चात् हुआ। ये नाटक नाट्यकला की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इन्होंने सम्भवतः हाथ आजमाने के लिए ही इन्हें लिखा था। 'रुक्मिणी-परिणय' की कथावस्तु के चतुर्थ अंग नियताप्ति की सहायक अवमर्श संधि का विधान समुचित नहीं है। फलागम में नाटक का उद्देश्य तो पूरा हुआ है, परन्तु कथानक में शिथिलता आ गई है। शृंगार-रस की प्रधानता होने से माधुर्य तो है, परन्तु नाटकीय शैली का बलाघात नहीं। 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' में कविता का आनंद अवश्य उठाया जा सकता है। इसमें पात्र बहुत थोड़े हैं और उनका बार-बार रंगमंच पर आना नवीनता का हनन कर देता है, अतः कविता भी थकाने वाली प्रतीत होती है। कविता भी प्राचीन ढंग की है। हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने 'धनंजय-विजय' नामक व्यायोग लिखा था, तदनंतर उपाध्याय जी ने यह व्यायोग लिखा, इस प्रकार यह दूसरा व्यायोग है, अतः कुछ महत्व रखता है।

उपरिलिखित तीनों ही कृतियाँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखती हैं, इससे उपाध्याय जी का श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण और अनुराग विदित होता है।

सन् १८८७ में इन्होंने 'बेनिस का बाँका' और 'रिपवान विंकल' नामक उर्दू के दो उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया। इन अनुवादों में रोचकता तो

हैं, परन्तु अशुद्धियाँ अधिक हैं। भाषा सुसंस्कृत होती हुई भी उसमें एक गतिमान् प्रवाह नहीं है।

इनसे उत्साहित हो सन् १८९९ (सं० १९५६) में इन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास लिखा। और पुनः सन् १९०७ (सं० १९६४) में 'अधखिला फूल' लिखा। उपर्युक्त अनुवादों में भाषा में संस्कृत का प्राबल्य था, परन्तु इन उपन्यासों में ठेठ हिन्दी को स्थान दिया। डॉ० ग्रियर्सन ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की आलोचना में इसकी भाषा को सुन्दर और ओजपूर्ण लिखा है। 'अधखिला फूल' के विषय में भी ऐसी ही बात है। परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ता है कि इनकी भाषा सरल और मधुर होती हुई भी अधिक सुन्दर नहीं। प्रथम उपन्यास में ग्राम्यता अधिक है और द्वितीय के पद्यों में फ़ारसीपन। कथा-बन्ध भी उच्च-कोटि का नहीं। इनमें उपन्यास लिखने का एक प्रयत्न-सा दीख पड़ता है। हाँ, उपाध्याय जी ने जो आदर्श उपस्थित किए हैं वे अवश्य ऊँचे हैं। 'ठेठ हिन्दी के ठाठ' में देवबाला के चरित्र से एक आदर्श पत्नी का रूप चित्रित किया गया है और देवनन्दन के चरित्र से यह दर्शाया है कि विरक्त जीवन से समाज एवं देश की सेवा करना कहीं महत्वपूर्ण है। 'अधखिला फूल' में भी देवदूती और देवस्वरूप के चरित्र से भी ये ही आदर्श उपस्थित किये गए हैं। इन उपन्यासों के इन प्रधान पात्रों ने हरिऔध जी को प्रिय-प्रवास के कृष्ण और राधा के चित्रण में बड़ी सहायता दी है, यह ज्ञातव्य है।

सन् १८९९–१९०० में इनके तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए—'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बुप्रस्रवण' और 'प्रेमाम्बु-प्रवाह'। इनमें श्रीकृष्ण विषयक ब्रजभाषा की कविताओं का संकलन है। इन पर भारतेन्दु जी का प्रभाव स्पष्ट है। कहीं-कहीं रसखान आदि कवियों का प्रभाव भी दीख पड़ता है, यथा—

उपाध्याय जी—

भजहु जन जदुपति कमलानाथ।
सेस सुरेस गनेस सम्भु अज जेहि पद नावत माथ।

रसखान—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावें।

इनके पश्चात् 'प्रेमप्रपंच' लिखा। उपर्युक्त 'प्रेमाम्बुवारिधि,' 'प्रेमाम्बु-प्रस्रवण' और 'प्रेमाम्बुप्रवाह' तथा 'प्रेमप्रपंच' को एक ही ग्रन्थ में संकलित कर 'काव्योपवन' नाम से प्रकाशित किया।

उपाध्यायजी ने अब तक जो कुछ लिखा वह भारतेन्दु युग की कृतियाँ

कही जा सकती हैं क्योंकि उनमें कविता ब्रजभाषा की है तथा शैली भी प्राचीन परम्परानुगत एवं इतिवृत्तात्मक है। उनका कृष्णविषयक प्रेम भी प्राचीन परम्परा का ही सूचक है। उपन्यास एवं नाटकों में खड़ी बोली का व्यवहार किया है परन्तु भाषा में प्रवाह नहीं, यद्यपि काव्योपवन में संग्रहीत चारों रचनाएँ द्विवेदी काल में लिखी गई परन्तु उन पर प्राचीन प्रभाव ही अधिक है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के कट्टर पक्षपाती थे अतः भाषा में वे संस्कृत पदावली को प्रोत्साहन देते थे। 'सरस्वती' के सम्पादक होने पर उन्होंने आलोचनाओं द्वारा इस कार्य को निर्भयता से सम्पादित किया। उपाध्याय जी पर भी उनका बड़ा प्रभाव पड़ा और इन्होंने संस्कृत के छन्दों में एवं संस्कृत-बाहुल्य भाषा में कविता लिखना प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप सन् १९१४ (सं० १९७१) में इनका 'प्रियप्रवास' नामक काव्य प्रकाशित हुआ। इसमें भी श्रीकृष्ण एवं ब्रज-निवासियों का ही वर्णन है। यह ग्रन्थ ही इनकी अमर कृति है अतः हम इस पर अन्त में पृथक् रूप से विचार करेंगे।

प्रियप्रवास के पश्चात् इनका दूसरा महाकाव्य है 'वैदेही बनवास'। जैसा कि नाम से ही पता चल रहा है, यह एक करुण रस का काव्य है। काव्य उत्तम कोटि का है परन्तु उतना श्रेष्ठ नहीं बन पड़ा है जितना प्रियप्रवास।

प्रियप्रवास में तत्सम शब्दों की भरमार थी और वृत्त भी संस्कृत के थे परन्तु इसके अनन्तर उपाध्याय जी ने एक नवीन प्रणाली को अपनाया, जिसमें भाषा में चलताऊपन और मुहावरों की भरमार है। इस शैली पर लिखी गई इनकी रचनाएँ हैं—'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल'। इस शैली पर कुछ चौपदे ये 'अधखिला फूल' में लिख चुके थे। स्वयं हरिऔध जी के अनुसार ये पुस्तकें चलती भाषा में मुहावरों का ठीक प्रयोग करने के लिए ही लिखी गई। ये रचनाएँ सन् १९२४ में निर्मित हुई। इनमें संस्कृत का मोह छूट सा गया है और विदेशीपन स्पष्ट झलक रहा है, उर्दू एवं फारसी के ही ढंग पर छन्दों का प्रयोग एवं उक्ति-वैचित्र्य है। परन्तु हिन्दू-संस्कृति, जाति, धर्म और देश के प्रति श्रद्धा का और कुप्रथाओं के प्रति निन्दा का बड़ा प्रदर्शन है। काकु वक्रोक्ति, व्याजोक्ति एवं व्यंग्योक्तिओं का बड़ा सुन्दर प्रयोग इन रचनाओं में मिलता है। जैसी चुटकियाँ इन्होंने ली हैं एवं फबतियाँ कसी हैं वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

स्वार्थियों के प्रति वे लिखते हैं—

मतलबों का भूत सिर पर है चढ़ा,
दूसरों पर निज बला टालें न क्यों।

जब गयी हैं फूट आँखें भीतरी,
लोन राई आँख में डालें न क्यों।

हिन्दुओं के प्रति—

हरिऔध चल होते अचल बने ही रहे,
बार-बार वैरियों का होता बोलबाला है।
पाला कैसे मारें पाले पड़े हैं कचाइयों के,
हिन्दुओं के लोहू पर पड़ गया पाला है।
हरिऔध हिन्दुओं में हिम्मत रही ही नहीं,
हार को सदा ही हार गले का बनावेंगे।
चोटी काट-काट वे सचाई का सबूत देंगे,
यूनिटी को पाँव चाट-चाट के बचावेंगे।

अछूतों के प्रति—

जिन्हें हम छूते नहीं समझ अछूत,
जो हैं माने गये सदा परम पतित,
पास उनके होता क्या नहीं हृदय ?
वेदनाओं से वे होते क्या नहीं व्यथित ?
क्या उसी से कढ़ी न गंगा हैं ?
बल उसी के न क्या पुजे वावन ?
हैं अपावन अछूत तब कैसे ?
है भला कौन पाँव सा पावन ?

जाति, देश एवं लोक की सेवा के विषय में—

हो न जिसमें जाति-हित का रंग कुछ,
बात वह जी में ठनी तो क्या ठनी।
हो सकी जब देश की सेवा नहीं,
तब भला हम से बनी तो क्या बनी।
उस कलेजे को कलेजा क्या कहें,
हो नहीं जिसमें कि हित धारें वहीं।
भाव सेवा का सके तब जान क्या,
कर सके जब लोक की सेवा नहीं।

देश की दुर्दशा पर—

दें न हलवे छीन तो करवे न लें,
नाथ कब तक देखते जलवे रहें ?

कब तलक बलवे रहेंगे देश में,
कब तलक हम चाटते तलवे रहें ?

बेमेल विवाह पर—

बंस में घुन लगा दिया उसने,
औ नई पौध की कमर तोड़ी ।
जाति को है तबाह कर देती,
एक अल्हड़ अधेड़ की जोड़ी ।

इन उदाहरणों से हमें 'हरिऔध' जी की उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त शैली का भली-भाँति ज्ञान हो सकता है और साथ ही देश, धर्म, जाति, लोक एवं समाज के प्रति दृष्टिकोण का भी पता लग जाता है । फारसी की मसनवियों में जो नोंक-झोंक और व्यंग्योक्तियाँ हमें शृंगार के क्षेत्र में मिलती है वे इन रचनाओं में उपर्युक्त क्षेत्रों में उपलब्ध हैं । वास्तव में ये चौपदे चोखे और चुभते ही हैं । कवि द्वारा व्यवहृत 'चोखे' और 'चुभते' शब्दों में ही इनकी समस्त विशेषताएँ अन्तर्निहित हैं । हरिऔध जी ने 'चोखे चौपदे' को बहुत ऊँचा स्थान दिया है क्योंकि इसमें भावों के साथ अलंकारों की योजना भी बड़ी सुन्दर है ।

इन रचनाओं के अनन्तर सन् १९२५ में इन्होंने 'पद्यप्रसून' की रचना की । इसमें भाषा के दोनों ही रूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं—साहित्यिक भी और बोलबाल का भी ।

जिस समय हरिऔध जी ब्रजभाषा की कविता करते थे उस समय उन्होंने शृंगारिक रचनाएँ भी कीं । वे सभी प्रायः 'रसकलश' में रसांगों के उदाहरण के रूप में संग्रहीत हैं । इस ग्रन्थ में शृंगार के अन्तर्गत नायिकाभेद का बड़ा विशद विवेचन है । इस प्रसंग में इन्होंने रीतिकालीन कवियों को तो समक्ष रक्खा ही है, साथ ही नई उद्भावनाएँ भी की हैं, यथा नायिका के अनेक परम्परागत भेदों में जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका एवं निजता-नुरागिनी आदि भेद भी सम्मिलित किए हैं । यद्यपि शृंगारिक वर्णन में भावुकता पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुई है परन्तु नग्नता नहीं आने पाई है । विपरीत रति आदि का वर्णन इन्होंने नहीं किया है । बड़े लालित्य के साथ विषय-प्रतिपादन में अलंकार योजना भी सुन्दर हुई है ।

काव्य-ग्रन्थों में 'कल्पलता', 'पारिजात' एवं 'सतसई' विशेष महत्व नहीं रखते ।

उपरिलिखित काव्य-ग्रन्थों एवं उपन्यास-नाटकों के अतिरिक्त हरिऔध जी ने कुछ निबन्धात्मक एवं आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे । अपनी रचनाओं में

से अनेकों की भूमिका में इन्होंने अपने तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं तथा उनके अतिरिक्त 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास विवेचित किया है। यह ग्रन्थ इस विषय में कोष का एक रत्न अवश्य है परन्तु कोई प्रमुख विशेषता नहीं रखता। 'साहित्य-संदर्भ' में साहित्यिक निबन्ध हैं, जो बड़ी चटपटी मुहावरेदार भाषा में लिखे हुए है। कबीर की वाणी का सम्पादन करते हुए इन्होंने उसकी भूमिका में उसकी आलोचना भी की है, जो कर्त्ता के जीवन के साथ उसकी कृति पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है। इस प्रकार निबन्ध एवं आलोचना के क्षेत्र में भी इन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

हरिऔध जी की अमर कीर्ति का कारण है 'प्रियप्रवास' अतः अब उस पर विचार करते हैं।

प्रियप्रवास—यह काव्य खड़ी बोली का एक महाकाव्य है। खड़ी बोली में इससे पूर्व बहुत छोटे-छोटे काव्य थे। मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' ही एकमात्र काव्य था जो कुछ बड़ा था परन्तु वह भी खण्डकाव्य था और तुकान्त एक ही मात्रिक छन्द में था। हरिऔध जी को यह त्रुटि ज्ञात हुई और उन्होंने संस्कृत के भिन्नतुकान्त छन्दों में इस महाकाव्य की रचना की। पहले इसका नाम 'ब्रजांगना-विलाप' रक्खा परन्तु यह नाम रुचिकर न होने के कारण इसके स्थान पर 'प्रिय-प्रवास' रख दिया। संसार में अन्त्यानुप्रास से युक्त कविता का आदर प्रायः सभी भाषाओं में रहा है परन्तु संस्कृत में प्रायः अन्त्यानुप्रासहीन कविता ही दृष्टिगोचर होती है और वह भी वर्णिक वृत्तों में। इस प्रकार की कविता सरल भी होती है परन्तु हरिऔधजी ने प्रियप्रवास में कविता की इस शैली का जो व्यवहार किया है वह सुगमता के लिए नहीं वरन् इसे जनप्रिय बनाने के लिए ही किया है। इससे पूर्व पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'कंस-वध' काव्य लिखा था परन्तु वे सफल न हुए।

यह एक महाकाव्य है, जो सत्रह सर्गों में समाप्त हुआ है। इसके नायक हैं यदुपति महाराज कृष्ण और नायिका है राधा। इसमें श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर तथा उनके द्वारा प्रेषित उद्धव के समक्ष ब्रजांगनाओं का विलाप और गोपों का दीर्घकालीन गुण-कीर्तन है। गुण-वर्णन में श्रीकृष्ण के बल-पराक्रम का यथोचित चित्रण है। प्रकृति का चित्रण भी बड़ा सुन्दर हुआ है। इसका उद्देश्य है प्रेम की प्रतिष्ठा और त्याग की स्थापना। इस प्रकार यह काव्य शास्त्रीय दृष्टि से एक महाकाव्य है।

इस काव्य में चरित्रचित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। **श्रीकृष्ण** का चित्रण इसमें

एक महापुरुष के रूप में हुआ है। हरिऔध जी 'प्रियप्रवास' की भूमिका में लिखते हैं—

"हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते हैं, उनका चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है तो हम उसके प्रति पंक्ति में या न्यून से न्यून उसके प्रति पृष्ठ में ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते हैं, जिसमें उसके ब्रह्मत्व का निरूपण हो। जो सज्जन इस विचार के हों, वे मेरे प्रेमाम्बुप्रश्रवण, प्रेमाम्बुप्रवाह और प्रेमाम्बुवारिधि नामक ग्रन्थों को देखें; उनके लिये यह ग्रन्थ नहीं रचा गया है। मैंने श्रीकृष्ण को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।"

महाभारत और श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा ईश्वरावतार के रूप में हुई है। श्रीमद्भागवत के एक प्रसंग में महाराज परीक्षित ने भी शुकदेव मुनि से शंका प्रकट की कि श्रीकृष्ण ने गोपियों से समाज-मर्यादा के प्रतिकूल व्यवहार किया, यह कहाँ तक उचित था। तब मुनि ने उस शंका का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण में पारब्रह्मत्व बतलाया। परन्तु आज का व्यक्ति ऐसे समाधान से सन्तुष्ट नहीं हो सकता कि किसी को हम ब्रह्म बतलाकर अंकित करें और उसके कार्य ऐसे हों कि जिन्हें देखकर साधारण व्यक्ति भी घृणा करें। हरिऔध जी आधुनिकता से पूर्ण परिचित थे अतः उन्होंने श्रीकृष्ण को आदर्श पुरुष के रूप में ही वर्णित किया है। वे श्रीकृष्ण में आस्था रखते हैं परन्तु वह संकीर्ण और एकदेशीय नहीं। ब्रह्म को वे मानते हैं, जैसा कि राधा के वचनों से प्रतीत होता है—

जो आता है न मन चित में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय नहिं है नित्य अव्यक्त जो है।
है वेदों की गति न जिसमें औ गुणातीत जो है।
सो क्या है मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों?

परन्तु श्रीकृष्ण को ब्रह्मरूप में स्वीकार नहीं करते। वे मानव को सर्व-शिरोमणि मानते हैं और मानवता के चरम विकास को ही ईश्वरत्व की प्राप्ति कहते हैं। उनके अनुसार यही अवतारवाद है। इसीलिए वे श्रीकृष्ण को अवतारी पुरुष कहते हैं। उनमें मानव के दया, उदारता, उच्चता, दक्षता, सबलता और मनमोहकता आदि सभी उच्च गुण मिलते हैं।

श्रीकृष्ण का हृदय एक मनुष्य का हृदय था, उसमें अपार ममता, प्रेम और दया का कोष था। मथुरा से गमन करते हुए उद्धव से वे कहते हैं—

उनकी अनुरक्ति में संयति है, मर्यादा है, यह बात उन्हीं के शब्दों से ज्ञात होती है—

निर्लिप्ता और यदपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ।
तो भी होती व्यथित अति हूँ श्याम की याद आते।

राधा कृष्ण को प्रेम करती हैं परन्तु स्वयं प्रेम से वञ्चित हैं इसी से यदि वे संयत भी विकल हो जाती हैं तो आश्चर्य नहीं—

मैं नारी हूँ तरल उर हूँ प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त वैचित्र्य क्या है?

नारी का—प्यार से वंचित नारी का—पति-वियोग होने पर विकल रहना स्वाभाविक है—

आवेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है।
हाँ ज्ञानी और बिबुध जन में मुह्यता है न होती।

राधा ज्ञानभरी योगिनी नहीं थीं, वे तो प्रेमभरी एक नारी थीं।

प्रेम के अतिरिक्त राधा में उदारता और परोपकारशीलता का भाव भी उत्कट रूप में था। प्रेम ने उनकी आत्मा में इन गुणों को अपने समुज्ज्वल रूप में विकसित कर दिया था—

वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परमनिधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की।
राध्या थी अवनि ब्रज की प्रेमिका विश्व की थीं।

प्रेम की मूर्ति राधा रोगी और वृद्ध जनों की सेवा में लीन, सच्छास्त्रों के ज्ञान से युक्त और स्त्रीजाति की रत्न थीं—

रोगी-वृद्ध जनोपकार-निरता सच्छास्त्र-चिन्ता-परा।
राधा थीं सुमुखी विशाल-हृदया स्त्रीजाति-रत्नोपमा।

इस प्रकार सब प्रकार से हम राधा को श्रीकृष्ण के अनुरूप एक आदर्श नारी के रूप में देखते हैं।

इस काव्य में **यशोदा** का चरित्र भी बड़ा सुन्दर रूप में चित्रित हुआ है। यशोदा केवल माँ के रूप में ही दीख पड़ती हैं। मथुरा जाते समय वे अपने दोनों बालकों के खाने-पीने आदि के प्रबन्ध का समुचित ध्यान दिलाती हैं और चले जाने पर उनकी स्मृति में एक माँ की भाँति ही बातें करती हैं। उद्धव के साथ हुए वार्तालाप में भी हम उन्हें वे ही भोली वात्सल्य भरी बातें करते देखते हैं।

हरिऔध जी प्रकृति के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा

है—"घनपटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरित्री, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध विटपावली, कोकिल का कलरव, पक्षिकुल का कल निनाद, शरदृतु की शोभा, दिशाओं की समुज्ज्वलता, ऋतु-परिवर्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौन्दर्य, नाना प्रकार के चित्र, विविध वाद्य, मधुर गान, ज्योत्स्ना-रंजित यामिनी, तारक-मंडित-नील नभोमण्डल, सुचित्रित विहंगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्पचय मेरे आनन्द की अत्यन्त प्रिय सामग्री हैं।"

उससे प्रतीत होता है कि अयोध्यासिंह जी प्रकृति को अत्यधिक प्रेम करते हैं। उन्होंने प्रिय-प्रवास में **प्रकृति का चित्रण** अनेक प्रकार से किया है। कहीं तो कवि के हृदय को प्रकृति प्रिय होने के कारण स्वभावतः चित्रण हुआ है, कहीं उद्दीपन के रूप में हुआ है और कहीं प्रकृति में भाव-प्रकाशन के बहाने। काव्य के आरम्भ में ही हम धूलि-वेला का कैसा नैसर्गिक चित्रण देखते हैं—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम-वृन्द का।
कलनिनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली।
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी॥
अचल के शिखरों पर जा पड़ी।
किरण पादप-शीश-विहारिणी।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला।
गगन-मण्डल-मध्य शनैः शनैः।

जब उद्धव वृन्दावन के निकट पहुँचते है तो उन्हें गोबर्धन पर्वत दृष्टि-गोचर होता है। वह उन्नत मस्तक किए मानो ब्रजभूमि का मानदण्ड ही खड़ा था—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मै हूँ सुन्दर मानदण्ड ब्रज की शोभामयी भूमि का॥

इस पर्वत पर वृन्दाटवी भी अनेक पुष्पफलों से युक्त वृक्षों से सुशोभित थी, जहाँ पर—

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमली औ शिंशपा इंगुदी।
नारङ्गी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणीबद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े॥

वृन्दाटवी के वर्णन में अनेक वृक्ष एवं लताओं का वर्णन बड़ा मनोमुग्धकारी है, देखिए पारिजात एवं माधवी लता का वर्णन कितना सरस है—

विमुग्धकारी सित-पीत वर्ण के।
सुगंधशाली बहुशः सु-पुष्प से।
असंख्य पत्रावलि की हरीतिमा।
सुरंजिता थी प्रिय पारिजात की॥

स्व-सेत-आभामय दिव्य पुष्प से।
वसुन्धरा में अति-मुक्त-संज्ञका।
विराजती थी वन में विनोदिता।
महान-मेधाविनि-माधवी लता॥

कल्लोलित कालिन्दी का भी एक कलित चित्र अवलोकिए—

स-बुदबुदा फेनयुता सु-शब्दिता।
अनंत-आवर्त्त-मयी प्रफुल्लिता।
अपूर्वता अंकित थी प्रवाहिता।
तरंगमालाकुलिता कलिन्दजा॥

इस प्रकार हम अनेक स्थलों पर प्रकृति का चित्रण नैसर्गिक रूप में हुआ देखते हैं। इन वर्णनों से महाकाव्य के कलेवर को अलंकृत करना ही कवि का ध्येय होता है। ये चित्र नयनाभिराम और चित्ताकर्षक होते हैं। मानव प्रकृति का एक अंग है अतः प्रकृतिचित्रण में सहज रूप से ही उसे आनन्द मिलता है अतएव कवि काव्य में ऐसे सुअवसरों को हाथ से नहीं जाने देता, जहाँ वह सरलता से प्रकृति का चित्रण कर सकता है। इस काव्य में वसन्त का वर्णन भी बड़ा सरस और मनोहारी है। जिसका पहला छन्द वशीकरण-सा कर देता है—

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था।
वसुन्धरा थी कमनीयतामयी।

विचित्रता साथ विराजिता रही।
वसंत वासंतिकता वनान्त में॥

इसके अतिरिक्त इस काव्य में प्रकृति चित्रण उद्दीपन के लिए भी हुआ है। विरह में प्रकृति प्रायः हृदयगत रति, शोक एवं उत्साह आदि भावों को उद्दीप्त करती रहती है। यह प्रसिद्ध ही है कि शीतल चन्द्रमा भी विरहिणियों को सन्ताप देता है और दाक्षिणात्य पवन भी झुलसाता है। विरही तड़पने में ही मजा लेता है अतः उसे शीतल पदार्थ रुचिकर नहीं होते। तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी प्रिय की याद दिलाती है और विकलता उत्पन्न कर देती है। गगन में उड़ते हुए पक्षी से उत्कण्ठित राधा का मनश्चित्र देखिए—

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती॥

पुष्पित नीप की डालों को देखकर गोपियों को श्याम की मूर्ति याद आ जाती है—

फूली डालें सकुसुम-मयी नीप की देख आँखों।
आ जाती है हृदयधन की मोहिनी मूर्त्ति आगे॥

कहीं-कहीं पर प्रकृति में अपने हृदयगत भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य अपनी आँखों से देखता है और अपने मुँह से बोलता है अतः जैसा उसे दीखता या भासित होता है वैसा ही कहता है। सुखियों को चाँद-तारे सुख देते है और वियोगियों को दुख तथा पीड़ितों को उपहास-सा करते दृष्टिगोचर होते हैं। जब कृष्ण मथुरा के लिए प्रस्थान कर जाते हैं तब अन्यमनस्क राधा को पृथ्वी, आकाश और तारे सभी अपने साथ दुखी दिखाई देते हैं—

अवनि अति दुखी सी क्यों हमें है दिखाती।
नभ पर दुख-छायापात क्यों हो रहा है॥
सब नभ तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं॥
ब्रज-दुख लखके ही क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं॥

प्रियप्रवास में इस प्रकार प्रकृति ने उसकी वस्तु एवं भाव-व्यंजना में

पूर्ण योग दिया है। 'वायु-दूत' द्वारा भी राधा ने अपने ही भावों का व्यक्तीकरण किया है।

अब हम इस काव्य की काव्यकला पर विचार करते हुए इसके भाव पक्ष पर दृष्टिपात करते हैं। हरिऔध जी की इससे पूर्व कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि वे राधाकृष्ण के भक्त रहे हैं। '[illegible]', 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बुप्रस्रवण' और 'प्रेमाम्बुप्रवाह' में कृष्ण ब्रह्म के रूप में चित्रित हुए हैं, जैसा कि हमें निम्न पंक्तियों से विदित होता है—

नमत निगुण निरलेप अज, निराकार निरद्वन्द।
माया रहित विकार बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द॥

× × ×

अकल अनादि अज अजित अरूप अखि-
लेस जग भूप ज्योति अगम जगैया को।
तीन लोक विदित अजादि वन्दनीय विभु,
सन्त जन-काज नाना वपुख धरैया को।
हरिऔध ताप उपतापहि हरैया महा—
पातक कदन पापी पुंजन तरैया को।
जन वरदैया सुखदैया करवैया काज,
मैं तो जानों एक बलराम जू के भैया को॥

इनमें से प्रथम में ब्रह्म को निर्गुण कहा है और दूसरे में अकल कह कर पुनः सकल का सा वर्णन किया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम हरिऔध जी ब्रह्म को निर्गुण रूप में ही देखते थे परन्तु पश्चात् वह परात्पर ब्रह्म सगुणता धारण करता गया। दूसरे पद्य में वह निर्गुण-सगुण रूप में ही वर्णित हुआ है। और 'प्रियप्रवास' में वह कृष्ण ब्रह्म आदर्श पुरुष के रूप में चित्रित हुआ है क्योंकि हरिऔध जी जिसमें पूर्ण पुरुष के महत्तम गुण देखते हैं उसे अवतारी पुरुष मानते हैं। प्रियप्रवास के कृष्ण प्रेमी हैं, गुणज्ञ है, समाज-लोक-सेवक हैं और है महान् त्यागी। इसी प्रकार राधा भी कृष्णानुरत्ता, सर्वगुण-सम्पन्ना और परहित-संलग्ना हैं। राधा-कृष्ण का चरित्र पहले अंकित किया जा चुका है।

उद्देश्य भी मानव जीवन का चित्रण करते हुए प्रिय के वियोग में मानसिक एवं शारीरिक दशाओं का मार्मिक वर्णन करना है तथा साथ ही प्रेम, सेवा और त्याग की महत्ता को प्रतिस्थापित करना है और इसमें हरिऔध जी पूर्णतः सफल हुए हैं। विरह-वर्णन तो बड़ा ही मार्मिक है।

मरण के अतिरिक्त विरह की प्रायः सभी दशाओं का इसमें चित्रण है। इसी प्रकार यशोदा का विलाप एवं वात्सल्य भी अत्यन्त हृदय-विदारक और नैसर्गिक हैं। विरह-विकला राधा एक दिन मलिन सी बैठी है, सहसा वायु की सरसराहट सुनती है और उससे अपने प्रिय के पास संदेश ले जाने के लिए कहती है—

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले।
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा संदेसा।
मैं रो-रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जा के मेरी सब दुख-कथा श्याम को तू सुनादे।

इन शब्दों में कितनी व्यथा है और कितनी विवशता है। राधा का यह 'वायु-दूत' इस कृति का सुन्दरतम अंश है। कालिदास के 'मेघदूत' के आधार पर निर्मित यह दूत हिन्दी में अनुपम स्थान रखता है। इसकी अनेक मार्मिक उक्तियों में दैन्य, आशंका, व्रीड़ा और उत्कण्ठा आदि भावों की बड़ी अनूठी व्यंजना हुई है। इसी प्रकार इसके समस्त सम्वादों में भावाभिव्यंजना अत्यन्त उत्कृष्ट है।

इसका कलापक्ष भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। समूचा काव्य संस्कृत शब्दों से भरा पड़ा है। यदि कहा जाय कि क्रिया-पदों के अतिरिक्त संस्कृत-शब्दावली का ही बोलबाला है तो उचित होगा। परन्तु मेरे मतानुसार यह काव्य का दोष नहीं बना है। शब्दों का ऐसा मञ्जुल, पेशल एवं मधुर मेल किया है कि काव्य में सर्वत्र श्रुति-प्रियता, मनोहारिता और आत्म-विस्मृतता आदि गुण व्याप्त हो गए हैं। संस्कृत वृत्तों की गेयता ने इसमें चार चाँद लगा दिए हैं। ऐसे उत्कृष्ट कुछ छन्द नीचे दिए जाते हैं—

राधा-सौन्दर्य—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणिसी लावण्य-लीला-मयी।
श्री राधा मृदु भाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्त्ति थी॥

दैव-प्रगल्भता—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीय कंज कृति में क्या है न कोई कमी।
पोरों में कब ईख की विपुलता है ग्रन्थियों की भली।
हा! दुर्दैव-प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं॥

मुरली-माधुर्य—

किस तपोबल से किस काल में।
सच बता मुरली कलनादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली।
मदिरता, मृदुता, मधुमानता॥

बसन्त-वर्णन—

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने,
प्रदान की थी अतिकान्त भाव से।
वसुंधरा को, पिक को, मिलिन्द को।
मनोज्ञता, मादकता, मदांधता॥

यशोदा-विलाप—

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
उधो छाती वदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती है हृदय तल में तो नहीं वेदनायें?

ये तो केवल कुछ उदाहरण दिए गये हैं, ऐसे तो सैकड़ों ही छन्द इस काव्य में विद्यमान हैं।

हरिऔध जी ने इस काव्य में कोमल-कान्त पदावली की योजना में समास शैली को अपनाया है अतः कहीं-कहीं दुरूहता आ गई है। यथा—स्व-निम्बता-गर्वित-वृक्ष-निम्ब, सदम्बु-निम्बू-तरु और पट-पीत-गौरवी आदि। कहीं-कहीं संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों ने भी क्लिष्टता ला दी है। वृन्दाटवी में वृक्ष, पुष्प, फल एवं लताओं का वर्णन करते हुए कुछ ऐसे ही शब्दों का प्रयोग हुआ है, यथा—शिशपा, इंगुदी, जम्बालिनि, रोदसी, उपस्कर आदि। कहीं-कहीं सांकेतिक एवं लाक्षणिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, यथा सूर्य के लिए 'कमलिनी-कुल-वल्लभ', अक्रूर के लिए 'सुफल्क-सुत' और यमुना के लिए 'कलिन्द-नन्दिनी' आदि।

काव्य-कर्म गद्य-लेखन से कहीं कठिन है। गद्य में भाव-प्रकाशन सरल होता है परन्तु पद्य में यह बात नहीं। अनेक स्थलों पर छन्द-निर्माण के लिए उपयुक्त शब्दों की आवश्यकता होती है परन्तु वे मिलते नहीं और ऐसे स्थानों पर अन्य शब्द तोड़-मरोड़ कर डालने पड़ते हैं अन्यथा श्रुतिकटुत्व, न्यूनपदत्व या अधिकपदत्व आदि दोषों की बाधा का भय रहता है। हरिऔध जी ने शब्दों की तोड़-मरोड़ को बहुत कुछ दूर रक्खा है परन्तु फिर भी कुछ शब्दों में ग्राम्यता

एवं व्याकरणापेक्षा दृष्टिगोचर होती है, यथा छन, भाग, पयान, यदपि आदि। परन्तु इनके व्यवहार में कवि ने सरलता ही कारण बतलाई है। कहीं-कहीं ऐसी क्रियाओं का प्रयोग भी मिलता है, जिनका प्रयोग अनेक विद्वान् खड़ी बोली में पसन्द नहीं करते, यथा—निरखना, निहारना, घहरना, लसना, सोहना, गहना, तजना आदि। किसी-किसी स्थान पर ब्रज के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे—यक, बिलग, टाप, बगर, सुधि आदि। इनके अतिरिक्त याद, कलेजा आदि उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। परन्तु सम्पूर्ण काव्य का पर्यालोचन करके विदित होता है कि तत्सम शब्दों से भिन्न शब्दों का प्रयोग उतना ही हुआ है, जितना दाल में नमक अतः काव्य-सौष्ठव में बाधा नहीं पड़ी है।

काव्य में आलंकारिक सौन्दर्य भी पर्याप्त है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार एवं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार अपनी पूर्ण आभा के साथ व्यवहृत हुए हैं, यथा—

अनुप्रास—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।

× × ×

प्रफुल्लितों सा फलवान फालसा।

× × ×

अलिकुल मति लोपी कुन्तली कान्तिशाली।

यमक—

स्व-आततायीपन पेड़ आत का।

× × ×

कुमोदिनी मानस-मोदिनी कहीं।

× × ×

प्रिया-समा मंजु प्रियाल-मंजरी।

उपमा—

हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।

× × ×

छवि-रता वनिता सब यों बनीं।
उपल-निर्मित पुत्तलिका यथा।

× × ×

ककुभ-शोभित गोरज बीच से।
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे।

कदन ज्यों करके दिशि कालिमा।
विलसता नभ में नलिनीश है॥

उत्प्रेक्षा—

नयन की लखके यह दीनता,
सकुचने सरसीरुह भी लगे।

श्लेष—

स्वकीय-पंचांग प्रभाव से सदा।
सदैव नीरोग वनान्त को बना।
किसी गुणी-वैद्य समान था खड़ा।
स्वनिम्बता-गर्वित-वृक्ष-निम्ब का॥

इस काव्य में विशेषतः वियोग शृंगार, वात्सल्य और करुण का चित्रण हुआ है। अतः माधुर्य और प्रसाद गुणों की योजना भी रसानुकूल ही है। इस काव्य में सौन्दर्य और माधुर्य का तो साम्राज्य है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि यह काव्य मधुरता की सुधा-वापी है, प्रेम-पीयूष का प्रसाद है और है हिन्दी-साहित्य-निधि का एक अमूल्य रत्न।

प्रेमचन्द्

मुंशी प्रेमचन्द (पूर्व नाम धनपतराय) का जन्म सन् १८८० ई० (सं० १९३७) में बनारस जिलान्तर्गत लमही ग्राम में हुआ था। इनके पिता अजायबलाल डाकमुंशी थे और २०) वेतन पाते थे, जो बढ़ते-बढ़ते ४०) तक पहुँचा। अतः आर्थिक संकट में इनका पालन-पोषण हुआ। माता का देहान्त इनकी सात वर्ष की अवस्था में ही हो गया और पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई, एक मौलवी साहब इन्हें उर्दू पढ़ाते थे। पुनः ये काशी के क्वींस कॉलेज में प्रविष्ट हुए। जब ये पन्द्रह वर्ष के थे, इनका विवाह कर दिया गया परन्तु स्त्री कुरूपा थी अतः इन्होंने उसे मायके में ही रक्खा और उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध कर दिया। विवाह के एक वर्ष उपरान्त इनके पिता का देहान्त हो गया और इन्हें अपनी स्त्री, विमाता एवं दो सौतेले भाइयों का निर्वाह करना पड़ा। घर में पूँजी नहीं थी अतः कॉलेज छोड़कर एक वकील साहब के यहाँ ५) का ट्यूशन कर लिया और उसके लिए पाँच मील चलकर जाते थे। कई वर्ष तक इनका अध्ययन रुका रहा। एक दिन एक दुकान पर पुरानी पुस्तक बेचते समय एक महाशय से परिचय हुआ जो एक छोटे स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। उन्होंने इन्हें १८) मासिक वेतन पर अपने यहाँ अध्यापक रख लिया। यह घटना सन् १८९९ की है। पुनः इन्होंने सन् १९०४ में मैट्रिक की परीक्षा पास की और हिन्दू कॉलेज में प्रविष्ट हुए। बहुत प्रयत्न करने पर भी फीस से मुक्ति न मिली और बड़ी कठिनता से पढ़े परन्तु एफ० ए० में गणित में कई बार अनुत्तीर्ण हुए। सन् १९०८ ई० में ये सब-डिप्टी इंसपेक्टर हो गये और व्यक्तिगत अध्ययन द्वारा सन् १९१४ में एफ० ए० की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् बी० ए० उत्तीर्ण किया।

सन् १९०५ में इन्होंने पूर्व पत्नी के होते हुए भी शिवरानी नाम्नी एक बालविधवा के साथ पाणिग्रहण कर लिया, जिसने इनके जीवन में सुख ही

प्रदान नहीं किया प्रत्युत प्रेरणा भी दी। जब ये डिप्टी इंसपेक्टर थे, उस समय देश में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने कांग्रेस से की प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं किया अतः विरोध उग्र रूप से प्रारम्भ हुआ। सन् १९२० में महात्मा गाँधी गोरखपुर पधारे, उन्होंने एक भाषण दिया, जिसका प्रभाव प्रेमचन्द जी पर अत्यधिक रूप में पड़ा और इन्होंने १७५) रु० की नौकरी पर लात मारकर देश एवं साहित्य की सेवा का प्रण लिया।

आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण इन्होंने पुनः कानपुर के एक मारवाड़ी विद्यालय में प्रधानाध्यापक का भी कार्य किया परन्तु वहाँ भी न पटी। कुछ समय तक उदरपूर्त्ति के लिए चरखे बना कर भी बेचे। पुनः ये बनारस चले गये और 'मर्यादा' में कार्य किया परन्तु वहाँ भी निर्वाह न हुआ और काशी विद्यापीठ के विद्यालय में प्रधानाध्यापकत्व स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् इसे भी त्याग कर गाँव चले आए। सन् १९२४ में 'माधुरी' के सम्पादन-विभाग में लखनऊ चले गये। सात वर्ष काम करने के पश्चात् सन् १९३१ में ये पुनः बनारस चले गये और तदनन्तर एक प्रेस खोला जिससे 'हंस' नामक मासिक और 'जागरण' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले। परन्तु दुर्दैव ने साथ न छोड़ा। अन्त में सिनेमा-संसार में पदार्पण किया किन्तु पूत भावना से ओतप्रोत मनस्वी भक्त उस दूषित वातावरण में कैसे टिकता और कैसे अपनी इच्छा के विरुद्ध निम्न स्तर की कहानियाँ लिखता, निदान उसे भी छोड़ा और साहित्य-सेवा में ही मन लगाया।

साहित्य के प्रति इनकी रुचि बाल्यकाल से ही रही। जब इनकी अवस्था केवल तेरह वर्ष की थी, इन्होंने एक नाटक लिखा था जिसमें इन्होंने अपने मामा के चमारी-प्रेम का उपहास किया था। उस समय ये हिन्दी नहीं जानते थे और उर्दू-उपन्यास पढ़ने का इन्हें अत्यधिक चाव था। इन्होंने अपनी तत्कालीन रुचि को इस प्रकार चित्रित किया है—

"मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली (हरदोई निवासी) उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक़ था। हज़रत रियाज़ ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी ज़माने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवधपंच' के

सम्पादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य-रस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के एक दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा' या 'तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी ज़माने में पढ़ीं और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं।"

[मेरी पहली रचना]

दो-तीन वर्ष मे इन्होंने सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले। जब उपन्यास शेष न रहे तो नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित पुराणों के उर्दू अनुवादों को पढ़ा। तदनन्तर 'तिलिस्म होशरुबा' नामक एक तिलिस्मी ग्रन्थ के कई भाग भी पढ़े, जिनमें से प्रत्येक में दो-दो हजार पृष्ठों से कम न थे।

इनकी **साहित्य-साधना** का समय सन् १९०० से प्रारम्भ होता है। इन्होंने श्री रवीन्द्रनाथ की अनेक अंग्रेजी गल्पों का अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया। इनकी सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' थी, जो १९०० ई० में 'ज़माने' में छपी। इसी वर्ष इन्होंने 'कृष्णा' नामक उपन्यास भी लिखा। सन् १९०२ में 'वरदान' उपन्यास प्रकाशित हुआ और १९०५ में 'प्रेमा' का प्रकाशन हुआ। सन् १९०६ में 'प्रतिज्ञा' उपन्यास लिखा। तदनन्तर १९०८ ई० में ज़माना प्रेस से पाँच कहानियों का एक संग्रह 'सोज़े वतन' नाम से निकाला। इसमें सरकार की आलोचना होने के कारण इसकी समस्त प्रतियाँ अग्नि की भेंट करदी गई। सन् १९१४ तक इन्होंने उर्दू में ही साहित्य-सृजन किया। तदनन्तर हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया और सन् १९१६ में 'सेवासदन' नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा। तत्पश्चात् सन् १९२२ में 'प्रेमाश्रम', सन् १९२३ में 'निर्मला', १९२४-२५ में 'रंगभूमि', १९२८ में 'कायाकल्प', १९३१ में 'ग़बन', १९३२ में 'कर्मभूमि', १९३६ में 'गोदान' और इसी वर्ष 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण) नामक उपन्यासों का निर्माण किया। १९३६ में इस महान् कलाकार का स्वर्गारोहण हुआ अतः मंगलसूत्र समाप्त न हो सका।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त इन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं, जो अनेक संग्रहों में संकलित हैं। इन्होंने कुछ नाटक और निबन्ध भी लिखे तथा कुछ ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। इनकी समस्त हिन्दी रचनाओं की तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है—

उपन्यास—वरदान, प्रेमा, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण)।

कहानी संग्रह—(अ) सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपचीसी, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमद्वादशी, प्रेमतीर्थ, पाँच फूल, प्रेमप्रसून, प्रेरणा, मानसरोवर (चार भाग), क़फन, समरयात्रा, अग्निसमाधि, ग्राम्यजीवन और नारी-जीवन की कहानियाँ।

(ब) बालोपयोगी कहानियाँ—टालस्टाय की कहानियाँ, जंगल की कहानियाँ, कुत्ते की कहानी, मनमोदक, दुर्गादास आदि।

नाटक—प्रेम की वेदी, कविता, संग्राम और मज़दूर (सिनेमा-नाटक)।

निबन्ध—मौ० शेखसादी, कुछ विचार, तलवार, क़लम, त्याग और 'हंस' की सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

अनुवाद—सृष्टि का आरम्भ, फिसाने आज़ाद, अहंकार, सुखदास, हड़ताल, चाँदी की डिबिया और न्याय।

इनके कथा-साहित्य की पृष्ठभूमि—

पारिवारिक-जीवन—प्रेमचन्द के पिता एक डाकमुंशी थे अतः बाल्य-काल में इनकी आँखों में डाकमुंशी, डाकिया एवं डाक ही के चित्र खिचते रहे होंगे, यही कारण है कि इनकी अनेक कहानियों में तत्सम्बन्धी अनेक प्रसंग आए हैं। 'कप्तान साहब' कहानी में जगतसिंह के पिता भक्तसिंह के परिचय द्वारा वे अपने पिता का ही मानो परिचय देते हैं—

"उसके पिता भक्तसिंह अपने क़सबे के डाकखाने के मुंशी थे। अफसरों ने उन्हें घर का डाकखाना बड़ी दौड़-धूप करने पर दिया था, परन्तु भक्तसिंह जिन इरादों से यहाँ आये थे उनमें से एक भी पूरा न हुआ। उल्टी हानि यह हुई कि देहातों में जो भाजी-साग उपले-ईंधन मुफ्त मिल जाते थे, वे सब यहाँ बन्द हो गये।"

इनके पिता भी क़सबे के डाकखाने में मुंशी थे, उन्हें भी वहाँ देहात की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं।

'कज़ाकी' नामक कहानी में भी कज़ाकी के द्वारा अपने डाकिये का वे स्मरण करते हैं।

इनके पिता का वेतन बहुत थोड़ा था अतः खाने-पीने एवं पहनने की भी कठिनाई थी। प्रेमचन्द इसी आर्थिक संकट में पले। उन्हें पहनने के लिए कपड़े भी कम ही मिलते थे और वे भी चार आने गज से अधिक मूल्य के नहीं। पैरों में जूता भी बारह आने से अधिक का नहीं होता था। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"अँधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिन तक पहना है। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा।"

इनके पिता डेढ़ रुपये मासिक किराये के घर में रहते थे। इससे इन्हें ऐसे स्थानों पर रहने का पूरा अनुभव था। 'चोरी' कहानी में ये अपने परिवार के आर्थिक संकट को ही निम्न शब्दों में खींचते हैं—

"हाय बचपन ! तेरी याद नहीं भूलती। वह कच्चा टूटा घर, वह पुवाल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं।"

इन्हें बचपन में खाने-पीने के लिए स्वादिष्ट वस्तुएँ कम ही मिलती थीं। जब ये आठ वर्ष के थे तब इनकी माँ रोगग्रस्त हुई और छः मास तक शय्या-शायिनी रही। ये उसके पास बैठते परन्तु जब वह सो जाती तो ये उसके पास रक्खी बोतल में से शक्कर खा लेते थे। इस अभाव के कारण ये अवश्य ही मिष्टान्नों के वायवी चित्र खींचते होंगे, जिनका आभास अनेक स्थलों पर हमें मिलता है। 'बूढ़ी काकी' नामक कहानी में काकी का पक्वान्नों पर टूट पड़ना और 'निर्मला' उपन्यास में मोटेराम शास्त्री का हलवाई की दुकान पर उत्साह से मिष्टान्न खाये जाना इनके इसी अभाव के चित्र हैं।

इनकी माता का देहान्त इनकी नौ वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गया था। उसकी मधुर स्मृति इन्हें प्रायः आया करती थी। 'कर्मभूमि' उपन्यास के नायक अमरकान्त के द्वारा इन्होंने अपने ही मातृ-स्नेह-हीन जीवन का चित्रण किया है—"अमरकान्त ने अपने जीवन में माता-स्नेह का सुख न देखा था। जब उसकी माता का अवसान हुआ, तब वह बहुत छोटा था। उस दूर अतीत की कुछ धुँधली-सी और इसलिये अत्यन्त मनोहर और सुखद स्मृतियाँ शेष थीं।"

आगे चलकर इसी उपन्यास में वे लिखते हैं—"दुनियाँ में सब से बदनसीब वह है, जिसकी माँ बचपन में मर गई हो।"

ये सब इनके हृदय से निकले शब्द हैं। माता की मृत्यु के पश्चात् इनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। सौतेली माँ आई परन्तु वह विमाता का अपवाद न हो सकी। इन्हें माता का प्यार सदैव के लिए लुप्त-सा दीख पड़ा। 'सौतेली माँ' नामक कहानी में इन्होंने आत्मकथा ही लिखी है। 'अलग्योझा' कहानी में विमाता के आतंक से सहमे हुए रग्घू की कथा से वे अपने जीवन की झाँकी इस प्रकार कराते हैं—

"भोला महतो ने पहली स्त्री मर जाने पर दूसरी सगाई की तो उसके लड़के रग्घू के लिए बुरे दिन आ गये। रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। चैन से गाँव में गुल्ली-डंडा खेलता फिरता था। माँ के मरते ही चक्की में जुतना पड़ा। पन्ना रूपवती स्त्री थी और रूप और गर्व में चोली-दामन का नाता

है। वह अपने हाथों से कोई मोटा काम न करती। गोबर रग्घू निकालता, बैलों को सानी रग्घू देता। रग्घू जूठे बरतन माँजता। भोला की आँखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे अब रग्घू में बुराइयाँ ही बुराइयाँ नज़र आतीं। पन्ना की बातों को वह प्राचीन मर्यादानुसार आँखें बन्द करके मान लेता था। रग्घू की शिकायतों की ज़रा भी परवाह न करता था।"

प्रेमचन्द के पिता ने इतना दुर्व्यवहार तो नहीं किया परन्तु विमाता का व्यवहार अवश्य कटु था। वे एक स्थान पर लिखते हैं—

"पिता जी डाकखाने से जो भी चीज़ खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे खुद खा जायँ। वे उनकी लाई हुई चीज़ों को पिता के सामने रखतीं तो पिता जी बोलते—'मैं ये चीज़ें बच्चों के लिए लाता हूँ।' जब चाची न मानतीं तो पिता जी झल्ला कर बाहर चले जाते।"

'निर्मला' उपन्यास में भी निर्मला एवं उसके सौतेले तीन पुत्रों का चित्रण भी आत्म-कथा पर ही आधारित दृष्टिगोचर होता है। 'कर्मभूमि' में भी वे विमाता के दुर्व्यवहार का अंकन इस प्रकार करते हैं—

"अमरकान्त की माता का उसके बचपन ही में देहान्त हो गया। समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। उस सात साल के बालक ने नई माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया, लेकिन उसे जल्द मालूम हो गया कि उसकी नई माता उसकी ज़िद और शरारतों को उस क्षमा-दृष्टि से नहीं देखती, जैसे उसकी माँ देखती थी।"

एक बात इस प्रसंग में और विचारणीय है कि इन्होंने विमाता के आगमन का जहाँ भी वर्णन किया है, वहाँ बालक की सात, आठ या दस वर्ष की अवस्था में ही किया है। प्रेमचन्द की आयु भी इनकी विमाता के आगमन के समय लगभग नौ वर्ष की थी।

प्रेमचन्द जी बाल्यकाल में गुल्ली-डंडा भी खेलते थे। वे अपने बाल्यकाल के विषय में माता की मृत्यु के पश्चात का वृत्तान्त लिखते हैं—"···पाँच छः महीनों के बाद मेरे पिता भी बीमार पड़े। वे लमही आये। मैं भी आया। मेरा काम मौलवी साहब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईख तोड़ कर चूसना और मटर की फली तोड़कर खाना—चलने लगा।" इससे उनकी गुल्ली-डंडा-प्रियता का पता लगता है, जिसकी अभिव्यक्ति हम 'अलग्योझा' कहानी में रग्घू के चरित्र में देखते हैं—

"रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। चैन से गाँव में गुल्ली-डंडा खेलता फिरता था।"

'कुछ विचार' नामक निबन्ध-संग्रह में 'कहानी-कला' लेख में वे अपने इस प्रेम को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"हर एक बालक को अपने बचपन का वे कहानियाँ याद होंगी जो उसने अपनी माँ या बहिन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही किस तरह सब कुछ भूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता।" इन्हें बचपन में कुत्ते-बिल्ली की कहानियों से अत्यधिक प्रेम था। 'जंगल की कहानियाँ' और 'कुत्ते की कहानी' आदि जो बालोपयोगी कहानियाँ इन्होंने लिखी हैं वे इसी अभिरुचि का परिणाम है।

प्रेमचन्द जी ने एक बार ५) का ट्यूशन किया था जिसमें से वे आधे रुपये घर पर भेजते थे और आधे में अपना खर्च चलाते थे। पुनः इन्हें १८) मासिक वेतन पर एक छोटे से स्कूल में अध्यापन का कार्य मिल गया था और उसमें से भी अधिकांश घर पर ही खर्च होता था। 'लाटरी' नामक कहानी में अपनी इस दशा को वे इस प्रकार परोक्षतः व्यक्त करते हैं—

"मैं उन दिनों स्कूल मास्टर था। बीस रुपये मिलते थे। दस घर भेज देता था। इसमें लस्टम-पस्टम अपना गुज़ारा करता था।"

प्रेमचन्द जी इस छोटी नौकरी से प्रसन्न नहीं थे अतः उन्होंने इसे कभी वरदान नहीं माना। इससे मुक्ति पाने के लिए वे छटपटाते रहते थे और इस चिन्ता में रहते थे कि किसी प्रकार कोई अच्छा ऊँचा कार्य मिले। 'बोझ' नामक कहानी में उनकी इस विवशता का एक चित्र देखिए—

'पंडित चन्द्रधर ने एक अपर प्राइमरी मुदर्रिसी तो करली थी, किन्तु सदा पछताया करते थे कि कहाँ से इस जंजाल में आ फँसे। यदि किसी अन्य विभाग में नौकर होते तो अब तक हाथ में चार पैसे होते, आराम से जीवन व्यतीत होता। यहाँ तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कहीं पन्द्रह रुपये देखने मिलते हैं। वह भी इधर आये, उधर गये। न खाने का सुख, न पहनने का सुख।'

प्रारम्भ में इनका मन अध्ययन में नहीं लगता था। मौलवी साहब के यहाँ पढ़ते थे, प्रायः अनुपस्थित ही रहते थे और इधर-उधर घूमा करते थे। किशोरावस्था में भी दुर्भाग्यवश अध्ययन रुका रहा पुनः गणित बला बन गया और एफ० ए० में कई बार अनुत्तीर्ण हुए। उत्तीर्ण होने के पश्चात् भी निर्वाह-व्यवस्था ठीक न हो सकी अतः निराश हो उनका मन शिक्षा के प्रति श्रद्धापूर्ण न रहा। 'प्रेरणा' कहानी में वे लिखते हैं—

'निर्मला' में अनमेल विवाह के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं, 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह की समस्या पर विचार है, 'सेवासदन' में स्त्री और पुरुष के वैषम्य पर प्रकाश डाला गया है, 'कर्मभूमि' एवं 'निर्मला' में द्वितीय-विवाह के फलस्वरूप आई विमाता के व्यवहार से सन्तान की दुर्दशा का चित्रण है और 'कायाकल्प' में स्त्री-सम्बन्धी प्रायः सभी समस्याएँ सुलझाई गई हैं।

अनेक कहानियों में भी बेमेल विवाह आदि ऐसे ही विषयों पर प्रकाश डाला गया है। 'नया-विवाह' कहानी में भी ऐसी ही समस्या है। नया-विवाह इसी लिए किया गया है कि पहली स्त्री से मन नहीं भरता परन्तु दूसरी से इसलिए संकोच है कि वह अत्यधिक छोटी है, ऊँट और बिल्ली में मेल ही क्या! किन्तु प्रेमचन्द विवाह को एक ऊँचा आदर्श मानते हैं। 'दो सखियाँ' नामक कहानी में विनोद के शब्दों को सुनिए—"विवाह का उद्देश्य यही है और केवल यही है, कि स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को आत्मोन्नति में सहायक हों।" 'कर्मभूमि' के नायक अमरकान्त से भी वे यही शब्द कहलाते हैं—"मैं एक नये जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूँ—जहाँ स्त्री, पति को केवल नीचे नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती, बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का संचार करती है।"

सामाजिक स्थिति—प्रेमचन्द जी ने जब साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया तो उस समय आर्य-समाज का सुधार-कार्य प्रबलता से चल रहा था। विधवा-विवाह के पक्ष में एवं बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और दहेज आदि के विपक्ष में आन्दोलन हो रहे थे। प्रेमचन्द जी इन से प्रभावित हुए और उन्होंने इन विषयों को अपनी अनेक कहानियों एवं उपन्यासों के लिए चुना। विधवा-विवाह की समस्या 'धिक्कार' और 'बालक' कहानियों में चित्रित हुई है। वृद्ध-विवाह पर व्यंग्य हमें 'नरक का मार्ग' नामक कहानी में मिलता है। अछूतों की समस्या को लेकर उन्होंने 'मन्दिर', 'सद्गति' एवं 'ठाकुर का कुँआ' आदि कहानियाँ लिखीं। 'अन्ध-विश्वास' के विरोध-स्वरूप भी इन्होंने 'भूत', 'सुहाग की साड़ी' आदि अनेक कहानियों की रचना की। उपन्यासों में तो प्रायः सभी में इन एवं और भी सामाजिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। 'सेवासदन', 'निर्मला' एवं 'ग़बन' आदि में ये समस्याएँ बड़े विकट रूप में दिखलाई देती हैं।

हमारी समाज में प्राचीन परम्पराओं के साथ पारिवारिक जीवन के जितने भी रूप थे या फिर पाश्चात्य सभ्यता से उसमें जो भी परिवर्तन हुए वे सब हमें इनके उपन्यासों में मिलते हैं। ग्रामीण एवं नागरिक समाज का

जीवन नैसर्गिक रूप में अंकित हुआ है। ग्रामीण समाज की अशिक्षा, अन्ध-विश्वास-प्रियता, कलह, कुप्रथा-ग्रस्तता एवं ऋजुता का बड़ा मार्मिक विवरण हमें उनमें मिलता है। स्त्रियों की भारतीय समाज में जो कुछ स्थिति है उसका चित्रण तो बड़ा ही स्पष्ट है। नागरिक समाज का दम्भ, खोखलापन, अवास्तविक जीवन, विलासानुराग एवं वाक्पटुत्व भी अपने वास्तविक रूप में अंकित हुए हैं। विशेषतः इन्होंने वैवाहिक समस्याओं को लिया है परन्तु उनका कोई निश्चित हल प्रस्तुत नहीं किया है।

उन्होंने समाज में ढोंग फैलाने वालों की बड़ी खिल्ली उड़ाई है। 'प्रेमाश्रम' में धार्मिक सम्मेलन का उल्लेख करते हुए धर्म के ठेकेदारों एवं तिलकधारी पंडितों का बड़ा उपहास किया है। 'सेवा-सदन' में भी सुमन के कोठे पर ऐसे ही दम्भियों पर व्यंग्य कसे गए हैं। 'निमंत्रण' कहानी में एक पेटू ब्राह्मण की हँसी की गई है।

राजनैतिक स्थिति—प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन में एवं उससे कुछ पूर्व से देश में राजनैतिक स्थिति विक्षुब्ध थी। कारण था कांग्रेस द्वारा प्रचारित स्वातंत्र्य-आन्दोलन। लार्ड कर्जन ने बंग-भंग का प्रस्ताव रक्खा जिससे देश में, विशेषतः बंगाल में एक आग-सी लग गई। उस समय बंग-भंग तो न हुआ परन्तु मिण्टो मार्ले के सुधारों ने बिगाड़ का रूप धारण कर लिया। हिन्दू-मुसलमानों के विभाजन की नींव पड़ गई। देश में शासन का विरोध उग्रता से होने लगा। सन् १९१२ में लार्ड हार्डिंग पर गोला फेंका गया, पुनः चम्पारन के किसानों का संकट दूर करने के लिए महात्मा जी के नेतृत्व में सत्याग्रह हुआ।

सन् १९१४-१८ तक महायुद्ध हुआ। युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने रोलट ऐक्ट पास किया, जो नेताओं को मान्य न हुआ। सुधारों के प्रति असन्तोष प्रकट करने के लिए देश में आन्दोलन हुआ, जिसके नेता थे गान्धी जी। इस आन्दोलन में विदेशी माल का बहिष्कार हुआ। १९१९ में जलियाँवाले बाग का हत्याकाण्ड हुआ जिससे इस आन्दोलन को और भी उत्तेजना मिली। सरकार ने बड़ी कठोरता से व्यवहार किया परन्तु गान्धी जी ने सारा आन्दोलन अहिंसात्मक ढंग से ही चलाया। परन्तु सन् १९२१ में चौरी-चौरा के काण्ड के पश्चात् महात्मा जी ने इसे स्थगित कर दिया। प्रेमचन्द जी ने इसी आन्दोलन में नौकरी छोड़ी थी।

सन् १९२२ में कर न देने का आन्दोलन छिड़ा। कुछ समय पश्चात् अंग्रेज़ों की भेदनीति से हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी होने लगे। १९३० में पुनः असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। नमक कानून तोड़ा गया, विदेशी माल का

बहिष्कार भी किया गया और शराब पर पिकेटिंग हुए। सरकार ने इस आन्दोलन को समाप्त कराने के लिए बड़ी कठोरता का व्यवहार किया। कराँची और कानपुर में साम्प्रदायिक झगड़े भी कराए।

अन्त में गान्धी-इरविन समझौता हुआ। गान्धी जी इंग्लैंड गये। जब देश लौटे तो स्थिति और भी बिगड़ी पाई। लार्ड विलिंगडन ने अछूतों को हिन्दुओं से पृथक् करने की योजना बनाई जिससे महात्मा जी को आजन्म अनशन व्रत करना पड़ा। इससे घबराकर सरकार ने पूना-पेक्ट किया तब महात्मा जी ने व्रत तोड़ा। सन् १९३५ में भारतीय शासन-विधान निर्मित हुआ।

यह थी राजनैतिक स्थिति जिसके मध्य प्रेमचन्द जी रहे। कहा जा चुका है वे भी इस स्वातंत्र्य-संग्राम में कूद पड़े। उनकी स्त्री तो जेल भी गई। यही कारण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों एवं अनेक कहानियों में इस राजनैतिक वातावरण का चित्रण किया है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में इस राजनैतिक स्थिति का बड़ा विशद् विवेचन है। 'सत्याग्रह', 'भाड़े का टट्टू' एवं 'मोटेराम शास्त्री' आदि कहानियाँ भी राजनैतिक विषयों से ही सम्बन्ध रखती हैं।

प्रेमचन्द की कहानी-कला—

प्रेमचन्द जी ने 'कहानी' नामक लेख में लिखा है कि—

"वर्त्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

इससे स्पष्ट है कि वे कहानी को जीवन का चित्रण मानते हैं, जिसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा कल्पना की अपेक्षा अनुभूति का प्राधान्य हो। सबसे उत्तम कहानी वे उसी को मानते हैं 'जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' इसीलिए उनके अनुसार कहानी में किसी समस्या का होना आवश्यक है। वे कहानी को एक मनोरञ्जन की ही वस्तु नहीं समझे वरन् उसे अन्तःसौन्दर्य को व्यक्त करने का एक साधन समझते हैं। अतएव कहानी का आधार घटना नहीं वरन् अनुभूति है। वे लिखते हैं—"कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो और उसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।"

उपन्यास को भी कहानी मानते हुए तथा उसमें एवं आधुनिक छोटी कहानी (आख्यायिका) में भेद बतलाते हुए वे लिखते हैं कि "उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है। आख्यायिका एक घटना है। अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं।"

इस प्रकार हम कह सकते है कि आज की कहानी जीवन की एक घटना का चित्रण है। परन्तु इससे हमें यह नहीं समझना चाहिए कि कहानी घटना-प्रधान होनी चाहिए। घटना-प्रधान कहानी होती हैं परन्तु उनसे चरित्र-प्रधान कहानियाँ श्रेष्ठ होती हैं।

आधुनिक कहानी का स्वरूप प्रेमचन्द जी के ही शब्दों में इस प्रकार है—

"कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई चरित्रों और कई रसों, कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग की आत्मा की एक झलक का सजीव हृदयस्पर्शी चित्रण है। इस एक तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है।"

यह कथन व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। प्रेमचन्द जी ने इसी सिद्धान्त को अपनी कहानी-कला का आधार बनाया है। वे अपनी कहानी-रचना-कला के विषय में 'मैं कहानी कैसे लिखता हूँ' नामक लेख में लिखते हैं—

"मेरे किस्से प्रायः किसी न किसी प्रेरणा, अथवा अनुभव पर आधारित होते हैं, उसमें नाटक का रंग भरने की कोशिश करता हूँ। मगर घटना मात्र को वर्णन करने के लिये मैं कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उसमें किसी दार्शनिक और भावनात्मक सत्य को प्रकट करना चाहता हूँ। जब तक इस प्रकार का कोई आधार नहीं मिलता, मेरी कलम ही नहीं उठती। आधार मिल जाने पर मैं पात्रों का निर्माण करता हूँ। कई बार इतिहास के अध्ययन से भी प्लाट मिल जाते हैं। लेकिन कोई घटना कहानी नहीं होती, जब तक कि वह किसी मनोवैज्ञानिक सत्य को व्यक्त न करे।"

इस पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि कहानी जीवन की किसी घटना का चित्रण है, उसके किसी एक अंग की व्याख्या है जिसमें अनुभूति के बल पर किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का व्यक्तीकरण होता है। यह वह कला है जो यथार्थ न होती हुई भी यथार्थ जैसी प्रतीत होती है और वास्तविक आनन्द देने से सत्यरूप है।

प्रेमचन्द जी के इस सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका

दृष्टिकोण आदर्शवादी है। उन्हें सत्य बिना साहित्य प्रिय नहीं। वे यथार्थ को भी तभी ग्राह्य समझते हैं जब वह आदर्शोन्मुख हो। अतः उनका कहानी-साहित्य प्राचीन भारतीय कहानी-साहित्य की भाँति आदर्श से पूर्ण है। यद्यपि वे आधुनिक कहानी को उपन्यास की भाँति पश्चिम की देन मानते हैं तथापि वे वहाँ के नग्न यथार्थ के पक्षपाती नहीं।

प्रेमचन्द जी की प्रारम्भिक कहानियों में समाज-सुधार की भावना विशेष पाई जाती है। उनमें सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन है और किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का व्यक्तीकरण नहीं। इनका सम्बन्ध नागरिक जीवन से है। पुनः इन्होंने सर्वाधिक ग्रामीण जीवन को चित्रित किया। इन कहानियों में हम उन्हें सच्चा कहानी-लेखक देखते हैं। यहाँ वे ग्रामीण कृषक, श्रमिक, ज़मींदार, महाजन और अफसरों की मानसिक दशा एवं स्थिति का विश्लेषण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। कृषक इन सब में महान् है, जो इन नर-पशुओं की मार भी सहता रहा है और प्रकृति की चोट भी, जो पिट-पिटकर कुन्दन होता रहा है और संसार का पेट पालता रहा है। उनकी दृष्टि गाँव के आदर्श और आदर्श गाँव की स्थापना पर लगी रहती थी अतः ग्रामीण जीवन में अनेक बुराइयों के होने पर भी वे उसे नागरिक जीवन से कहीं विशुद्ध और प्राकृतिक समझते थे। गाँव ही तो भारत की विभूति हैं। भारत के राजा-महाराजा, पूँजीपति और उद्योगपति सभी इसी किसान और बिचारे मजदूर की कमाई से ही तो विशाल अट्टालिकाओं में विलास करते रहे हैं। इसीलिए किसान और मज़दूर के प्रति उनका बड़ा सहानुभूतिपूर्ण रुख रहा है। कुछ कहानियों में इन्होंने ग्रामीणों के अन्ध-विश्वासों का भी अंकन किया है।

इस प्रकार की कहानियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने कुछ इतिहास-विषयक कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें भारतीय संस्कृति का माहात्म्य चित्रित किया है। इन कहानियों में वीर एवं वीराङ्गनाओं के बड़े सुन्दर चित्र हमें देखने को मिलते हैं। कुछ में मुसलमानी समय की विलासिता के चित्र भी खींचे हैं।

प्रेमचन्द जी ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखीं, जिनमें कुछ घटना-प्रधान हैं और अधिक चरित्र-प्रधान। उन्होंने अपनी कहानियों के लिए विषय इतने चुने हैं कि कोई विशेष विभाजन नहीं किया जा सकता। हम इस प्रकार वर्गीकरण करते हैं—

[१] **सामाजिक**—प्रेमचन्द जी ने कुछ समाज से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ लिखीं। जिनमें कुछ विधवा से सम्बन्ध रखने वाली कहानियां हैं, यथा—'धिक्कार', 'बालक'।

'बूढ़ी काकी' में एक बृद्धा की रसना-लोलुपता एवं उसकी विवशता का चित्र है।

स्त्री को आभूषण कितने प्रिय होते है यह बात 'आभूषण' कहानी में मिलती है।

कृषक का वास्तविक चित्रण 'सवासेर गेहूँ' और 'पूस की रात' में हुआ है।

'शतरंज के खिलाड़ी' में नवाबी सामन्तशाही की विलासप्रियता के दर्शन होते हैं।

'ममता' में माता का ममत्व देखने को मिलता है।

'प्रारब्ध' और 'सौभाग्य के कोढ़े' आदि में भाग्य की महिमा गाई गई है। 'लाटरी', 'स्वर्ग की देवी' आदि में मनोदशा का चित्रण हुआ है। कुछ कहानियाँ पशुओं से सम्बन्ध रखती हैं, यथा—'दो बैलों की कथा', 'अधिकार चिन्ता' आदि।

इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने सैकड़ों ही कहानियाँ विविध विषयों पर लिखीं। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में घटना-प्रधानता होने से अनुभूति का अंश कम है और न उनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही शुद्ध रूप से हुआ है। उनकी श्रेष्ठ कहानियों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं।

प्रेमचन्द जी प्राचीन संस्कृति के पुजारी थे अतः अनेक कहानियों में उन्होंने अतीत के सुन्दर चित्र खींचे हैं। परन्तु अन्धविश्वास से वे रहित थे और कुप्रथाओं के पक्षपाती न थे अतः उनकी कहानियों में हम अन्धविश्वास एवं कुप्रथाओं पर व्यंग्य देखते हैं। ग्राम एवं नगर के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन का चित्रण करते हुए उन्होंने जो चित्र अंकित किये हैं वे बड़े स्वाभाविक हैं। नागरिक जीवन का खोखलापन और दम्भपूर्ण व्यवहार भी दर्शनीय है। इन कहानियों में भावों का विश्लेषण बड़े सुन्दर रूप में हुआ है। पाश्चात्य शिक्षा से इनकी दृष्टि में एक वैज्ञानिक तीखापन आ गया था अतः उससे बिंधे बिना कोई भी विषय बच नहीं सकता था। वे उसे अपनी शाण पर चढ़ाकर खरादते थे और ऐसा चिक्कण रूप देते थे कि पाठक को कहीं भी खुरदरापन का (विषमता का) आभास नहीं मिलता है।

प्रेमचन्द सुधारवादी थे अतः वस्तु का चित्रण यथार्थ में करते हुए भी आदर्श उपस्थित करने की उनकी अभिलाषा रहती थी अतएव उनकी सभी कहानियाँ किसी न किसी उच्च ध्येय को लेकर लिखी गई हैं। वे स्वर्ग-अपवर्ग की अपेक्षा मानव-जीवन को विशेष महत्व देते थे और वे मनुष्य को ही मनुष्य

रूप में देखना चाहते थे, अतः उन्होंने मानव का चित्रण उसके भले-बुरे रूपों के द्वारा मानव-समाज के सुधार के लिए ही किया है। न वे उसे नारकीय रूप में देख सके हैं और न दैवी रूप ही दे सके हैं।

उन्हें निम्नता पसन्द नहीं थी अतः बड़ी सचाई के साथ उन्होंने अन्याय का विरोध किया है, समाज की बुराइयाँ दिखलाई हैं और कुशासन का भण्डा-फोड़ किया है। पारस्परिक सम्बन्ध की कहानियों में कर्त्तव्य को ही प्राधान्य दिया है और मानव-प्रकृति का चित्रण बड़ी गम्भीरता से किया है।

प्रेमचन्द जी की कहानियों की कथावस्तु प्रायः घटनाओं से सम्बन्ध रखती हैं परन्तु उन्होंने केवल सुन्दर शैली से गतिपूर्ण शब्दावली द्वारा उन्हें सजाकर कहानी का रूप नहीं दिया है प्रत्युत् उनमें मनोवैज्ञानिक क्लाइमैक्स (उत्तरोत्कर्ष) लाने का सफल प्रयत्न किया है। इनके पात्रों के चरित्र-चित्रण में एक नैसर्गिकता है और कथनोपकथनों में नाटकीय दृश्यों का आनन्द प्राप्त होता है। देश-काल का समुचित ध्यान भी इनकी एक बड़ी विशेषता है। उद्देश्य की प्राप्ति तक पहुँचने में पाठक को विषय भूमि पर पग नहीं रखने पड़ते वरन् कहानी-प्रवाह के साथ उसका मन स्वतः तरलता को प्राप्त हो कर उसके साथ-साथ लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

इन्हीं गुणों के आधार पर प्रेमचन्द जी को हम कहानी-सम्राट् कहते हैं।

प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला—

प्रेमचन्द जी ने 'उपन्यास' नामक लेख में लिखा है—"मैं उपन्यास को मानव-जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" इस प्रकार वे उपन्यास को मानव-जीवन की व्याख्या मानते हैं और साहित्य की वास्तविक परिभाषा भी यही है एवं उपन्यास साहित्य का ही अंग है। साथ ही उसी उपन्यास की वे स्थायिता स्वीकार करते हैं जो अनुभूति की आधार-शिला पर खड़ा हो।

प्रेमचन्द जी ने अपने इस सिद्धान्त को मूलतः आरम्भ से अन्त तक निभाया है। उनके 'वरदान' से लेकर 'गोदान' तक सभी उपन्यास अनुभूति पर ही आधारित हैं। भारतीय समाज और शासन में उन्होंने जो कुछ देखा वह चित्रित किया है। अंग्रेज़ी शासन में राजनैतिक एवं सामाजिक ढाँचे में ढले हुए मनुष्य का जो भी सहज या विकृत रूप उनके दृष्टिपथ में आया उसका विशद एवं वास्तविक चित्रण वे कर गए हैं।

वे साहित्य में उपयोगितावाद के पक्षपाती हैं। वे साहित्य का मुख्य

उद्देश्य आनन्द मानते हैं परन्तु उसकी उपयोगिता की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि, "साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है।" जो साहित्यकार उपयोगिता को दृष्टि में रखकर साहित्य में उसे अन्त-र्निहित नहीं कर सकता वह उपदेशक बनकर अपना उपहास कराता है। इस उपयोगिता से तात्पर्य वे पाठक के जीवन में एक अन्त:सौन्दर्य-प्राप्ति से ही लेते हैं अत: वे यथार्थ में भी आदर्श को ही महत्व देते हैं। वे 'कायाकल्प' उपन्यास में चक्रधर के मुख से कहलाते हैं—यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थता घृणित है।" इस भाव को हम उनके 'उपन्यास' नामक लेख मे व्याख्यात हुआ इस प्रकार देखते हैं—"वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सब से बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।" इस प्रकार साहित्य में वे उसी यथार्थवाद की महत्ता स्वीकार करते हैं जो नग्न नहीं है—जो आदर्शोन्मुख है।

वे साहित्य को केवल मनोरञ्जन की ही वस्तु नहीं समझे। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे बहुत ऊँचा बतलाते हुए वे लिखते हैं कि—"वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।" 'कम से कम' कहकर वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि साहित्यकार का उद्देश्य इससे भी कहीं ऊँचा होना चाहिए। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि साहित्य में प्रेमचन्द जी यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को कितना ऊँचा स्थान देते थे। इसीलिए उनके सभी उपन्यासों में तात्कालिक सामाजिक एवं राजनैतिक चित्रण होते हुए भी छोटे-बड़े सभी चरित्रों द्वारा कुछ-न-कुछ आदर्श उपस्थित करने का ही प्रयत्न किया है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के विषय सामाजिक एवं राजनैतिक अनुभूत समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। अतः उनके सभी उपन्यास समस्याप्रधान है। उन्होंने ग्राम और नगर की समाज का वास्तविक रूप अपनी आँखों से देखा था। ग्रामीण लोगों के गुण-अवगुणों को वे जानते थे। देहाती आपस में किस प्रकार लड़ते-झगड़ते, ईर्ष्या रखते, परस्पर हानि पहुँचाते, तुच्छ वातावरण में जीवन बिताते हैं तथा अन्ध-विश्वासों में डूबे हुए वे किस प्रकार प्राचीन परम्पराओं

के अनुसर्त्ता होते हैं और दूसरों से प्रेरित होते हैं, इसे उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। द्विज वर्ण अछूतों से किस प्रकार दुर्व्यवहार करते हैं यह भी उनसे छिपा नहीं था। ग्राम के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के अतिरिक्त उन्होंने डोम, चमार, कंजर आदि निम्न वर्ग के लोगों का चित्रण भी किया है। गांव के खेत, नहर, तालाब, कुएँ और बाग भी हमें उनके उपन्यासों में दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब के अतिरिक्त हमें उनके त्योहार, उत्सव, विवाह एवं मनोरञ्जन के साधन स्वाँग आदि भी देखने को मिलते हैं। महाजनों से ऋण लेना, पुन: जीवन भर ब्याज देते रहना और मूल का न चुकना, जमींदार और पटवारियों के जाल में फँसे रहना, हाकिमो की झिड़कियाँ और मार सहना और अन्त में कचहरियों के चक्कर लगाना आदि दृश्य भी हमारे सम्मुख आते हैं। तात्पर्य यह है कि ग्रामीणों की सभी जीवन-समस्याएँ चित्रित हुई हैं।

ग्राम की भाँति प्रेमचन्द नगर से भी पूर्ण परिचित थे। वहाँ के जीवन का खोखलापन भी वे अच्छी तरह देख चुके थे। नागरिकों में पारस्परिक प्रेम नहीं होता, वे स्वार्थरत होते हैं, उनमें दम्भ की मात्रा अधिक होती है, कृत्रिमता के वे पुजारी होते हैं, वे ग्रामीणों को ठगने में कुशल होते हैं, नागरिक स्त्रियाँ ग्रामीणाओं के विरुद्ध विलासप्रिय और अस्थिर चित्त होती हैं, नगरों में कल-कारखाने देहातियों को अपनी ओर आकृष्ट करने के प्रधान केन्द्र हैं जो उनके वास्तविक जीवन को नष्ट कर उनमें अनेक बुराइयाँ भर देते हैं, ये सब बातें उन्हें अनुभूत थीं। ज़मीदार, सेठ-साहूकार और अफसर नागरिक होते हैं या फिर नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, मजदूरों की कुरीतियों के और साथ-साथ उन पर हुए अत्याचारों के दर्शन नगर में ही होते हैं, ढोंगी नागरिक धर्म के नाम पर कितनी बुराइयाँ करते हैं, वेश्या-जीवन भी इन्हीं की करतूतों का परिणाम है, आदि बातें प्रेमचन्द जी से छिपी नहीं थीं।

इनके अतिरिक्त कुछ सामाजिक कुप्रथाएँ भी थीं, जिनका भीषणतम रूप भारतीय समाज को दीर्घकाल से जर्जरित करता रहा है। वे थीं बाल-विवाह, वृद्धविवाह, दूसरा विवाह, गुप्त-प्रेम, दहेज-प्रथा, मठाधीशों का सम्मान, धर्म के ठेकेदारों का आदर, निर्धनता किन्तु नाक का प्रश्न आदि।

प्रेमचन्द जी इन सभी सामाजिक समस्याओं से परिचित थे। इनके अतिरिक्त कुछ राजनैतिक समस्याएँ थीं। ये समस्याएँ भी ग्राम और नगर दोनों से सम्बन्ध रखती थीं। अंग्रेजी शासन में शोषण को पोषण मिला था। अंग्रेजों को यहाँ के मनुष्य से इतनी भी सहानुभूति नहीं थी, जितनी अपने कुत्तों से होती हैं, अत: यहाँ के ज़मीदार, सेठ-साहूकार, हाकिम, पूंजीपति, उद्योगपति, अधिकारी

सभी स्वार्थ-प्रधान हो गए थे। वे धन के पीछे जान लेना भी बुरी बात नहीं समझते थे। उनकी शिकार के विषय दो थे—किसान और मजदूर। किसान ज़मीदार, महाजन, पटवारी और हाकिमों की मार सहता था। लगान न देने पर उसकी खड़ी खेती कटवाली जाती थी, खलिहान उठवा लिया जाता था और मार खाता था वह अलग्। ऋण न चुकाने पर भी यही दुर्गति होती थी। कभी-कभी उनकी स्त्रियों की भी दुर्गति हो जाती थी। वह मूक प्राणी सब कुछ सहता था। ज़मीदार और महाजनों के इन दुर्व्यवहारों में पटवारी और हाकिम हर प्रकार से सहायता देते थे। यदि किसान विरोध करता या सामूहिक रूप से सत्याग्रह करता तो उसे जेल जाना पड़ता था, फिर न कोई खबर-लेवा और न पानी-देवा। ये लोग किसानों को परस्पर भी लड़ाते रहते थे, जो एक दूसरे के खेत में आग लगा देते थे या पशुओं को मार देते थे।

ग्रामों में इस राजनैतिक हलचल के अतिरिक्त नगरों में भी इसका भीषण रूप दीख पड़ता था। वहाँ अधिकतर मिल-मालिकों एवं मज़दूरों का संघर्ष रहता था, म्युनिसिपैलिटी एवं उसके निम्नवर्गीय कार्यकर्त्ताओं में झंझट रहते थे तथा नगर के अनेक मामलों पर विवाद हो जाते थे जिनमें स्वास्थ्य, शिक्षा तथा वेश्या और अछूतों के विषय प्रधान होते थे और कभी-कभी देश के स्वातंत्र्य-आन्दोलन में अधिकारियों और जनता के मध्य संघर्ष भी हो जाता था। कभी सुधार कार्य में भी यह संघर्ष दृष्टिगोचर होता था। नगरों में यदा-कदा हिन्दू-मुस्लिम समस्या भी भीषण रूप धारण कर लेती थी। चुनाव भी अपने समय पर चहल-पहल के कारण होते थे।

स्वतन्त्रता के युद्ध ने भी नगर और ग्राम में राजनीति का खासा चक्र चलाया था। परन्तु गान्धी जी की अहिंसात्मक नीति से आन्दोलन एवं सत्याग्रह आदि में विशेष संघर्ष नहीं होता था। नमक कानून-भंग आदि में पकड़-धकड़ अवश्य होती थी। सन् १९२०-२१ एवं ३०-३१ के सत्याग्रह में स्थान-स्थान पर संघर्ष हुए परन्तु वे इतने भीषण न थे और यों तो इस आन्दोलन से चिढ़कर अधिकारी सर्वत्र अन्याय पर तुल गये थे जिससे ज़मीदारों, पूँजीपतियों और उद्योगपतियों के तनिक से संकेत पर निरीह जनता पर पाशविक अत्याचार ढाना उनका नित्य-प्रति का कर्म हो गया था। उन लोगों में भ्रष्टाचार का भी दौर-दौरा था। घूस का बाज़ार गर्म था, भेंटें प्राप्त की जाती थीं, बेगार ली जाती थी, बदमाशों को प्रोत्साहन दिया जाता था, शराब के दौर उड़ते थे, महफिलें जमती थीं और भी सब कुछ होता था और वह भी ग़रीबों के पैसों पर। राजा-नवाबों के यहाँ तो अंधेर नगरी बनी हुई थीं।

ये थीं ग्रामीण और नागरिक सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याएँ जो प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में चित्रित की हैं। अब हम सूक्ष्मतः इनके उपन्यासों में इन समस्याओं का दिग्दर्शन कराते हैं क्योंकि इसके पश्चात् हम कुछ विस्तार से इनके प्रमुख उपन्यासों की संक्षिप्त कथा सहित समीक्षा करेंगे। जब प्रेमचन्द जी ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था तो उस समय आर्यसमाज का सुधार-कार्य प्रबलता से चल रहा था। 'वरदान' में अनमेल विवाह, 'प्रतिज्ञा' में विधवा विवाह, एवं 'सेवासदन' में वेश्याओं की समस्या का विवेचन उसी का परिणाम है। 'जीवन में साहित्य का स्थान' नामक लेख में वे लिखते हैं कि "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है।" प्रेमचन्द भी विधवाओं के मूक-क्रन्दन, विवशता और घोटन से एवं वेश्याओं के समाज के प्रति व्यंग्यात्मक जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। अछूतों की दुर्दशा भी उन्हें रुलाती थी। 'कर्मभूमि' में अछूतोद्धार का प्रश्न एक ऐसी ही समस्या है, जिसमें सुखदा आदि को सत्याग्रह तक करना पड़ता है। 'निर्मला' में दहेज के कारण एवं 'गबन' में पुत्री-विवाह पर व्यय की समस्या से जो कुपरिणाम हमें देखने को मिलते हैं वे प्रायः नित्य-प्रति की ही घटनाएँ हैं। विदेश जाने पर 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर का बहिष्कार आदि कुरीतियों का परिचय भी हमें होता है। 'काया-कल्प' में हमें सामाजिक व्यभिचार के दर्शन होते हैं।

वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, निर्मला, ग़बन और गोदान सामाजिक उपन्यास हैं, प्रेमाश्रम राजनैतिक और रंगभूमि एवं कर्मभूमि दोनों ही समस्याओं से ओतप्रोत हैं। 'कायाकल्प' मूलतः सामाजिक है परन्तु उसमें कुछ जन्मजन्मान्तर सम्बन्धी विलक्षण बातें भी हैं। यों तो सभी उपन्यासों में राजनैतिक हलचल किसी न किसी रूप में दीख पड़ती है परन्तु 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में ज़मीदार-किसान, उद्योगपति एवं मज़दूर तथा शासक और शासित का संघर्ष सम-सामयिक ऐसी समस्याएँ हैं जो अपने नग्न रूप में चित्रित हुई हैं।

प्रेमचन्द प्रगतिवादी लेखक थे अतः वे दल-वर्ग, जाति-पाति के भेद को दुराग्रह रूप में नहीं मानते थे, सुधार के पक्षपाती थे और मानव-जीवन से कष्ट का निवारण करना ही सच्ची सेवा समझते थे। इसीलिए हम उन्हें 'सेवासदन' में सेवासदन और 'प्रेमाश्रम' में प्रेमाश्रम की स्थापना करता हुआ देखते हैं। यद्यपि उनके प्रारम्भिक उपन्यास आदर्शवाद से ओतप्रोत हैं और यद्यपि सेवासदन के पश्चात् उन्हें हम यथार्थ एवं वस्तुवाद की ओर पग रखता देखते हैं तथापि वे आदर्श को कहीं भी नहीं भुला सके हैं। 'ंगभूमि' में सूरदास का चरित्र एक महत्तम आदर्श चरित्र है। ऐसा चरित्र विश्व-कथा-साहित्य में दुर्लभ है। ग़बन

में यद्यपि वस्तुस्थिति का ही अंकन है परन्तु रमानाथ की अन्तिम चेष्टा सुधार की ओर है। यहाँ तक कि जोहरा भी वेश्यावृत्ति छोड़कर उसकी सहचरी बन जाती है। 'कर्मभूमि' में भी कर्म की महत्ता स्वीकार की गई है परन्तु अमर, सुखदा दोनों के जीवन से ही कुछ न कुछ आदर्श उपस्थित किया ही गया है। अमर हृदय से दुर्बल अवश्य है परन्तु उसका सेवा का आदर्श प्रबल है। 'गोदान' तो प्रेमचन्द का श्रेष्ठ उपन्यास है ही। उसमें होरी का चरित्र तो एक आदर्श कृषक एवं श्रमिक का ही चरित्र है।

प्रेम और विवाह-सम्बन्धी समस्याओं का चित्रण करते हुए स्त्रियों के प्रति बड़ी सहानुभूति से कार्य लिया गया है। उनके चित्रण में बड़ी सफलता है।

इनके उपन्यासों में उच्छृंखलता नहीं। वस्तु का सहज अंकन है। कथानक में एकसूत्रता है। 'गोदान' आदि में कहीं-कहीं दो कथाओं का साथ-साथ आभास भी होता है तो वे पृथक् नहीं, परस्पर सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं कथनोपकथन में दीर्घ सम्भाषण अखरते है परन्तु प्रवाह की कमी नहीं होने पाई है। चरित्र-चित्रण में तो प्रेमचन्द जी सिद्धहस्त है परन्तु कहीं-कहीं यह चिन्त्य है यथा 'रंगभूमि' में प्रबल गान्धीवादी सूरदास के मुख से अन्त में पराजय का स्वीकार कराना समझ में नहीं आता। संकलनत्रय का भी प्रेमचन्द जी ने समुचित ध्यान रक्खा है। और शैली में तो एक ऐसी सम्मोहनी है कि माधुर्य और प्रसाद गुण पाठक को अपनी गति के साथ प्रवाहित किए चलते है और उसे चलचित्र का सा आनन्द देते हैं। भाषा सरल और गतिमान है। कहीं-कहीं जाति और वर्ग के अनुसार भी भाषा का प्रयोग हुआ है यथा 'सेवासदन' में वेश्या की महफिल में उर्दू और 'कर्मभूमि' में चमार बस्ती में ग्रामीण भाषा का प्रयोग।

प्रेमचन्द जी इन समस्त गुणों के आधार पर हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् कहलाते है। हिन्दी-साहित्य में श्रेष्ठ मौलिक उपन्यासकार प्रेमचन्द जयशंकरप्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार एवं बेचन शर्मा उग्र हैं। इनमें से प्रेमचन्द का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। प्रसाद जी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के भक्त थे अतः मुसलमानों के प्रति उनका उपेक्षाभाव दिखाई देता है। प्रेमचन्द जाति-वर्ग आदि से परे थे। प्रसाद जी की भाषा भी उतनी प्रवाहपूर्ण नहीं जितनी इनकी। प्रसाद जी का 'तितली' उपन्यास श्रेष्ठ है परन्तु 'प्रेमाश्रम' एवं 'कर्मभूमि' आदि को नहीं पा सकता। कौशिक जी के 'भिखारिणी' एवं 'माँ' नामक उपन्यासों में भी हम वह वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण एवं शैली का सौन्दर्य नहीं देखते जो प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में मिलता

ये थीं ग्रामीण और नागरिक सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याएँ जो प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में चित्रित की हैं। अब हम सूक्ष्मतः इनके उपन्यासों में इन समस्याओं का दिग्दर्शन कराते हैं क्योंकि इसके पश्चात् हम कुछ विस्तार से इनके प्रमुख उपन्यासों की संक्षिप्त कथा सहित समीक्षा करेंगे। जब प्रेमचन्द जी ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था तो उस समय आर्यसमाज का सुधार-कार्य प्रबलता से चल रहा था। 'वरदान' में अनमेल विवाह, 'प्रतिज्ञा' में विधवा विवाह, एवं 'सेवासदन' में वेश्याओं की समस्या का विवेचन उसी का परिणाम है। 'जीवन में साहित्य का स्थान' नामक लेख में वे लिखते हैं कि "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है।" प्रेमचन्द भी विधवाओं के मूक-क्रन्दन, विवशता और घोटन से एवं वेश्याओं के समाज के प्रति व्यंग्यात्मक जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। अछूतों की दुर्दशा भी उन्हें रुलाती थी। 'कर्मभूमि' में अछूतोद्धार का प्रश्न एक ऐसी ही समस्या है, जिसमें सुखदा आदि को सत्याग्रह तक करना पड़ता है। 'निर्मला' में दहेज के कारण एवं 'गबन' में पुत्री-विवाह पर व्यय की समस्या से जो कुपरिणाम हमें देखने को मिलते हैं वे प्रायः नित्य-प्रति की ही घटनाएँ हैं। विदेश जाने पर 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर का बहिष्कार आदि कुरीतियों का परिचय भी हमें होता है। 'काया-कल्प' में हमें सामाजिक व्यभिचार के दर्शन होते हैं।

वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, निर्मला, ग़बन और गोदान सामाजिक उपन्यास हैं, प्रेमाश्रम राजनैतिक और रंगभूमि एवं कर्मभूमि दोनों ही समस्याओं से ओतप्रोत हैं। 'कायाकल्प' मूलतः सामाजिक है परन्तु उसमें कुछ जन्मजन्मान्तर सम्बन्धी विलक्षण बातें भी हैं। यों तो सभी उपन्यासों में राजनैतिक हलचल किसी न किसी रूप में दीख पड़ती है परन्तु 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में जमीदार-किसान, उद्योगपति एवं मज़दूर तथा शासक और शासित का संघर्ष सम-सामयिक ऐसी समस्याएँ हैं जो अपने नग्न रूप में चित्रित हुई हैं।

प्रेमचन्द प्रगतिवादी लेखक थे अतः वे दल-वर्ग, जाति-पाति के भेद को दुराग्रह रूप में नहीं मानते थे, सुधार के पक्षपाती थे और मानव-जीवन से कष्ट का निवारण करना ही सच्ची सेवा समझते थे। इसीलिए हम उन्हें 'सेवासदन' में सेवासदन और 'प्रेमाश्रम' में प्रेमाश्रम की स्थापना करता हुआ देखते हैं। यद्यपि उनके प्रारम्भिक उपन्यास आदर्शवाद से ओतप्रोत हैं और यद्यपि सेवासदन के पश्चात उन्हें हम यथार्थ एवं वस्तुवाद की ओर पग रखता देखते हैं तथापि वे आदर्श को कहीं भी नहीं भुला सके हैं। 'ंगभूमि' में सूरदास का चरित्र एक महत्तम आदर्श चरित्र है। ऐसा चरित्र विश्व-कथा-साहित्य में दुर्लभ है। ग़बन

में यद्यपि वस्तुस्थिति का ही अंकन है परन्तु रमानाथ की अन्तिम चेष्टा सुधार की ओर है। यहाँ तक कि जोहरा भी वेश्यावृत्ति छोड़कर उसकी सहचरी बन जाती है। 'कर्मभूमि' में भी कर्म की महत्ता स्वीकार की गई है परन्तु अमर, सुखदा दोनों के जीवन से ही कुछ न कुछ आदर्श उपस्थित किया ही गया है। अमर हृदय से दुर्बल अवश्य है परन्तु उसका सेवा का आदर्श प्रबल है। 'गोदान' तो प्रेमचन्द का श्रेष्ठ उपन्यास है ही। उसमें होरी का चरित्र तो एक आदर्श कृषक एवं श्रमिक का ही चरित्र है।

प्रेम और विवाह-सम्बन्धी समस्याओं का चित्रण करते हुए स्त्रियों के प्रति बड़ी सहानुभूति से कार्य लिया गया है। उनके चित्रण में बड़ी संवतना है।

इनके उपन्यासों में उच्छ्ंखलता नहीं। वस्तु का सहज अंकन है। कथानक में एकसूत्रता है। 'गोदान' आदि में कहीं-कहीं दो कथाओं का साथ-साथ आभास भी होता है तो वे पृथक् नहीं, परस्पर सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं कथनोपकथन में दीर्घ सम्भाषण अखरते है परन्तु प्रवाह की कमी नहीं होने पाई है। चरित्र-चित्रण में तो प्रेमचन्द जी सिद्धहस्त है परन्तु कहीं-कहीं यह चिन्त्य है यथा 'रंगभूमि' में प्रबल गान्धीवादी सूरदास के मुख से अन्त में पराजय का स्वीकार कराना समझ में नहीं आता। संकलनत्रय का भी प्रेमचन्द जी ने समुचित ध्यान रक्खा है। और शैली में तो एक ऐसी सम्मोहनी है कि माधुर्य और प्रसाद गुण पाठक को अपनी गति के साथ प्रवाहित किए चलते है और उसे चलचित्र का सा आनन्द देते है। भाषा सरल और गतिमान है। कहीं-कहीं जाति और वर्ग के अनुसार भी भाषा का प्रयोग हुआ है यथा 'सेवासदन' में वेश्या की महफिल में उर्दू और 'कर्मभूमि' मे चमार बस्ती में ग्रामीण भाषा का प्रयोग।

प्रेमचन्द जी इन समस्त गुणों के आधार पर हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् कहलाते है। हिन्दी-साहित्य में श्रेष्ठ मौलिक उपन्यासकार प्रेमचन्द जयशंकरप्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार एवं बेचन शर्मा उग्र हैं। इनमें से प्रेमचन्द का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। प्रसाद जी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के भक्त थे अतः मुसलमानों के प्रति उनका उपेक्षाभाव दिखाई देता है। प्रेमचन्द जाति-वर्ग आदि से परे थे। प्रसाद जी की भाषा भी उतनी प्रवाहपूर्ण नहीं जितनी इनकी। प्रसाद जी का 'तितली' उपन्यास श्रेष्ठ है परन्तु 'प्रेमाश्रम' एवं 'कर्मभूमि' आदि को नहीं पा सकता। कौशिक जी के 'भिखारिणी' एवं 'माँ' नामक उपन्यासों में भी हम वह वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण एवं शैली का सौन्दर्य नहीं देखते जो प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में मिलता

है। वर्मा जी के उपन्यास 'गढ़ कुंडार' में यह गुण बहुत कुछ मिलता है परन्तु उसमें इनका सा विविध रूपात्मक जीवन-चित्रण नहीं। शास्त्री जी के 'हृदय की प्यास' और 'हृदय की परख' उपन्यासों में ताप विशेष है, सौन्दर्य तो है पर शीतल नहीं। उग्र जी भी कुछ ऐसे ही हैं। उनकी उग्रता 'चन्द हसीनों के खुतूत' और 'दिल्ली का दलाल' में देखिए। इनकी समाज को कुरेदने की प्रवृत्ति वातावरण को मलिन बना देती है। प्रेमचन्द में एक संयत भाव रहता है, उनकी उग्रता पाठक में व्यग्रता पैदा नहीं करती। समाज के पापाचार सम्बन्धी स्थलों में भी एक विक्षोभहीनता है अतः वे सहानुभूति के उद्भावक हैं न कि विद्रोह के उत्तेजक। जैनेन्द्र जी का 'परख' उपन्यास श्रेष्ठतम उपन्यासों में से है परन्तु उसमें हृदयगत वेदना का गम्भीर चित्रण है जो सुन्दर होता हुआ भी सूक्ष्म है अतः मध्यम बुद्धि के लिए कुछ दुरूह है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में मस्तिष्क खुरचने की कहीं भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वे दार्शनिकता से परे थे, वे बुद्धि के अनुचर नहीं थे, हृदय के उपासक थे।

इस प्रकार प्रेमचन्द सम्पूर्ण हिन्दी-कथा-साहित्य—उपन्यास और कहानी-साहित्य—में सर्वोच्च स्थान रखते हैं।

अब हम उनके उपन्यासों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं।

सेवासदन

संक्षिप्त-कथा—कृष्णचन्द्र एक थानेदार थे, उनकी स्त्री का नाम गंगाजली था और दो पुत्रियों के नाम थे क्रमशः सुमन और शान्ता। कृष्णचन्द्र बड़े ईमानदार थे परन्तु जब सुमन के विवाह का प्रश्न आया और घर में रुपये का अभाव देखा तो उन्होंने घूस लेने का संकल्प किया। इसी समय रामदास उपनाम बाँकेबिहारी लाल नामक महंत के कुछ मुस्टण्डों ने यज्ञ के लिए चन्दा न देने पर चेतू को इतना मारा कि उसकी मृत्यु हो गई। कृष्णचन्द्र ने घूस लेकर मामले को समाप्त कर दिया परन्तु साथियों के साथ बँटवारे के प्रश्न पर झगड़ा हो गया और बात खुल गई। कृष्णचन्द्र कारागृह भेज दिए गये। गंगाजली ने अपने भाई उमानाथ के प्रयत्न से सुमन का पाणिग्रहण १५) मासिक के बाबू दुजिया गजाधर के साथ कर दिया।

सुमन खाते-पीते घर से एक ऐसे घर में पहुँची जहाँ जीवन की अत्यावश्यक वस्तुएँ अपने साधारण रूप में भी दुर्लभ थीं अतः वह अप्रसन्न रहने लगी। गजाधर भी खिन्नमन हो गया और इस प्रकार पारस्परिक कलह की नींव पड़ी। सुमन के घर के समक्ष भोली नाम की एक वेश्या रहती थी, जो वेश्या होती

हुई भी सभी से समादृत थी और सुमन सम्मानित घर की होती हुई भी असम्मानित थी। इस प्रतिक्रिया ने सुमन को मनसा साध्वी के सिंहासन से वासना के गर्त्त में धकेल दिया। गजाधर मुजरों में जाने लगा था, सुमन भी मन बहलाने भोली के पास बैठने लगी। एक दिन एक बाग में बैठने पर चौकीदार से अपने को अपमानित और दो वेश्याओं को सम्मानित देखकर वह चौकीदार से झगड़ रही थी कि इसी समय सुमन के ही मोहल्लेदार वकील पद्मसिंह और उनकी पत्नी सुभद्रा की बग्घी आकर वहाँ रुकी। वे झगड़े को समाप्त कर सुमन को अपने साथ ले आये। सुमन सुभद्रा के यहाँ आने-जाने लगी। गजाधर को यह बात और भी बुरी लगी। एक दिन वकील साहब ने म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में विजयी होने पर मुजरा किया, सुमन भी वहाँ गई और रात के दो बजे आई। गजाधर जला बठा था, उसने सुमन को घर से निकाल दिया। सुमन सुभद्रा के यहाँ चली गई परन्तु जब पद्मसिंह के विरोधियों ने उँगलियाँ उठानी प्रारम्भ कीं तो वकील साहब ने भी उसे जवाब दे दिया। सब ओर से असहाय हो वह भोली के आश्रय में चली गई। गजाधर विरक्त होकर संन्यासी हो गया और अपना नाम गजानन्द रख लिया।

पद्मसिंह के बड़े भाई मदनसिंह का पुत्र सदन अपने चाचा के यहाँ रहता था, वह सुमन के यहाँ आने-जाने लगा और गुप्त रूप से अनेक उपहार ले जाने लगा। परन्तु सुमन ने सुभद्रा से यह बात न कही। समाज-सुधारक विट्ठलदास ने पद्मसिंह की सहायता से, सुमन का उद्धार करना चाहा, वे उससे मिले और समझा-बुझाकर अपने विधवाश्रम में ले आये।

उधर पद्मसिंह सपरिवार गाँव में भाई के पास चले गये और सदन का नाता एक स्थान पर पक्का कर दिया। लड़की थी सुमन की बहिन शान्ता। जब बरात वहां पहुँची तो यह बात पता चली, सदन के पिता ने नाता अस्वीकृत कर दिया और बरात लौटा लाए। पद्मसिंह की एक न चली।

कृष्णचन्द्र जेल से लौट आए थे, घर से बरात के लौट जाने पर वे ग्लानि से गंगा में डूब मरे। शान्ता—निस्सहाय शान्ता—ने सदन को मन से अपना वर चुन लिया और पद्मसिंह को एक पत्र इस आशय का डाला। पद्मसिंह ने भाई को समझाया परन्तु वह राजी न हुए। अन्त में उन्होंने शान्ता को बुलाकर सुमन के साथ विधवाश्रम में ही रख दिया। कुछ लोग पहले से ही सुमन के विधवाश्रम में आने से आक्षेप कर रहे थे, अब उनका विरोध और भी उग्र हो गया।

सुमन दुखी रहने लगी, गजानन्द से उसकी भेंट भी हुई परन्तु वह उसे

अपनाने पर उद्यत न हुआ । साथ ही वह एक वेदना ले गया, जिसके फलस्वरूप उसने सेवा में मन लगाया । उधर सदन मल्लाही करने लगा था और एक कुटिया में रहता था । विरोध बढ़ता हुआ देखकर सुमन शान्ता को लेकर विधवाश्रम से निकल पड़ी परन्तु गंगा-किनारे सदन से साक्षात्कार हो गया । सदन ने शान्ता को पत्नी रूप में ग्रहण कर लिया और सुमन को भी वहीं कुटिया में स्थान दिया । पद्मसिंह ने सदन का विवाह शान्ता से कर दिया । कुछ दिन पश्चात सदन शान्ता से ऊबने लगा, शान्ता को सुमन पर सन्देह हुआ परन्तु शान्ता गर्भवती थी अतः सुमन ने गृह-त्याग नहीं किया । बालक होने पर सदन और मदनसिंह का प्रेम हो गया तो सुमन चुपके से आत्महत्या के लिए निकल पड़ी । मार्ग में गजानन्द से उसकी भेंट हुई, उसने इसे सेवा करने का उपदेश दिया । गजानन्द ने वेश्या-कन्याओं के उद्धारार्थ एक अनाथालय खोल रक्खा था, सुमन को उसकी अध्यक्षा बना दिया । सुमन ने अपने पाप का प्रायश्चित करने का यह उचित विधान समझा और उसे स्वीकार कर लिया । इस अनाथालय का नाम था 'सेवासदन' ।

समीक्षा—सेवासदन एक समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है । इसमें ईमानदारी से रहने वाले पुरुषों की दुर्दशाओं, महन्तों की कुचेष्टाओं एवं अनाचारों, वेश्यावृत्ति के मूल कारणों एवं समाज में प्रतिष्ठित दम्भियों के विचित्र रंग-विरंगे रूपों पर प्रकाश डाला गया है ।

कृष्णचन्द्र एक ईमानदार व्यक्ति थे परन्तु अपनी पुत्री के विवाह के समय वे अपने को निर्धन पाते है और घूस ले बैठते है, जिसके परिणामस्वरूप जेल जाते हैं । घूस लेना बुरा है परन्तु विवाह भी भारतीय समाज में पर्याप्त धन बिना नहीं हो सकता, इसी का परिणाम कृष्णचन्द्र को भुगतना पड़ा । समाज का यह दोष स्पष्ट रूप में हमारे सामने आया है, जिसमें पुत्री के विवाह में दहेज के लिए पिता धन किसी-न-किसी प्रकार जुटाता है ।

भारतीय समाज में धर्मस्थानों के अधिपति कुछ महन्त होते हैं, जिनके चतुर्दिक कुछ फक्कड़, कुछ मुस्टण्डे, कुछ चिलमची, कुछ गँजड़ी और भंगड़ी पड़े रहते है और हलवा माँडे उड़ाते रहते है । ये लेन-देन भी करते हैं और अपने क्षेत्र मे शासक ही होते हैं । ये मनमाना व्यवहार अपने असामियों से करते हैं । सुरा और प्रमदा का भी दौर-दौरा इनके भवनों में रहता है । ये पुलिस को भी चटाते रहते हैं । बाँके बिहारीलाल भी इनमें से एक है, चेतू उसकी ऐसी ही कुचेष्टाओं का शिकार होता है । इन लोगों के अनाचारों का बड़ा मनोरम और तथ्यपूर्ण चित्र इस उपन्यास में खींचा गया है ।

इसमें सब से बड़ी समस्या है वेश्यावृत्ति। समाज में लड़कियों का विवाह किस प्रकार अनेक परिस्थितियों में अनुचित ढंग से हो जाता है, किस प्रकार लड़कियाँ अनमेल कुटुम्बों में जा फँसती हैं, पिता कैसे विवश होता है, पुत्री का जीवन किस प्रकार परमुखापेक्षी एवं अन्य-दयाश्रित हो जाता है, किस प्रकार कभी-कभी यह अनुपयुक्तता दाम्पत्य-जीवन में विषमता ला देती है और नारियों के विनाश एवं अधःपतन का कारण बनती है तथा इसमें धर्मध्वज किस प्रकार अपने दम्भपूर्ण कार्यों से सहयोग देते हैं, इन सब समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। कृष्णचन्द्र की जेल-यात्रा के पश्चात् सुमन का मामा उसका विवाह १५) के बाबू से कर देता है और वह भी दुजिया। अच्छे घर की लडकी भला इस बाबू के साथ कैसे सन्तुष्ट रहती। उधर वह भी परेशान, नवेली को आभूषित कर सन्तुष्ट देखना चाहे परन्तु विवश। भारतीय समाज में घर की सती-साध्वी नारियों से वाराङ्गनाओं का सम्मान अधिक होता रहा है। घर में घरवाली तो कहलाती है परन्तु घर तो क्या, उसका कलेवर भी उसका नहीं। वह एक दासी है, लौंडी है और समय आने पर वह भी नहीं और उच्छिष्ट रोटी की भाँति बाहर फेंक दी जाती है। भोलाबाई का सम्मान सुमन की चञ्चलता का कारण हुआ और पुनः सुभद्रा के यहाँ आना-जाना। दुर्बलहृदय गजाधर इसे सहन न कर सका और सम्बन्ध विच्छेद में परिणत हो गया। सुमन वेश्या हो गई। किस लिए ? इसलिए कि पिता धनाभाव में उचित वर से विवाह न कर सका, इसलिए कि उसका विवाह एक ख़स्ताहाल अतएव दुर्बलहृदय भोगभुक्त से हुआ और इसलिए कि कुछ धर्म के ठेकेदार प्रतिष्ठित नागरिक अपनी काम-लिप्सा वश इस वृत्ति को प्रोत्साहन देते थे। अनेक कुरीतियों के साथ सेठ चिम्मनलाल, पं० दीनानाथ, अबुलवफा और बड़े-बड़े महन्त इसके लिए उत्तरदायी हैं। म्युनिसिपैलिटी में जब वेश्या-बाजार को नगर के मध्य से हटाने का प्रश्न आता है तो ये ही महानुभाव उसका विरोध करते हैं क्योंकि ये नित्य-प्रति कोठों पर जाते थे, मुजरों का संचालन करते थे।

वेश्यावृत्ति पर प्रकाश डालते हुए प्रेमचन्द जी की आदर्शवादिता मुख्यतः दृष्टिगोचर होती है। वे इसकी भीषणता पर प्रकाश नही डालते, सुमन का अधः पतन भी मानसिक ही कराते हैं और वह भी कुछ दिन के लिए। वे भी सुमन को पथभ्रष्ट हुआ देखकर विट्ठलनाथ की भाँति छटपटाते से प्रतीत होते है और उसका उद्धार करने तक दम नहीं लेते।

समाज में स्त्रियों के दो ही रूप दृष्टिगोचर होते हैं, एक तो दुरवस्था से विचलित पथभ्रष्ट हुआ और दूसरा दृढ़ चट्टान की भाँति अडिग। सुमन

प्रथम की प्रतिमूर्ति है और उसकी बहिन शान्ता द्वितीय की। वह विलासप्रियता के कारण वेश्यावृत्ति तक ग्रहण कर लेती है और वह बरात के लौट जाने पर भी सदन को मनसा वर लेती है। एक अबलता की मूर्त्ति है तो दूसरी सबलता की प्रतिमा।

इस उपन्यास के प्रधान कथानक में शान्ता-सदन का प्रसङ्ग आदर्श उपस्थित करने के लिए रखा गया है। प्रेमचन्द ने दोनों कथानकों को तराजू पर रक्खा है और गुरुता दिखलाई है अतएव अन्त में वे सुमन को पथ पर लगाकर 'सेवासदन' की अध्यक्षा बना देते हैं। इसके लिए वे एक दुर्बल हृदय गजाधर को संन्यासी गजानन्द बना कर इतना दृढ़ बनाते हैं कि सुमन से मिल कर भी वह आर्द्र नहीं होता वरन् उसका उद्धार करता है और वह भी सेवा-पथ पर लगा कर।

प्रेमचन्द आदर्शवादी रहे हैं अतः वे अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण उसी दृष्टि से करते हैं। कृष्णचन्द्र एक आदर्श की मूर्ति थे, वे बड़े गम्भीर, विचारशील और सच्चरित्र व्यक्ति थे परन्तु जेल होने पर वे दम भी लगाने लगे थे। और वासनापूर्ण विचार भी करने लगे थे—उनमें मनुष्य पशु हो गया था। पुनः वे ही कृष्णचन्द्र छोटी पुत्री शान्ता की बरात घर से लौट जाने पर और उसमें सुमन की वेश्यावृत्ति ही मुख्य कारण होने पर घृणा और लज्जा-वश गङ्गा में डूब मरते हैं।

सुमन का चंचल एवं वासनापूर्ण मन उसे पतित करा देता है परन्तु फिर भी प्रेमचन्द उसे चरमसीमा तक नहीं गिराते। सदन के द्वारा उपहारीकृत कंगन को वह सुभद्रा को लौटा देती है, मिलने वाले व्यक्तियों को वह ढोंगी समझती है और अपने को शारीरिक रूप से गिरने नहीं देती। यह प्रेमचन्द की ही सहानुभूति का परिणाम है। पुनः उसे विधवाश्रम में भेजे देते हैं और तत्पश्चात् उसे ऊँचा उठाते हुए सेवा-सदन की अध्यक्षा बना देते हैं। जिस वेश्यावृत्ति का उन्होंने चित्रण किया है, उसकी भीषणता हम नहीं देख पाते और न सुमन का पतन ही इतनी मात्रा तक होता है कि हमारा हृदय उस पेशे से विरक्त हो जाय। हाँ, इस वृत्ति के सहायक व्यक्तियों का चित्रण अच्छा हुआ है।

गजाधर एक दुर्बल व्यक्ति है परन्तु सुमन के वेश्या हो जाने पर उसका संन्यासी हो जाना एक समस्या है। ऐसी अवस्था में विरक्त हो जाना सहज है परन्तु गजाधर के विषय में, उस गजाधर के विषय में जो स्वयं मुजरों में जाता है, ऐसा घटित होना विचित्र घटना है। और अन्त में वही सुमन को मार्ग दिखाता है। सम्भवतः लेखक यही कहना चाहता है कि पति स्त्री का सर्वस्व

है, उसी की दो आँखें अपनी सहचरी को डूबता देख कर सजल हो जाती हैं और फिर उसी की दोनों बाहुएँ उसका उद्धार करती हैं।

पद्मसिंह एक भीरु सुधारक हैं। सुमन को आश्रय तो देते हैं परन्तु जब उँगली उठती है तो जवाब दे देते हैं। पुनः वेश्या हो जाने पर उसका उद्धार भी करते हैं। भतीजे की बरात लौटने पर भाई को समझाते हैं परन्तु बरात को रोक नहीं सकते। इस पर भी हैं वे एक सच्चरित्र, धर्मशील व्यक्ति। सुमन के उद्धार में उनका अधिक हाथ है। सदन से शान्ता का विवाह भी वे ही कराते हैं।

विट्ठलदास एक दृढ़ सच्चे सुधारक हैं। परन्तु राजनीति उन्हें भी निम्नस्तर पर ला देती है। पद्मसिंह के घर में सुमन का रहना उन्हें ही अखरा था, कुप्रचार भी उन्होंने किया था परन्तु सुमन के पतित हो जाने पर वे अपने को दोषी ठहराते हैं और पद्मसिंह के साथ उसका उद्धार करते हैं। अपने ही विधवाश्रम में उन्होंने उसको स्थान दिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के सभी पात्र आदर्श की ओर मुड़े हैं। कृष्णचन्द्र एवं विट्ठलनाथ का चरित्र-चित्रण इसमें स्वाभाविक हुआ है। इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उतना नहीं है जितना सामाजिक चित्रण। प्रेमचन्द जी ने समाज में जैसा देखा, उसका वैसा ही चित्रण करने का प्रयत्न किया।

यह इनको ख्याति दिलाने वाला सर्वप्रथम उपन्यास था। भाषा और भाव की दृष्टि से भी श्रेष्ठ है। वेश्यालयों में उर्दू-प्रेमिमों से उर्दू का सम्भाषण बड़ा रोचक हुआ है। शैली तो प्रेमचन्द जी की अपनी है ही—प्रसादगुणपूर्ण।

अन्त में इतना अवश्य कहना पड़ता है कि इसका उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। समस्या का सुलझाव न होने से वह ज्यों-की-त्यों उलझी हुई है। समाज में एक-दो वेश्याओं को आश्रमों में भेज देने से ही यह प्रश्न हल नहीं हो जाता। उपन्यास में हम इसका कोई समुचित समाधान नहीं देखते।

प्रेमाश्रम

संक्षिप्त कथा—लखनपुर ग्राम में ज्ञानशंकर एवं प्रभाशंकर की ज़मींदारी थी। प्रभाशंकर ज्ञानशंकर के चाचा थे, वे ही सब कुछ करते थे। ज्ञानशंकर के भाई प्रेमशंकर घर से चले गए थे अतः उनकी पत्नी श्रद्धा बड़े दुःख से किन्तु शान्त जीवन बिताती थी। प्रभाशंकर के तीन पुत्र थे जिनमें सब से बड़ा दयाशंकर पुलिस-इन्सपेक्टर था। ज्ञानशंकर की स्त्री विद्यावती पति के

प्रतिकूल धार्मिक विचार की थी। इनके दो सन्तान थीं—एक पुत्र और एक पुत्री।

ज्ञानशंकर एक स्वार्थी व्यक्ति था, वह किसानों को सताता था, चाचा से जलता था, और भाई का हिस्सा भी लेना चाहता तथा ससुराल की ज़मीन भी हथियाना चाहता था। इसमें वह पुलिस और कारिन्दों की पूरी सहायता लेता था।

एक बार जमींदार के भाई के यहाँ बरसी थी, किसानों से घी माँगा गया परन्तु किसान मनोहर ने देना स्वीकार न किया। उसका पुत्र बलराज भी बहुत बिगड़ा। मियाँ कादिर ने मनोहर की स्त्री विलासी को घी लेकर कारिन्दा गौसखाँ के पास भेजा परन्तु वह अत्यन्त अप्रसन्न था अतः उसने घी न लिया वरन् ज्ञानशंकर से मनोहर और बलराज की उद्दण्डता के विषय में कहा। जब कादिर मनोहर को ज्ञानशंकर के पास ले गया तो उसने भी अपमान किया। मनोहर चला आया। अब कारिन्दा का अत्याचार अत्यधिक बढ़ गया।

कुछ समय पश्चात् डिप्टी ज्वालासिंह गाँव में आते हैं, उनके लिए बेगार माँगी जाती है। इस समय भी बलराज अकड़ जाता है परन्तु जब डिप्टी साहब के समक्ष लाया जाता है तो डिप्टी साहब स्वयं लज्जित होते हैं और बेगार बन्द कर देते हैं। इससे चपरासी और कारिन्दा और भी जल जाते हैं। गाँव में एक वारदात हो जाती है, जिसमें दयाशंकर छानबीन करते हैं और बलराज पकड़ा जाता है। गाँव वाले उसके विरुद्ध साक्षी नहीं देते, गोसखाँ उन्हें घूस देता है परन्तु क़ादिर के समझाने-बुझाने से वे ऐसा नहीं करते अतः बलराज छूट जाता है। अब गोसखाँ जलकर ज्ञानशंकर को भड़काता है और डिप्टी ज्वालासिंह से मिलकर किसानों पर लगान में इजाफा करना चाहता है परन्तु अपील में वे जीत जाते हैं। इसमें प्रेमशंकर भी सहायक होते हैं, जो अमरीका से सहसा आ जाते हैं और ज्ञानशंकर के इन व्यवहारों से असन्तुष्ट होते हैं। क्योंकि वे एक नये विचार के कर्मठ व्यक्ति थे। ज्ञानशंकर प्रेमशंकर और ज्वालासिंह दोनों से जल जाता है। गोसखाँ गर्मियों में ज़मींदार के तालाब का पानी बन्द कर देता है, जिससे पशु प्यासे मरने लगते हैं। पुनः किसान दावा करते हैं और जीत जाते हैं।

एक बार तहसीलदार साहब लखनपुर पधारे। बड़ा अमला साथ था। बेगार बहुत हुई और जिसने भी नू-न-च (आनाकानी) की उसी को मारा-पीटा। भगत दुखरन भी इस अत्याचार का शिकार बना। एक दिन चरागाह में पशु चराती हुई मनोहर की स्त्री विलासी के पशुओं को कारिन्दा काजीहौज भिजवा देता है और विलासी को धक्का देकर गिरा देता है। मनोहर और बलराज

को जब यह ज्ञात होता है तो वे एक रात को गोसखाँ की हत्या कर देते हैं। सारा गाँव पकड़ा जाता है तो मनोहर अपराध स्वीकृत कर लेता है। जेल में मनोहर आत्म-हत्या कर लेता है परन्तु मुकद्दमा चलने पर प्रेमशंकर के प्रयत्न से सब छूट जाते हैं।

ज्ञानशंकर प्रभाशंकर से बँटवारा चाहते थे अतः उनसे जलता है। एक बार दयाशंकर जब घूसखोरी में पकड़ा जाता है तो ज्ञानशंकर को बड़ी प्रसन्नता होती है और अपने मित्र ज्वालासिंह से उसे दण्ड दिलवाना चाहता है परन्तु वह बरी हो जाता है। इससे कुढ़कर वह प्रभाशंकर से बँटवारा करा लेता है।

एक दिन ज्ञानशंकर को तार मिला कि उसका साला मर गया है। वह ससुराल गया परन्तु ऊपरी शोक प्रकट करने के साथ-साथ वह प्रसन्न भी हुआ कि अब श्वसुर के कोई पुत्र न होने से उनकी जमींदारी उसे मिल जायगी। वहीं उसकी छोटी साली गायत्री रहती थी, जो विधवा थी और जिसकी गोरखपुर में बड़ी जमींदारी थी। वह एक धार्मिक विचार की स्त्री थी। इसने यह सोचकर कि यदि यह मेरे से प्रेम करने लगे तो इसके पुत्र मायाशंकर को मैं गोद लेकर इसकी सारी जमींदारी अपने नाम करा लूँगा, उसे अपने प्रेम-जाल में फँसा लिया। जब इसकी पत्नी विद्या को पता चला तो उसने आत्म-हत्या कर ली, उधर गायत्री को भी अपनी भूल प्रतीत हुई और आत्मग्लानि-वश जमींदारी को मायाशंकर के नाम कराकर आत्म-हत्या करली।

इसके कुछ समय पश्चात् ज्ञानशंकर को पता चला कि उसका श्वसुर दूसरा विवाह करना चाहता है तो बहुत छटपटाया क्योंकि फिर उनकी जमींदारी नहीं मिलेगी। किन्तु जब उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वे दूसरे विवाह की इच्छा नहीं रखते तो इसे चैन पड़ा परन्तु काँटे को मार्ग से हटाने के लिए इसने उन्हें विष दे दिया जिसे वे योगशक्ति से पचा गये।

प्रेमशंकर किसानों की दुर्दशा को देखकर अत्यन्त दुखी हुए और उन्होंने जन-सेवा के लिए प्रेमाश्रम खोला। मायाशंकर भी इसमें सम्मिलित हो गया। ज्ञानशंकर इन बातों से बड़ा प्रभावित हुआ और लज्जा एवं ग्लानि-वश गंगा में डूब मरा।

ज्वालासिंह भी नौकरी छोड़कर प्रेमाश्रम में आ गए। इन सबने लखन-पुर को एक आदर्श गाँव बना दिया, जिसमें प्रत्येक कृषक के पास एक-एक अच्छा घर था और बालकों के लिए स्कूल तथा जनता के लिए एक पुस्तकालय भी था।

समीक्षा—प्रेमाश्रम का रचनाकाल सन् १९२२ है। सेवासदन में प्रेम-चन्द ने सामाजिक समस्याएँ ली थीं, इसमें हम उन्हें एक नवीन मार्ग ग्रहण

करता हुआ देखते हैं। यह राजनैतिक उपन्यास है। देश में जन-जागृति का आन्दोलन प्रथम महायुद्ध से पूर्व ही चल रहा था। सबसे अधिक पीड़ित कृषक और श्रमिक ही था। महात्मा गांधी ने इन्हीं लोगों की दुरवस्था को देखकर फ़क़ीरी रूप धारण कर लिया था और इन्हीं के लिए वे भारत में स्वतन्त्रता चाहते थे। महायुद्ध से पूर्व सरकार ने आश्वासन दिया था कि युद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता देने की ओर प्रथम पग बढ़ाया जायगा परन्तु युद्ध की समाप्ति पर इसके विपरीत अत्याचार प्रारम्भ हुआ, जलियाँ वाले बाग का नारकीय काण्ड हुआ। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन चलाने के लिए स्थान-स्थान पर जाकर भाषण देने प्रारम्भ किए। वे १९२० ई० में गोरखपुर गए और एक भाषण दिया, जिससे प्रभावित हो प्रेमचन्द ने भी नौकरी छोड़ दी और जन-सेवा में लगे।

प्रेमचन्द गाँव-निवासी थे अतः वे नित्यप्रति सरकारी अफसरों के निरीह किसानों एवं मजदूरों पर अत्याचार देखते थे। प्रधान केन्द्र थे ज़मींदार। ज़मींदार लगान वसूल करते थे, जैसा चाहते थे अत्याचार करते थे और विरोध होने पर अफसरों की सहायता लेकर उन्हें दण्ड दिलवाते थे। ज़मींदार और साहूकारों के कारिन्दे एवं गुमास्ते उन्हें बड़ा कष्ट देते थे। सरकारी कर्मचारी बेगार लेते थे, विना कुछ दिए माल खाते थे और धौंस दिखाते थे। बिचारा किसान कर क्या सकता था, अपनी खून-पसीने की गाढ़ी कमाई को मूकभाव से देने के अतिरिक्त और क्या कर सकता था। सर उठाता तो कुचल दिया जाता था। ज़मींदार और अफसरों से लड़कर चलना नदी में रहकर मगर से वैर करना था। उसकी खड़ी फसलें कटवा ली जाती थीं, मवेशी बलात् हाँक ली जाती थीं और पर्दों तक की स्त्रियों का अपमान भी कर दिया जाता था। यदि कभी कोई साहसी पुरुष जान पर खेलकर सामना करता था तो सारे गाँव की ही आफत आ जाती थी।

प्रेमचन्द जी इस सम्पूर्ण वातावरण से परिचित थे। उधर रूस में किसानों की सफल क्रान्ति हुई थी, जिसमें किसान और मज़दूर विजयी हुए थे। प्रेमचन्द जी ने वह भी सुना और गुना था। इन सब कारणों से उनमें इस अत्याचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। अतः जिन प्रेमचन्द ने छः वर्ष पूर्व सेवासदन में नारी-विवाह, प्रेम, व्यभिचार, वेश्यावृत्ति आदि विषयों को लेकर समाज का कुत्सित रूप हमारे समक्ष रक्खा था, उन्हीं ने अब चोट खाकर समाज को छोड़ राजनैतिक क्षेत्र में पैर रक्खा और बड़ा कटु अनुभव किया, जिसके परिणामस्वरूप यह उपन्यास लिखा गया। यद्यपि सेवासदन में भी

ये अत्याचार दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वहाँ लेखक का ध्येय राजनैतिक घटनाओं को चित्रित करना नहीं।

इस उपन्यास में ज्ञानशंकर द्वारा एक स्वार्थी, अर्थलोलुप एवं कामी ज़मींदार का चरित्र चित्रित हुआ है, जो लोभ से अन्धा हुआ चाचा से भी झगड़ता है, भाई को भी हानि पहुँचाता है, श्वसुर को विष देता है, साली को भ्रष्ट करता है, अफसरों को घूंस देता है और काम न बनने पर उनसे भी चिड़ जाता है और किसानों को तो कूटता और चूसता ही रहता है। इन जमींदार और साहूकारों के कारिन्दे कैसे होते हैं तथा उनके साथ कैसे गुण्डे रहते हैं यह बात गौसखाँ और सुक्खू चौधरी के चरित्र से ज्ञात होती है। पटवारी भी एक जोंख है जो किसान का खून चूसता रहता है, मौजीलाल उसी का प्रतीक है।

प्रभाशंकर के चरित्र से एक प्राचीन एवं धर्मभीरु व्यक्ति का चित्रण हुआ है, जो ज्ञानशंकर जैसे नये युवक की कुचेष्टाओं से सम्मिलित परिवार की भित्ति में दरेर नहीं आने देना चाहता।

प्रेमशंकर—अमरीका में शिक्षाप्राप्त प्रेमशंकर—नवीनता के पक्षपाती हैं और प्राचीन रूढ़ियों के विरोधी हैं। अर्थलोलुप नहीं अतः भाई की दुर्भावना को जानकर वे किसानों की सहायता में दत्तचित्त हो जाते हैं। इन्हीं के अथक प्रयत्न से जमींदार एवं अफसरों के सभी कुचक्र विफल हुए हैं और अन्त में लखनपुर एक आदर्श गाँव बन जाता है। प्रेमाश्रम की स्थापना और मायाशंकर को भी सन्मार्ग दिखाना तथा डिप्टी ज्वालासिंह का अपनी ओर आकृष्ट करना उन्हीं के अथक और उदार प्रयत्न का परिणाम है। मायाशंकर भी एक साधु युवक है—स्वार्थहीन और जनसेवक। वास्तव में ये ही दो व्यक्ति लेखक के आदर्श के प्रतीक हैं।

मनोहर और बलराज अन्याय के विरुद्ध उठती हुई भावना से पूर्ण किसानों के प्रतिनिधि हैं। दोनों में अन्तर कुछ नहीं, केवल आयु ही उनके स्वभाव में अन्तर का कारण है। मनोहर भी उग्र है परन्तु कुछ सोचता है, बलराज उग्र भी है और व्यग्र भी।

इस उपन्यास में जमींदार, कारिन्दों, अफसरों आदि के दाव-पेंच, हथकण्डे एवं कुचेष्टाओं का वास्तविक चित्र खींचा गया है और इसी प्रकार किसानों की दुर्दशा, पारस्परिक कलह-विग्रह एवं कष्टों का चित्रण हुआ है। ग्रामीण-जीवन का चित्रण इसमें बड़ा ही स्वाभाविक है।

इसमें स्पष्ट ही ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर मनुष्य के क्रमशः अभव्य और भव्य रूप का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। ज्ञानशंकर लखनपुर के उजाड़ने में

कारण होता है और प्रेमशंकर उसका पुनर्निर्माण करने में और वह भी आदर्श रूप में। अन्त में प्रेमाश्रम की स्थापना और ज्ञानशंकर का आत्महत्या कर लेना प्रेमचन्द जी की आदर्शवादिता को दिखलाते हैं जो उपन्यास में छाई हुई है। गायत्री का भूल को पहचानना और ग्लानिवश आत्महत्या कर लेना भी तो इसी का फल है।

कथा का मूल ही इतना है कि जमींदार और अफसर ग्राम एवं ग्रामीण का विनाश कर उसे ध्वंसावशेष रूप में ला देते हैं जो अनुचित है अतः ग्राम का निर्माण आदर्श रूप में होना चाहिए और किसान को भी सुखी जीवन बिताने का अधिकार होना चाहिए। ध्वंस के पश्चात् लखनपुर का निर्माण इसी भावना का चित्रण है।

इसमें किसानों की भाषा में सहज सरलता प्रेक्षणीय है।

निर्मला

संक्षिप्त कथा—बाबू उदयभानुसिंह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं परन्तु दुर्भाग्य वश इस समय लक्ष्मी उनसे रुष्ट हो गई है। उनके परिवार में पाँच प्राणी और थे—एक स्त्री कल्याणी, दो पुत्र चन्द्रभानु और सूर्यभानु एवं दो पुत्रियाँ कृष्णा और निर्मला। निर्मला यौवन को प्राप्त हो चुकी है अतः वे इसका विवाह बाबू सिन्हा के बड़े लड़के डा० सिन्हा के साथ ठहराते हैं परन्तु २० हजार का दहेज कहाँ से आये अतः व्यय कम करने के लिए पत्नी से बात-बात पर झगड़ा करते है। एक रात घर से निकलने का संकल्प कर ज्यों ही गली में आते हैं कि डाकू मतई उन्हें मार डालता है।

कल्याणी छाती पीटकर रह जाती है। उदयभानु के मर जाने से सिन्हा साहब विवाह का प्रस्ताव अस्वीकृत कर देते हैं। तब पुनः मोटेराम शास्त्री के प्रयत्न से निर्मला का विवाह एक अधेड़ वकील तोताराम से हो जाता है, जिनके मंसाराम, सियाराम और जियाराम तीन पुत्र हैं। मंसाराम की अवस्था निर्मला के बराबर ही है अतः वह वकील साहब से खुल नहीं पाती। वे भी संकोच में रहते हैं। निर्मला मंसाराम से पढ़ने लगी। एक दिन उसने श्रृंगार किया और दर्पण में मुख देखा कि उसी समय तोताराम आगए। वे अपने और उसके अन्तर को देख बहुत लज्जित हुए। साथ ही यह जानकर कि मंसाराम से वह पढ़ती है, वे सन्देह-ग्रस्त हो गए और मंसाराम को झिड़क बैठे। यह सन्देह बढ़ता ही गया और निर्मला एवं मंसाराम भी इसे ताड़ गये। अन्त में मंसाराम को बोर्डिंग में भर्ती करा दिया परन्तु वहां ५-६ दिन में ही वह बीमार

हो गया। जब समाचार मिला तो उसे घर न लाकर अस्पताल ले गये जहाँ वह मर गया। तोताराम की एक विधवा बहिन रुक्मिणी भी यहीं रहती थी, वह घर की मालकिन थी, वही खर्च चलाती और बात-बात में लड़कों का पक्ष लेती थी।

सियाराम और जियाराम पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। सियाराम तो नहीं बोलता परन्तु जियाराम माँ-बाप से लड़ता और उन्हें हत्यारा कहता। एक दिन उसने माँ के गहने चुरा लिए, बात पुलिस में गई और घर से १०००) देकर जान बची। अन्त में जियाराम ने विष खा लिया। निर्मला का मन खिन्न और कठोर हो चला। वह पैसे-पैसे पर जान देने लगी, रुक्मिणी से भी झगड़ा रहने लगा। एक पदार्थ को मँगवा कर पुनः बाज़ार भेजती। सियाराम बड़ा दुखी रहने लगा और एक दिन एक साधु के साथ निकल गया। तोताराम भी सियाराम को ढूँढने निकल गये।

दुखिया निर्मला अपनी एकमात्र कन्या के साथ रह गई। रुक्मिणी को अब उस पर दया आने लगी।

उधर डा० सिन्हा का विवाह सुधा से हो गया था। परन्तु जब उन्हें उदयभानुसिंह के घराने की दुर्दशा का पता चला तो उन्होंने निर्मला की बहिन कृष्णा का विवाह अपने छोटे भाई से कर दिया। निर्मला को यह शीघ्र ही ज्ञात हो गया। भेद खुलने पर वह सुधा के यहाँ आने-जाने लगी। एक दिन पुराने सगाई-सम्बन्ध का सहारा लेकर डा० साहब ने निर्मला के समक्ष घृणित प्रस्ताव रक्खा परन्तु जब सुधा ने उन्हें बहुत फटकारा और लज्जित किया तो उन्होंने विष खा लिया।

निर्मला कष्ट से जीवन बिताने लगी। एक दिन उसे ज्वर आया, जिसने विषम रूप धारण कर लिया और उसके प्राणों के साथ ही गया। दाह-क्रिया करने के समय तोताराम भी हारे पथिक की भाँति कहीं से आ गये।

समीक्षा—सेवासदन की भाँति निर्मला भी एक समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है। इसमें भी समाज में दहेज-प्रथा एवं अनमेल विवाह की कुप्रथाओं के कुपरिणाम दिखाये गये हैं। दहेज न जुटने पर पति-पत्नी में कलह होना स्वाभाविक है, उनमें से किसी का आत्महत्या कर लेना और लड़की का अनमेल वर से विवाहा जाना भी स्वाभाविक है। पुनः अनमेल दूजिया वर से प्रकृति का न मिलना, संकोच रहना, सन्देह का उत्पन्न होना, कलह का बढ़ना, आत्म-हत्या करना, घर त्यागना आदि भी इसके सहज परिणाम हैं। लेखक ने यह सब कुछ इसमें दिखाया है। परन्तु उदयभानुसिंह, मंसाराम, जियाराम, डा०

सिन्हा और निर्मला इन तीन परिवार के प्राणियों की मृत्यु कराना उचित प्रतीत नहीं होता। उदयभानु की आत्महत्या और मंसाराम की मृत्यु तो समझ में आती है क्योंकि एक में दहेज का भार और दूसरे में ज्वर की विषमता कारण है परन्तु शेष तीन का निधन करा देना उचित प्रतीत नहीं होता। यदि ये जीवित रहते तो उपन्यास में और जान पड़ जाती और पाठक पढ़कर सर पीट कर रोता सा न रह जाता। सियाराम का साधु के साथ चला जाना भी उचित है क्योंकि विमाता का व्यवहार मूलतः ही सन्देह-जनक होता है।

यह उपन्यास छोटा अवश्य है परन्तु उपर्युक्त समस्याएँ बड़े सुस्पष्ट एवं रोचक रूप में रक्खी गई हैं। कथावस्तु में प्रासंगिकता कम है, पात्रों की भी भरमार नहीं है। प्रेमचन्द भारतीय नारी का चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। इसमें अधिक हत्याएँ खलती हैं। भाषा अत्यन्त सरल है।

रंगभूमि

संक्षिप्त कथा—बनारस के समीप पांडेपुर ग्राम में सूरदास नाम का अन्धा भिक्षुक रहता था। उसकी कुछ भूमि थी जो उसे पैतृक रूप में मिली थी और जिसमें गाँव के पशु चरा करते थे। एक ईसाई पूँजीपति जान सेवक वहाँ सिगरेटों का कारखाना खोलना चाहता था अतः सूरदास से वह उस भूमि को ऊँचे दाम देकर भी मोल लेना चाहता है परन्तु सूरदास नहीं बेचता क्योंकि फिर पशु न चर सकेंगे और व्यभिचार भी फैलेगा। जानसेवक की लड़की सोफिया उच्च विचार की रमणी थी, वह सूरदास से सहमत हो जाती है, जिससे चिढ़कर उसकी माँ धर्म-कलह करके उसे घर से निकाल देती है।

सोफिया मार्ग में एक अग्निकाण्ड में फँसे हुए सेवा-समिति के मुख्य व्यक्ति विनय की रक्षार्थ जाती है और उसे बचाकर स्वयं मूर्छित हो जाती है। विनय कुँवर भरतसिंह का पुत्र था। संज्ञा आने पर वह अपने को उनके भवन में पाती है और विनय का आभार मान कर उससे प्रेम करने लगती है।

जानसेवक को जब ज्ञात होता है तो वह सोफिया को देखने जाता है और वहाँ पटुता से भरतसिंह को पचास हज़ार के शेयर बेच देता है। भरतसिंह ~~की सहायता~~ से वह उनके दामाद महेन्द्रसिंह से, जो चतारी के राजा और वहाँ की म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष हैं, मेल बढ़ा लेता है और शीघ्र ही सूरदास को भूमि बेचने के लिए विवश कराना चाहता है परन्तु सूरदास महेन्द्रसिंह की भी एक नहीं सुनता।

विनय की माँ जाह्नवी को जब यह ज्ञात होता है कि उसका पुत्र सोफिया

से प्रेम करता है वह उसे सेवा-कार्य के लिए उदयपुर भेज देती है परन्तु वह सोफिया को नहीं भूलता और वहाँ से सोफिया के भाई प्रभुसेवक के हाथों एक प्रेम-पत्र सोफिया के लिए भेजता है। सोफिया उस पत्र को यह सोचकर कि उसे देखकर जाह्नवी को दया आ जायगी, उसे दिखाती है परन्तु जाह्नवी उसके विपरीत सोफिया से बलात् यह उत्तर दिला देती है कि मैं तुम्हारी बहिन के समान हूँ।

उसी समय क्लार्क नामक अंग्रेज पौलिटीकल एजेण्ट होकर आता है। वह अविवाहित है। श्रीमती जानसेवक यह सोचकर कि सोफिया का विवाह इससे कर देंगे, सोफिया को घर लिवा लाती है।

विनयसिंह एक दिन सेवा कार्य करने के पश्चात् एक गाँव से जसवन्तनगर लौट रहा था कि सहसा उसे वीरपालसिंह मार्ग में मिलता है, जिसे राजा ने डाकू घोषित किया हुआ है परन्तु वह डाकू नहीं है वरन् राजा के अत्याचारों के विरुद्ध जनता का रक्षक है। विनय से उसकी बातचीत होती है, जिसका भेद खुल जाता है और विनय को कारागृह भेज दिया जाता है। वीरपालसिंह उसे मुक्त कराने जाता है तो वह स्पष्ट मना कर देता है।

सोफिया को विनय की सजा का पता लग जाता है। पहले तो वह यह जानकर कि क्लार्क सूरदास की भूमि बिकवाने में सहायक हो रहा है, उससे प्रेम का स्वाँग रचती है और उसकी आज्ञा को रद करवा देती है। पुनः उसका विनय की मुक्ति-सम्बन्धी आज्ञापत्र लेकर वह विनय के पास पहुँचती है। विनय यह जानकर प्रसन्न होता है कि सोफिया उसे भी प्यार करती है परन्तु जेल से जाने के लिए उद्यत नहीं होता। महेन्द्रसिंह को क्लार्क की बातें बड़ी अपमान-जनक प्रतीत होती हैं, और वह प्रयत्न करके उसकी बदली करा देता है। परन्तु वह कुछ समय पश्चात् पुनः वहीं आ जाता है।

विनय को जेल से किसी प्रकार आने के लिए इच्छुक न जानकर भरत-सिंह उसके पास पण्डा नायकराम को एक पत्र देकर भेजते हैं, जिसमें उसकी मां जाह्नवी को अत्यधिक बीमार लिखा गया है। पत्र पढ़कर विनय जेल से भाग निकलता है परन्तु मार्ग में वह एक काण्ड देखता है। क्लार्क की मोटर के नीचे एक व्यक्ति कुचल गया है और वीरपालसिंह जनता को भड़का कर विरोध कर रहा है परन्तु जब सोफिया क्लार्क का पक्ष लेती है तो उसे कोई ढेला मार देता है। इससे विनय भड़क जाता है और वीरपालसिंह पर झपटता है परन्तु वीरपाल के साथी उसे धक्का देकर गिरा देते हैं और सोफिया को बलात् उठाकर ले जाते हैं। विनय अधिकारियों की सहायता से उसे खोजना

चाहता है। एक दिन वीरपाल के आदमी उसे सोफिया के पास ले जाते हैं, जिससे विनय उससे मिलकर और यह जानकर प्रसन्न होता है कि सोफिया भी क्रान्तिकारी हो गई है। विनय वहाँ से लौट आता है। कुछ दिनों पश्चात् जाह्नवी विनय के पास एक पत्र इस आशय का डालती है कि बेटा ! सरकार तुमसे रुष्ट है अतः क्रान्तिकारियों के साथ न रहो और लौट आओ। विनय लौट कर आ रहा है, उधर सोफिया भी इस जीवन से ऊबकर उसी गाड़ी से आ रही है और दोनों का मिलन हो जाता है। दोनों घर नहीं जाते और एक स्टेशन पर उतर कर काशी चले जाते हैं।

इधर एक दिन पाँडेपुर में भैरों नामक ताड़ी बेचने वाला अपनी स्त्री सुभागी को मारता है और वह भागकर सूरदास के घर में आश्रय लेती है। सूरदास उसे बचाता है और आश्रय देता है। लोग सूरदास को बुरा-भला कहते हैं। भैरों सूरदास की झोंपड़ी जला देता है और उसके द्वारा संचित ५००) ले लेता है। सुभागी उन रुपयों को लौटाने जाती है परन्तु सूरदास उन्हें भैरों के पास भिजवा देता है। इससे चिड़कर भैरों सुभागी को इतना मारता है कि वह सदा के लिए सूरदास का आश्रय ले लेती है। लोग सूरदास के विरुद्ध हो जाते हैं, मुकद्दमा चलता है और सूरदास को जेल हो जाती है। पीछे से सूरदास की भूमि ही नहीं, सम्पूर्ण गाँव की ही भूमि जानसेवक के हाथ में पहुँच जाती है और कारखाना बनने लगता है। लोगों की सहानुभूति सूरदास के प्रति होने लगती है और वे उसे छुड़ा लेते हैं।

विनय और सोफिया घर आ जाते हैं। माता उन्हें क्षमा कर देती है परन्तु गाँव वाले ताने मारते हैं। मज़दूरों को बसाने का प्रश्न उठता है अतः सम्पूर्ण गाँव को भी ले लेने का प्रस्ताव आता है और म्युनिसिपैलिटी उसे पास कर देती है। भूमि और घर-बार को जाता देखकर गाँव वाले सत्याग्रह प्रारम्भ कर देते हैं। विनय उनका साथ देता है परन्तु तानों को सह नहीं सकता और पिस्तौल मार कर आत्महत्या कर लेता है। सूरदास भी इस सत्याग्रह में गोली से मारा जाता है। सोफिया विनय के वियोग को न सह कर आत्महत्या कर लेती है और उधर उसकी मां भी पागल होकर मर जाती है। विनय की मृत्यु के पश्चात् भरतसिंह सेवा का कार्य छोड़कर विलास में निमग्न हो जाते हैं क्योंकि उन्हें अब न ईश्वर पर विश्वास है और न लोक-सेवा में रुचि।

जानसेवक का कारखाना खूब चलने लगता है, लोग भी उसी रंग में रंग जाते हैं और वह स्थान शनैः-शनैः स्वार्थ और बुराइयों का केन्द्र हो जाता है।

समीक्षा—रंगभूमि इनका एक वृहत्काय उपन्यास है जो १००० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। 'सेवासदन' सामाजिक उपन्यास था और 'प्रेमाश्रम' राजनैतिक परन्तु इसमें सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं को खोला गया है। प्रेमचन्द ने स्वयं इसे अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा है। इसमें प्रधान विषय है कि पूंजीपतियों का बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे खोलने में निर्धन पुरुषों की भूमि हड़पना, उन्हें लघु वेतन देकर अधिक काम लेना, सरकारी अफसरों से मिलकर उनके विरुद्ध विजय पाना और उन्हें दण्ड दिलवाना, व्यभिचार का फैलना आदि किस प्रकार होता है।

इसके लिए लेखक ने अपने कथानक को पांडेपुर, काशी एवं उदयपुर राज्यान्तर्गत जसवन्तनगर में केन्द्रित किया है। इतने बड़े उपन्यास में कथानक के निर्वहण के लिए पात्रों का सृजन भी अधिक मात्रा में हुआ है परन्तु चरित्र-चित्रण बड़ा विशद हुआ है।

इसमें कुछ पात्र अनेक समस्याओं को लेकर अनेक सिद्धान्तों के प्रतीक हैं। सूरदास गान्धीवाद का प्रतीक है, जानसेवक पूंजीवाद का, क्लार्क पक्का शासनाधिकारी है तो विनय एक अस्थिरमन सेवक है; जाह्नवी प्राचीन परम्परा की अनुयायिनी है तो श्रीमती जानसेवक नवीन ढंग की चुस्त-चालाक स्त्री। सोफिया एक आदर्श नारी है। भरों मद्यपों का प्रतिनिधि है। कुंवर भरतसिंह एक धनिक ज़मीदार हैं और महेन्द्रसिंह कुचक्र में लिप्त ज़मीदार। वीरपालसिंह साम्यवादी प्रतीत होता है।

इस विविध वातावरण में हमें गाँव भी देखने को मिलता है और शहर भी; भलों से भी सम्पर्क होता है और बुरों से भी; सदाचारी भी हैं और व्यभिचारी भी; राजा-रंक, धनी-निर्धन, किसान-मजदूर, पूजीपति-उद्योगपति, गांधीवादी-साम्यवादी, त्यागी-स्वार्थी तथा और भी अनेक प्रकार के व्यक्ति दृष्टिपथ में आते हैं।

सूरदास इस उपन्यास में सर्वश्रेष्ठ पात्र है। वह एक स्वार्थहीन व्यक्ति है, दूसरों के लिए सर्वस्व देने को उद्यत रहता है, स्वयं भीख माँग कर खाता है और अपनी भूमि गाँव के पशुओं के लिए छोड़ी हुई है। जानसेवक भूमि मोल लेना चाहता है परन्तु वह इसलिए नहीं बेचता कि वहाँ कारखाना खुल जाने से अनेक बुराइयाँ फैल जायँगी। वह इस भावना के वश गांव का विरोध सहकर भी भैरों की स्त्री सुभागी को आश्रय देता है और यही नहीं अपने संचित ५००) भी उसे सौंप देता है। वह लोभी नहीं है अतः भैरों की कुटिया पहले बनवाता है और स्वयं चौड़े में रहता है। वह अत्याचार का सामना दुर्दान्त भाव से करता

है, अतः न उसे अन्याय करने वाली जनता की परवा है और न सरकार के दमन-चक्र की। सुभागी की रक्षार्थ उसे साथियों का विरोध सहना पड़ता है, जेल भी जाता है और अन्त में पूँजीपतियों और भूमिपतियों से भी टक्कर लेता है और सत्याग्रह करता हुआ गोली का शिकार होता है। वास्तव में इस चरित्र में हम गान्धीवादी नेता के दर्शन करते हैं। परन्तु वह अन्धा है और अन्त में 'मैं हारा' कहकर हार मान लेता है—ये दो बातें लेखक की विलक्षण सूझ का परिणाम हैं। उच्च आदर्शवादी व्यक्ति को अन्धा चित्रित करना और गान्धी के अनुयायी के मुख से हार का शब्द निकालना विलक्षणता ही है। सम्भवतः 'सेवासदन' का जो आदर्शवादी उपन्यासकार 'प्रेमाश्रम' में आदर्श और यथार्थ दोनों का आश्रय लेकर चला है, यहाँ यथार्थवादी हो गया है और इसीलिए यथार्थ के सम्मुख आदर्श की पराजय दिखाता है। सूरदास की जानसेवक से हार पूँजीवाद के समक्ष गान्धीवाद की हार है—यथार्थ से आदर्श की पराजय है।

दूसरा उत्कृष्ट चरित्र है सोफिया का। सोफिया एक श्रेष्ठ भारतीय आदर्श नारी है, जो विनय से प्रेम करती है और अन्त तक उसी को अपना समझती है। श्रीमती जानसेवक, जाह्नवी, क्लार्क और अनेक परिस्थितियाँ आदि उसके मार्ग में बाधक होते हैं परन्तु वह अचल है, अडिग है। अन्त में विनय के वियोग में अपने प्राण दे देती है। वास्तव में वह सेवानिरत, कर्त्तव्यपरायण एक सती-साध्वी है। इसके चरित्र में हम एनीबेसेंट के चरित्र की झलक देखते हैं।

विनय अस्थिर स्वभाव का युवक है। वह सोफिया से प्रेम करता है परन्तु सभय भी है। बन्दी होने पर जेल जाता है और आदर्शवश वीरपालसिंह के कहने पर एवं सोफिया के प्रयत्न पर भी वह जेल से नहीं आता है परन्तु माता की बीमारी का समाचार सुनकर बिना आज्ञा के भाग निकलता है। आगे क्लार्क के विरुद्ध विद्रोह में वह सोफिया के साथ क्लार्क की ओर से जनता के विरुद्ध लड़ता है। परन्तु पुनः सोफिया के क्रान्तिकारी हो जाने पर वह भी क्रान्ति-कारी हो जाता है। तत्पश्चात् माता के पत्र से वह इस मार्ग को छोड़ देता है और मार्ग में ही सोफिया से भेंट होने पर उसके साथ परदेश में प्रेम-लीला में लिप्त रहता है। तदनन्तर गृह आने पर सत्याग्रह में सम्मिलित होता है परन्तु लोगों के ताना कसने पर आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार वह एक अस्थिर युवक दृष्टिगोचर होता है।

क्लार्क शासन का प्रतिनिधि है। उसमें अंग्रेज़ी अफसरों के सभी गुण और अवगुण विद्यमान हैं। कुँवर भरतसिंह एक बड़े जमींदार हैं। वे सेवा करते हैं लोगों से अनुचित लाभ उठाने परन्तु पुत्र के मरने पर वे सेवा का स्वाँग छोड़

देते हैं और विलास में लिप्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि ईश्वर पर से भी उनका विश्वास हट जाता है। महेन्द्रसिंह जमींदारों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे अत्याचारी भी हैं, कूटनीतिज्ञ भी और षड्यंत्र-परक भी।

श्रीमती जानसेवक एक वैज्ञानिक युग की स्त्री है। जाह्नवी धर्मभीरु प्राचीन विचार की नारी है और महेन्द्रसिंह की स्त्री इन्दु मध्यम श्रेणी की भारतीय भार्या है जो पति का साथ तो देती है परन्तु कुमार्ग पर नहीं।

वीरपालसिंह हमें कम्युनिस्ट के रूप में दीख पड़ता है। इनके अतिरिक्त जानसेवक के कारखाने का दारोग़ा ताहिरअली, उसकी स्त्री कुलसुम, डा० गंगोली तथा भैरों आदि और भी अनेक पात्र हैं जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए अपना-अपना कार्य समाप्त कर दूर हो जाते हैं।

इसमें ज़मींदारी एवं पूंजीवाद के समक्ष जनता-जनार्दन की पराजय स्वीकार की गई है। सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक सभी प्रकार की समस्याएँ हमें इसमें अपने भीषण रूप में दिखलाई देती हैं। प्रेमचन्द का यह अनुभव कि अंग्रेज़ी शासन और उसके सब अंग एक दम्भ हैं जो केवल कष्ट के ही कारण हैं, अनर्थों के ही उत्पादक हैं, इसमें खुलकर चित्रित हुआ है। परन्तु वर्त्तमान युग की भौतिकता को विजयी बनाकर उन्होंने यथार्थ की आदर्श पर विजय दिखलाई है।

इतनी बड़ी कथा में अनेक प्रासंगिक कथाओं के होते हुए भी कहीं तार नहीं टूटा है, अरोचकता नहीं आने पाई है और लक्ष्य विस्मृत नहीं हुआ है, यह अत्यधिक प्रशंसनीय है।

आत्महत्या और हत्या का ताण्डवनृत्य इस उपन्यास में भी है।

कायाकल्प

संक्षिप्त कथा—मुंशी बज्रधर का पुत्र चक्रधर एम० ए० है। वह नौकरी की अपेक्षा सेवा को महत्व देता है अतः ग्राम-सुधार का काम करता है। साथ ही जगदीशपुर के दीवान की पुत्री मनोरमा को घर पर पढ़ाने लगता है। मनोरमा उसके आदर्श से प्रभावित हो जाती है और प्रेम करने लगती है।

जगदीशपुर के राजा महेन्द्रसिंह की विधवा रानी देवप्रिया का मन विलास से विरक्त नहीं हुआ था अतः वह एक राजकुमार के साथ, जो उसे पूर्व-जन्म में अपनी पत्नी बतलाता था, चली जाती है और राज्य अपने देवर विशालसिंह को सौंप जाती है। विशालसिंह के राज्याभिषेक का प्रबन्ध होता है, जिसके लिए जनता से बलात् धन इकट्ठा किया जाता है। लोग विरोध करते

हैं तो अत्याचार होता है। चक्रधर यह सोचकर कि यह अन्याय राजा की ओर से नहीं वरन् राज-कर्मचारियों का है, राजा विशालसिंह के पास इसका समाचार देने जाता है परन्तु अपमानित होता है। जनता एक दिन क्रुद्ध होकर पुलिस पर आक्रमण कर देती है, चक्रधर अधिकारियों की रक्षा करता है परन्तु इस अपराध में कि उसी ने लोगों को भड़काया है, पकड़ा जाता है और बन्दीगृह भेज दिया जाता है।

विशालसिंह के तीन रानियाँ थीं, उनमें पारस्परिक कलह रहती थी अतः वह मनोरमा की ओर आकृष्ट हुआ। मनोरमा, जो चक्रधर के समाज-सेवा के आदर्श पर मुग्ध थी, वैभव को देखकर ललचाने लगी और मनसा अपने को विशालसिंह को सौंप दिया परन्तु चक्रधर के प्रति श्रद्धा में कमी न आई। उसने अपने प्रयत्न से चक्रधर को मुक्त करा दिया। विशालसिंह ने तो उसे नहीं छोड़ा परन्तु मुकद्दमा मनोरमा के भाई गुरुप्रसाद की अदालत में था अतः वह उसे मुक्त कर देता है। मनोरमा के प्रयत्नों से स्वयं राज्य की ओर से उसका स्वागत होता है। पुनः दोनों समाज-सेवा में लग जाते हैं।

एक दिन यशोदानन्दन अहिल्या के लिए वर ढूँढने आते हैं और चक्रधर को आगरे ले जाते हैं। वहाँ चक्रधर हिन्दू-मुस्लिम दंगे को रोकता है और यह जानकर कि अहिल्या यशोदानन्दन की औरस पुत्री नहीं वरन् पालित कन्या है जो उन्हें तीन वर्ष पूर्व प्रयाग के मेले में मिली थी, उससे विवाह करने के लिए उद्यत हो जाता है परन्तु कारणवश जेल जाता है। अहिल्या जेल में उस से मिलती है। जेल से मुक्त होने पर वह आगरे जाता है परन्तु ज्ञात होता है कि हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया था और उसमें यशोदानन्दन मारे गए एवं अहिल्या को मुसलमान ले गए। यशोदानन्दन के मित्र ख्वाजा महमूद अहिल्या की रक्षा करते हैं और वापस लौटा देते हैं। चक्रधर अहिल्या को साथ ले घर आ जाता है परन्तु माँ-बाप को अहिल्या के प्रति अन्यमनस्क सा देख इलाहाबाद चला जाता है। वहाँ उनके शंखधर नाम का पुत्र उत्पन्न होता है।

प्रयाग में चक्रधर को मनोरमा की बीमारी का समाचार मिलता है और वह जगदीशपुर चला आता है, जहाँ कुछ ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जिनसे पता चलता है कि अहिल्या विशालसिंह की ही पुत्री है, जो प्रयाग के मेले में बीस वर्ष पूर्व खोई गई थी। विशालसिंह चक्रधर को जमाई की भाँति रखता है और उसे वैभव का अधिकारी बना देता है। मनोरमा को दूर और अहिल्या को वैभव-लिप्त जानकर वह इधर-उधर घूमता रहता है। एक दिन मार्ग में मोटर बिगड़ जाती है और एक ग्रामीण से उसे धकेलने के लिए कहता है परन्तु वह मना कर

देता है, जिससे क्रुद्ध होकर वह उसे इतना मारता है कि वह ग्रामीण मर जाता है। पुनः अत्यन्त दुखी हो वह घर से निकल जाता है। शंखधर बड़ा होता है और तेरह वर्ष की अवस्था में वह साधु के वेश में पिता को ढूंढने निकलता है और भगवानदास साधु के रूप में उसे पाता है।

चक्रधर घर चलने को उद्यत नहीं होता। शंखधर वापस आता है परन्तु मार्ग में देवप्रिया के अवतार कमला से मिलन हो जाता है और वह यह जान कर कि वह पूर्वजन्म में उसका पति था, उससे परिणय कर लेती है। दोनों जगदीशपुर आते हैं परन्तु शंखधर वासना में लिप्त नहीं होना चाहता अतः प्राण त्याग देता है। पुत्र-शोक में विशालसिंह भी आत्महत्या कर लेता है। दो-तीन दिन पश्चात् चक्रधर सहसा आ जाता है और अहिल्या दुखी होकर उसके चरणों पर गिर कर प्राण दे देती है। चक्रधर पुनः विषण्ण हो घर से निकल जाता है। देवप्रिया कमला के रूप में पुनः जगदीशपुर में शासन करने लगती है परन्तु अब वह विलास-प्रिय नहीं प्रत्युत् शान्त और दान्त भारतीय विधवा है।

समीक्षा—प्रेमचन्द का यह उपन्यास सफल उपन्यास नहीं है। कथावस्तु में जो जन्म-जन्मान्तरों की स्मृति के साथ परिणय हुए हैं वे तिलस्म की-सी बातें हैं। सम्भवतः तिलस्मप्रिय लोगों के लिए ही यह उपन्यास उन्होंने लिखा हो। कर्मठ चक्रधर को बार-बार घर से विरक्त होकर निकालना भी लेखक की लेखनी के किसी कारणवश हुए शैथिल्य को ही बतलाता है।

देवप्रिया महेन्द्रसिंह की स्त्री है। महेन्द्रसिंह का देहावसान हो जाता है और वे हर्षपुर के राजकुमार इन्द्र विक्रमसिंह के रूप में अवतार लेते हैं और पुनः देवप्रिया से परिणय करते हैं। पुनः उनका देहान्त हो जाता है और देव-प्रिया कमला के नाम से हर्षपुर में तपस्या करती हुई उनके पुनर्मिलन के लिए प्रतीक्षा करती है। राजकुमार शंखधर के रूप में अवतार लेता है और पुनः इनमें विवाह-सम्बन्ध हो जाता है। विलासवती विधवा देवप्रिया को अन्त में पवित्र शान्त विधवा कमला के रूप में दिखाया गया है, यह सुधार अवश्य है परन्तु इसके लिए इतनी घटना-जटिलता!

इसमें महात्मा गान्धी के आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट है। विशालसिंह के राज्याभिषेक पर चन्दावसूली के समय संघर्ष, पुनः हिन्दू-मुस्लिम दंगा आदि घटनाएँ इसके प्रमाण है। साथ ही तिलस्म और ऐयारी की कहानी सारे उपन्यास को गोरखधन्धा बना देती है।

चक्रधर को प्रेमचन्द जी ने इसका सर्वश्रेष्ठ पात्र बताया है परन्तु वह बड़ा विलक्षण है, समाजसेवी अवश्य है परन्तु इधर मनोरमा से सम्बन्ध (प्रगाढ़

नहीं) होते हुए भी वह सुधार के नाते अहिल्या से परिणय कर लेता है। यह सनक ही कही जायगी। अहिल्या को विलास-लिप्त जानकर चिड़ा-चिड़ा फिरता है और समाज-सेवा-व्रती होता हुआ भी एक निरीह ग्रामीण को जान से मार देता है। पुनः घर से निकल जाता है और दीर्घकाल पश्चात् पुत्र को मिलता भी है तो घर नहीं आता। आता भी है तो तब जब सब कुछ खो देता है और पुनः अहिल्या को परलोक-गत देखकर घर से चला जाता है। विलक्षण चरित्र है, न कोई स्थिरता है और न दृढ़ आदर्श। हाँ, समाज-सेवा का आदर्श अवश्य इससे मिलता है। मनोरमा के सम्बन्ध में भी वह भीरु ही दृष्टिगोचर होता है। मनोरमा भी अस्थिर-मन स्त्री है।

चक्रधर और मनोरमा की कथा की आधार-शिला सामाजिक है, इसका 'कायाकल्प' के नामकरण से कोई सम्बन्ध नहीं। कायाकल्प की साज-सज्जा रहस्यात्मक प्रेम के लिए ही है। देवप्रिया से कमला और महेन्द्रसिंह से शंखधर तक यह व्याप्त है और यही कायाकल्प है। इन्द्रविक्रमसिंह का पूर्व जन्म का वृत्तान्त पूरी जादू की कहानी है और उसमें जो विज्ञान का योग से सम्बन्ध बतलाया गया है, वह लेखक की नवीनता और अनौखी सुधारवादिता का परिचायक है। शंखधर भी चन्द्रधर के पास से जब लौटता है तो हर्षपुर के स्टेशन पर पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है और देवप्रिया के पास जाकर अपने को उसका पूर्वजन्म का साथी बताता है। देवप्रिया उपनाम कमला उससे विवाह कर लेती है परन्तु शंखधर प्राण छोड़ देता है। देवप्रिया पुनः तपस्विनी की भाँति प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा करने लगती है।

यह सब कुछ होते हुए भी यह उपन्यास भाषा, भाव एवं रस की दृष्टि से श्रेष्ठतम उपन्यासों में से है। घटनाचक्र विलक्षण तो है परन्तु शिथिल नहीं। जन्मजन्मान्तरों की कथा से प्रेमचन्द जी का अभिप्राय पति-पत्नी का दिव्य-सम्बन्ध बतलाना ही है। विलासी विशालसिंह के चरित्र से इसका दूसरा पक्ष दिखाया गया है। प्रेमचन्द—यद्यपि उनके जीवन में कुछ इसके विपरीत घटना घटी फिर भी—एक पत्नीव्रत के पक्षपाती थे अतः विवाह को वे एक धार्मिक क्रिया समझते थे। मनोरमा के पिता हरिसेवक के प्रति लोगों का प्रेम एक सती-साध्वी का प्रेम है। अहिल्या भी एक सच्ची भारतीय नारी है।

संसार के प्रेम-कथा-साहित्य में यह कृति अवश्य ही स्तुत्य रहेगी।

ग़बन

संक्षिप्त कथा—दयानाथ कचहरी में एक नौकर था। उसका पुत्र रमानाथ था, जिसका विवाह जालपा नामक रमणी से हुआ। दयानाथ का वेतन

थोड़ा था और कुछ आय न थी परन्तु रमानाथ के विवाह में उसने इतना खर्च किया कि कर्ज हो गया। जालपा को सारे गहने मिले परन्तु चन्द्रहार नहीं मिला जिसे वह अत्यधिक चाहती थी। रमानाथ ने डींगें बहुत मारीं परन्तु जालपा का चन्द्रहार न बन सका प्रत्युत् ऋण के चुकाने का बार-बार समाचार आने पर दयानाथ के कहने से वह उसके सभी गहनों को उठा ले गया और चोरी का बहाना लगा दिया। जालपा बड़ी दुखी हुई।

कुछ दिनों पश्चात् रमानाथ को म्युनिसिपैलिटी में ३०) मासिक की नौकरी मिल गई और कुछ ऊपरी आय भी हो गई। उसने जालपा के लिए गहने खरीदे परन्तु रुपये न चुकाये। जालपा गहने पहन कर स्त्रियों में जाती और गहने दिखाती। एक दिन एक वकील इन्द्रभूषण की स्त्री रतन से उसका परिचय हो गया। उसने भी जालपा के से कंगन बनवाने के लिए कहा और ६००) रमानाथ को दे दिए। रमानाथ सराफ पर गया परन्तु उसने वे रुपये ऋण में जमा कर लिए और कंगन देने से मना कर दिया। रतन कंगनों के लिए कहती तो न बनने का बहाना लगा देता। एक दिन वह रुपये माँग बैठी तो रमानाथ को बड़ी चिन्ता हुई। कुछ दिन पश्चात वह म्युनिसिपैलिटी के रुपये खजाने में जमा न करके घर ले आया। जालपा ने वे रुपये रतन को दे दिए। रमानाथ को बड़ी चिन्ता हुई कि यदि वह कल रुपये जमा न करेगा तो जेल हो जायगी। उसने जालपा के लिए एक पत्र लिखा परन्तु उसे देने से पूर्व ही जालपा के हाथ वह लग गया। उसे पत्र पढ़ते देखकर रमानाथ को बड़ी लज्जा आई और घर से भाग निकला। जालपा ने सब बातें जान गहने बेचकर म्युनिसिपैलिटी के रुपये जमा कर दिए।

रेल में जाते हुए रमानाथ की भेंट देवीदीन से हुई। वह उसी के साथ कलकत्ते चला गया। उसकी सब्जी की एक दुकान थी जिस पर उसकी बुढ़िया बैठती थी। रमानाथ वहाँ ब्राह्मण बन कर रहने लगा और बुढ़िया को माँ की भाँति मानता था। वह पुलिस के भय से बाहर भी नहीं निकलता। एक दिन वह स्वाँग देख कर आ रहा था कि पुलिस को देखकर चौंकने लगा। पुलिस को सन्देह हुआ और पकड़ा गया। थाने में डर कर ग़बन की बात कह सुनाई। पुलिस ने इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी को तार दिया परन्तु वहाँ तो रुपये भरे जा चुके थे अतः कोई ग़बन प्रमाणित न हुआ। परन्तु पुलिस ने उसे न छोड़ा और क्रान्तिकारियों के विरुद्ध चले हुए एक मुकद्दमे में उसे साक्षी बनाया। उसे रटा हुआ बयान देना पड़ा, जिससे क्रान्तिकारियों को लम्बी-लम्बी सजायें हुईं। अब सभी लोग उससे घृणा करने लगे।

जेल जाने से पूर्व रमानाथ ने शतरंज के एक नक्शे को भर कर ५०) म पाये थे, जो जालपा ने रतन की सलाह पर घोषित किये थे क्यों कि वह ती थी कि रमानाथ अवश्य भेजेगा और उन्हें उसका पता लग जायगा। ही हुआ, जालपा कलकत्ता आई और देवीदीन के यहाँ ही ठहरी परन्तु उसे जानकर दुख हुआ कि रमानाथ पकड़ा गया है और क्रान्तिकारियों के विरुद्ध बेर हो गया है। उसने प्रयत्न भी किया परन्तु पुलिस ने उसे न छोड़ा। वकील साहब बीमार पड़ गए और रतन उनका इलाज कराने के लिए त्ता लाई। जालपा से उसकी भेंट हुई। रतन ने उसकी अनेक प्रकार से यता की। वकील साहब का देहान्त कलकत्ते में ही हो गया।

पुलिस कभी-कभी रमानाथ को जालपा से मिलने के लिए आज्ञा दे देती वह एक दिन कुछ आभूषण लेकर उससे मिलने गया परन्तु उसने न लिए। जालपा एक क्रान्तिकारी की बूढ़ी मां की सेवा में तत्पर रहने लगी। जोहरा वेश्या की जो पुलिस के कहने पर रमानाथ के मन-बहलाव के लिए करती थी, सहायता से वह जेल से छूटा और एक हाईकोर्ट के वकील क्ष पुलिस का सारा भंडाफोड़ कर दिया। क्रान्तिकारियों का मुकद्दमा र्ट में पुनः सुना गया और रमानाथ के सही बयानों के आधार पर उन्हें कर दिया गया।

रमानाथ जालपा के साथ घर चला आया। जोहरा भी साथ आई। मलकर गंगा किनारे खेती करने लगे। एक दिन जोहरा गंगा में स्नान गई और उसकी तीव्र धारा में समा गई। रमानाथ और जालपा कुछ न के।

समीक्षा—यह प्रेमचन्द का एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें मध्यवर्ग त्रयों की आभूषण-प्रियता के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं। जालपा की यही रमानाथ की इतनी आपत्तियों का कारण बनती है।

सारे उपन्यास की कथा में एकसूत्रता है। विविध घटना-चक्रों की बड़ी सुन्दर हुई है। रतन का परिचय कथा को बड़ी उग्रता से प्रारम्भ है परन्तु पुनः रतन का कलकत्ते पहुँचाना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। में पुलिस द्वारा रमानाथ का पकड़ा जाना, जालपा का वहाँ पहुँचना का सम्बन्धित होना आदि घटनाएँ बड़ी रोचक हैं और कथावस्तु को ी ओर ले जाने में सहायक हुई हैं। कम पढ़ी-लिखी जालपा का कलकत्ते ना और बड़ी चतुरता से कार्य करना कुछ विलक्षण-सा प्रतीत होता है।

इसमें चरित्र-चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। मध्यम वर्ग का नवयुवक

कितना ढोंगी, अस्थिर और झूठा होता है, रमानाथ इसका उदाहरण है। वह धनी न होते हुए भी जालपा से डींगें मारता रहता है और जब कर्ज की बात खुलती है तो लज्जावश उससे कहता भी नहीं और घर से भाग जाता है। कलकत्ते में भयभीत रहता है, निदान पकड़ा जाता है और जेल-भय से मुखबिर बनता है। ये सब अस्थिर-मन युवक की क्रियायें हैं।

जालपा आदर्श नारी अवश्य है परन्तु उपन्यास के मूल तत्व आभूषण-प्रियता के दुर्गुण से वह पूर्ण है अतः निर्दोष नहीं। इसमें उज्ज्वल चरित्र है देवीदीन का, जो निस्वार्थ भाव से पर-हित करता है, रमानाथ को आश्रय देता है, पुनः जालपा को भी ठहराता है। विदेशी माल के विरोधस्वरूप सत्याग्रह में उसके लड़के मारे जाते हैं परन्तु विचलित नहीं होता वरन् स्वयं मोर्चे पर जा जमता है। रमानाथ के मुखबिर हो जाने पर वह उसे घृणा करने लगता है। इन सब गुणों से वह एक सच्चा देश-भक्त और परोपकारी सिद्ध होता है।

जोहरा में सच्चे प्रेम की उद्भूति प्रेमचन्द के आदर्शवाद का परिणाम है। वैसे सारा उपन्यास यथार्थवाद की आधार-शिला पर खड़ा है। रमानाथ का सारा चरित्र यथार्थ से परिपूर्ण है।

घटनाओं में जटिलता नहीं है और एक लक्ष्य की ओर कथा रोचकता से बढ़ती चली गई है, यही इस उपन्यास की कला-श्रेष्ठता है। सामाजिक उपन्यासों में वास्तव में यह ऊँचा स्थान रखता है। वैसे तो इसमें राजनैतिक चक्र भी चले हैं, पुलिस के भ्रष्टाचार का भी अंकन हुआ है परन्तु यह सब बातें उसी मूल कथा से जकड़ी हुई हैं।

कर्मभूमि

संक्षिप्त कथा—लाला समरकान्त दिल्ली के एक धनिक किन्तु कंजूस व्यक्ति थे। उनके दो विवाह हुए, जिनमें से प्रथम पत्नी से था अमरकान्त और दूसरी से एक लड़की नैना। दूसरी पत्नी के मर जाने पर उन्होंने विवाह न किया। अमरकान्त पढ़ता था परन्तु समरकान्त उसकी फीस भी नहीं देते थे। कभी-कभी तो उसका मित्र सलीम ही फीस चुका देता था। बड़ी कठिनाई से पढ़ना हुआ।

अमरकान्त का विवाह एक धनिक विधवा रेणुकादेवी की पुत्री सुखदा से हुआ और नैना का एक विलासी निरंकुश युवक से। समरकान्त चाहते थे कि उनका पुत्र व्यापार करे परन्तु अमर का मन जन-सेवा में अधिक लगता था, वह डॉ० शान्तिकुमार और अन्य साथियों के साथ प्रायः ग्राम-सुधार के काम

में इधर-उधर जाया करता था। यह बात न तो पिता को पसन्द थी और न सुखदा को। सुखदा चाहती थी प्रेम और शृंगार अतः घर में कलह रहने लगा। अमरकान्त ऊब कर अमर-सकीना को चाहने लगा और एक दिन पिता से स्पष्ट कह कर घर से चला गया और हरिद्वार के निकट एक चमारों की बस्ती में ग्राम-सुधार का काम करने लगा।

यहाँ एक अवान्तर कथा है जो मुन्नी से सम्बन्ध रखती है। वह ग्राम की स्त्री है। दो गोरों ने उस पर बलात्कार किया। मुन्नी को सतीत्व-हरण से बड़ी लज्जा और घृणा हुई अतः उसने दो गोरों की हत्या कर दी परन्तु वह पकड़ी गई। अमर एवं अन्य नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने उसकी सहायता की और वह बरी हो गई। अमर चमारों की बस्ती में चला गया। कुछ समय तक मुन्नी दुखी अवस्था में मुँह छिपाती रही। अन्त में वह भी चमारों की बस्ती में चली गई। अमरकान्त उसे चाहने लगा परन्तु मुन्नी सजग रही। पुनः मुन्नी उसकी ओर आकृष्ट हुई और अमर बचा रहा।

अमर की सेवा-भावना से सुखदा की आँखें खुलीं और वह अमरकान्त के आदर्श से प्रभावित हो जन-सेवा में लीन हो गई। इसी समय हरिजनों के लिए मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न उठा और सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ जिसमें सुखदा ने भी डॉ० शान्तिकुमार आदि के साथ प्रमुख भाग लिया। पुनः मजदूरों एवं अछूतों के लिए घर बनाने का प्रश्न बोर्ड में उठा। शान्तिकुमार एवं सुखदा आदि की इच्छा थी कि बोर्ड इस कार्य के लिए एक विशेष स्थान निश्चित कर दे पर बोर्ड इससे सहमत न हुआ। अन्त में सत्याग्रह हुआ, जिसमें डॉ० शान्तिकुमार, सुखदा और रेणुकादेवी को जेल हुई।

अमरकान्त ने जब सुखदा की जन-सेवा के बारे में सुना तो वह यह सोच कर कि उसकी पत्नी उससे आगे बढ़ी जा रही है, सेवा-कार्य में और भी दत्तचित्त हो गया। अमर चमारों की जिस बस्ती में था, उसमें एक महन्त रहता था और वह किसानों पर बड़ा अत्याचार करता था। अमर उसके शोषण से चिढ़ता था। लगानबंदी का जब प्रश्न आया तो सत्याग्रह करना पड़ा। अमर ने इसको अहिंसात्मक ढंग पर चलाया। अमर का मित्र सलीम इस स्थान पर अधिकारी नियुक्त हुआ था। सरकार की आज्ञा से उसने अमर को गिरफ्तार कर लिया। समरकान्त भी अमर की खोज में आए और इस आन्दोलन में पकड़े गए। सलीम भी प्रभावित होकर किसानों के पक्ष में गया अतः उसे भी जेल जाना पड़ा।

आन्दोलन ने भीषण रूप धारण कर लिया, जिससे घबड़ा कर गवर्नर ने

निर्णय करने के लिए पाँच व्यक्तियों की एक कमेटी बना दी, जिसमें अमरकान्त और सलीम को भी रक्खा और लोगों को छोड़ दिया। इस प्रकार जनता की विजय हुई।

समीक्षा—इस उपन्यास में राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही समस्याओं पर विचार है। यह सन् १९३१-३२ के आन्दोलन के समय लिखा गया था, अतः राजनैतिक समस्याओं का चित्रण प्रधानतः हुआ है। रंगभूमि की भाँति इसमें भी समाज की कुरीतियों एवं शासन के अत्याचारों का भंडा-फोड़ है। सर्वप्रथम समरकान्त को कंजूस दिखा कर पुनः सुखदा को विलास-प्रिय चित्रित कर भारतीय धनिकों की मनोवृत्ति का सच्चा दिग्दर्शन कराया है। गोरों द्वारा मुन्नी पर बलात्कार अँग्रेजों की निरंकुशता का ही एक चित्र है। पुनः मुन्नी की लज्जा एवं घृणा से भारतीय नारी का सतीत्व-मूल्य प्रदर्शित किया है। परन्तु प्रेमचन्द मुन्नी को समाज में स्थान न दे सके यह उनके आदर्श-वाद का परिणाम है। महन्त की अनीति और विलासिता भी अँग्रेजी शासन के पिट्ठुओं एवं निरंकुश नर-पशुओं के ही दुर्गुणों को प्रकट करती है। द्विज लोग अछूतों को कितना नीचा समझते हैं यह उनके मन्दिर-अप्रवेश एवं गन्दी बस्तियों से सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार इसमें सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों की बुरा-इयों का चित्रण है। परन्तु 'रंगभूमि' की अपेक्षा इसमें चित्रण-कला कुछ हलकी है। यह उपन्यास पात्र-प्रधान है क्योंकि इसमें अमर एवं सुखदा आदि पात्र अपना मार्ग स्वयं बनाते हैं।

अमर एक कर्मठ युवक है, जिसने शिक्षा भी अपने बल पर पाई, स्त्री से न बनने पर चमारों की बस्ती में चला गया और वहाँ अपने मार्ग को प्रशस्त किया। परन्तु उसके जीवन में प्रथम सकीना और पुनः मुन्नी का आकर्षण हुआ। सकीना मुसलमान थी अतः लेखक ने उसे एक हिन्दू का साथी न होने दिया, दूसरे अमर विवाहित भी था। मुन्नी भी विवाहित और अमर भी विवा-हित था, अतः ये भी लेखक ने शरीरतः दूर ही रक्खे। प्रेमचन्द स्वयं प्रेम का स्वाँग रच चुके थे अतः उन्हें युवक-युवतियों की प्रेम-लीला का सहज ज्ञान था परन्तु उन्होंने आदर्श को कहीं नहीं भुलाया।

सुखदा को भारतीय नारी के ही रूप में चित्रित किया गया है। वह प्रारम्भ में यहीं के अनुसार सुख और वैभव चाहती है परन्तु बाद में पति के ही पद-चिन्हों पर चलती है और जेल तक जाती है। अमर मनुष्य है, वह मनसा दूसरे का हो सकता है परन्तु सुखदा नारी है और वह भी प्रतिष्ठित घराने

की अतः जन-सेवा के अतिरिक्त वह और किसी ओर मन नहीं लगाती।

इस उपन्यास की मूलभावना आदर्श से जुड़ी हुई है। अमर, सुखदा, नैना मुन्नी, सकीना, सलीम, समरकान्त, शान्तिकुमार, एवं रेणुकादेवी सभी के चरित्र आदर्श से खाली नहीं हैं। सभी कर्म में रत और आदर्श पर मर मिटने वाले हैं। वास्तव में इस उपन्यास का नाम सार्थक ही है। प्रेमचन्द स्वयं संसार-त्याग एवं तपस्या के पक्षपाती नहीं थे। वे कर्मभूमि में पदार्पण कर कर्म करना ही प्रधान कर्त्तव्य समझते थे। इस उपन्यास में हमें सर्वत्र कर्मभूमि के हरियाले क्षेत्र दृष्टिगोचर होते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न पात्र कार्य में निमग्न हैं, संघर्ष में लीन हैं। यही जीवन है—संघर्ष ही तो जीवन है।

गोदान

संक्षिप्त कथा—होरी बिहारी गाँव का एक किसान है। उसके पास केवल चार-पाँच बीघे भूमि है, उसी से अपना पेट पालता है। धनिया उसकी स्त्री है, गोबर पुत्र और सोना एवं रूपा दो कन्याएँ। सोना और हीरा उसके भाई हैं, विवाहोपरान्त वे होरी से पृथक् हो जाते हैं। हीरा की स्थिति अच्छी नहीं है।

होरी रायसाहब अमरपालसिंह की जमींदारी में रहता है और नित्यप्रति उन्हें सलाम करने जाता है। गोबर को यह बात अच्छी नहीं लगती है। होरी की एक बड़ी साध थी—एक गाय का ख़रीदना। जैसे-तैसे वह भोला से गाय खरीदता है परन्तु ऋण चुका भी नहीं कि होरी का भाई हीरा गाय को विष दे देता है। मामला पुलिस में जाता है, हीरा भाग जाता है परन्तु थानेदार घर की तलाशी लेना चाहता है। होरी अपना सम्मान रखने के लिए थानेदार को घूस देना चाहता है परन्तु धनिया स्थिति को सँभाल लेती है और थानेदार को वापस जाना पड़ता है। होरी ही हीरा की स्त्री पुनिया की सहायता करता है, खेत भी गोड़ता है।

गोबर का गाय के सम्बन्ध में ही भोला के यहाँ आना-जाना होगया था। वह भोला की विधवा पुत्री झुनिया से प्रेम करने लगता है और उसके गर्भ रह जाता है। गोबर लज्जावश लखनऊ चला जाता है और पहले खोमचा लगाता है पुनः मजदूरी करता है। झुनियाँ होरी के घर आती है, होरी और धनिया उसे आश्रय देते हैं।

गोबर एक-एक पैसा बचाता है और इस प्रकार दो सौ रुपये संचित करता है। होरी की स्थिति बड़ी बिगड़ जाती है, निर्वाह भी कठिनता से होता

है। पं० दातादीन आधी बँटाई पर बीज और बैलों का प्रबन्ध कर देते हैं परन्तु स्थिति में सुधार नहीं होता। गोबर एक वर्ष के उपरान्त आता है और अपनी संचित पूँजी से बाप की स्थिति को सुधारना चाहता है परन्तु मानी जरठ नहीं मानता। उसे रूढ़िप्रियता कुछ नहीं सोचने देती। गोबर लौट जाता है। सोना का विवाह होरी के सिर पर कर्ज का एक भारी बोझ छोड़ जाता है, जिसे वह चुका नहीं पाता। पुनः रूपा का विवाह आता है परन्तु विवश होकर अबकी बार वह एक बूढ़े से रुपया लेकर रूपा का विवाह उसके साथ कर देता है। गोबर विवाह में आता है परन्तु कुछ नहीं कर सकता और लौट जाता है।

ऋण अधिक होने से होरी भूमि बेच देता है और मजदूरी कर लेता है। कंकड़ ढोने से उसकी नस-नस टूट जाती है। एक दिन लूह लग जाने से बीमार हो जाता है और मृत्यु के निकट पहुँच जाता है। गोदान का प्रश्न उठता है तो धनिया महाजन मातादीन को बीस आने देती हुई कहती है—"महाराज घर में न गाय है और न बछिया, ये पैसे हैं। यही उनका गोदान है।"

इस आधिकारिक कथावस्तु के साथ एक दूसरी प्रासंगिक कथा और चलती है, वह रायसाहब अमरपालसिंह और उनके मित्रों की है। रायसाहब बिहारी गाँव के जमीदार हैं और नगर में रहते हैं। इनके मित्र हैं 'बिजली' के सम्पादक ओंकारप्रसाद जो कुछ धन लेकर समय-समय पर इनकी प्रशंसा करते रहते हैं। दूसरे मित्र हैं खन्ना। गोबर इन्हीं के मिल में मजदूर है। खन्ना के मिल में हड़ताल होती है, जिसमें गोबर के भी चोट लगती है और मिल में आग लगादी जाती है। इस प्रसंग में मेहता और मालती की प्रेम-चर्चा भी चलती है। ये दोनों समाज-सेवा के बहाने गाँव में जाते हैं और उसकी आड़ में प्रेम-लीला करते हैं।

समीक्षा—इस उपन्यास के कथानक में उलझन नहीं है। सीधी-सादी एक कथा है जिसमें किसानों के सच्चे प्रतीक होरी का चरित्र-चित्रण है। होरी एक छोटा किसान है, जो परिवार का भरण-पोषण भी नहीं कर सकता। एक गाय की साध भी कर्ज से पूरी होती है और वह भी ईर्ष्या का शिकार हो जाती है। पुनः बँटाई पर खेत उठाता है परन्तु स्थिति नहीं सुधरती। कन्या के विवाह पर और ऋण लेता है, जिसे वह चुका नहीं पाता और पुनः धनाभाव में छोटी पुत्री का विवाह एक वृद्ध से कर देता है। अन्त में भूमि को बेचकर मजदूर हो जाता है और कठिन परिश्रम से मृत्यु के मुँह में चला जाता है। अन्त में घर में केवल बीस आने शेष रह जाते हैं, जिनसे गोदान होता है। परन्तु है वह आन पर मरने वाला एक सच्चा किसान। न उसे वैभव चाहिए और न अधिकार। रूढ़ियों में फँसा हुआ अपनी ही मर्यादा में सीमित वह अन्न और वस्त्र चाहता है

और यदि कुछ और भी चाहता है तो बच्चों के दूध के लिए गाय परन्तु वह भी दुर्लभ है। वह कर्ज से दबा हुआ है, सरकारी अफसरों का मारा हुआ है, दम्भियों से प्रवंचित है, महाजनों से शोषित है किन्तु फिर भी स्वाभिमानी है। निराश और अन्यमनस्क हुआ जब मजदूरी करता है तो उस अपमान से विकल हो कर उसकी आत्मा शीघ्र ही इस शरीर को छोड़ जाती है।

यही है एक किसान की जीवन-लीला। प्रेमचन्द किसान के जीवन से पूर्णतः परिचित थे अतः वे इसके चित्रण में अत्यधिक सफल हुए हैं। किसान कितना दुखी है, असहाय है, शोषित है परन्तु फिर भी कितना ऋजु है, यही इसमें चित्रित हुआ है।

रायसाहब की कथा भी इससे सम्बन्धित है क्योंकि जब तक धनिक जमीदारों, साहूकारों, मिलमालिकों एवं ढोंगी नागरिकों को ग्रामीणों से न मिलाया जाय, दोनों का वास्तविक चित्रण नहीं होता है। अतः रायसाहब की कथा को पृथक् कथा कहना उचित नहीं। अमरपालसिंह जमीदार हैं, खन्ना मिल मालिक हैं, ओंकारनाथ सम्पादक हैं और मेहता नागरिक दार्शनिक हैं। इनका आधुनिक काल में किसान से बड़ा सम्बन्ध रहा है अतः इनके चरित्र से क्रमशः जमीदारों, उद्योगपतियों, सम्पादकों, एवं ढोंगी उपदेशकों के भ्रष्टाचार, दुर्नीति, शोषण-प्रियता और कुचेष्टाओं का खाका खींचा गया है। अमरपालसिंह जेल हो आये हैं और दान-पुण्य भी करते हैं परन्तु अन्याय को छुपाने के लिए। सम्पादक कोई सिद्धान्त नहीं अपनाते और मिल-मालिक शोषण, पापाचार और दम्भ की प्रतिमूर्ति ही हैं। मेहता और मालती ने नागरिक जीवन का खोखलापन ही प्रदर्शित किया है।

इसमें श्रेष्ठतम चरित्र है होरी और धनिया का। होरी किसान का आदर्श प्रतीक है और धनिया सच्ची किसान की पत्नी का। होरी आन पर मरने वाला है परन्तु ऋजु अधिक है। हीरा की तलाशी लेने जब दरोगा आजाता है तो होरी घूस देने लगता है परन्तु धनिया यह कह कर दरोगा को हतप्रभ कर देती है कि गाय हमारी थी, मर गई तो क्या हुआ। इसी प्रकार झुनिया को आश्रय देने के लिए होरी विरोध करता है परन्तु धनिया बिरादरी की चिन्ता नहीं करती और उसे आश्रय देती है।

गोबर एक निर्बल हृदय युवक है। वह झुनिया से गुप्त प्रेम तो करता है परन्तु समाज के भय से भाग निकलता है और पुनः जब वर्ष भर बाद आता

है तो मां-बाप को असहाय अवस्था में ही छोड़ जाता है। उसे प्रारम्भ में न जमीदारों की खुशामद प्रिय है और न घूसखोरी परन्तु शहर में पहुँचने पर स्वयं अनेक बुराइयों में लिप्त हो जाता है।

इन सब बातों ने इस उपन्यास को प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में श्रेष्ठतम स्थान दिया है।

मैथिलीशरण गुप्त

वर्तमानकालिक कवियों में शिरोमणि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सं० १९४३ में चिरगाँव झाँसी में हुआ था। इनके पिता रामसरन दास स्वयं एक कवि थे। अतः कवि-प्रतिभा इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। इनके लघु-भ्राता सियारामशरण भी आधुनिक हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों में से हैं।

हिन्दी के आधुनिक काल का प्रारम्भिक समय भारतेन्दु काल कहलाता है। उस काल के हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के निर्माता भारतेन्दु जी ही थे। यद्यपि इंशा-अल्ला खाँ, सदासुखलाल नियाज, लल्लूलाल एवं सदलमिश्र द्वारा संस्थापित खड़ी बोली के मार्ग को राजा लक्ष्मण सिंह एवं शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने निष्कण्टक बना दिया था और साथ ही इसमें ईसाई धर्म-प्रचारकों एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे समाज-सुधारकों ने भी पूर्ण योग दिया था परन्तु वास्तव में इसके परिमार्जन की नींवें भारतेन्दु जी के ही समय से पड़ी। भारतेन्दु काल में पद्य की भाषा ब्रज ही रही और गद्य में भी खड़ी बोली निखर न सकी। स्वयं भारतेन्दु जी ने 'आलस बढ़ गई,' 'रीत,' 'घोड़दौर,' 'तुम हौ,' 'इस्से,' 'जी सक्ते हैं,' 'लगैगा,' 'जगत की प्राण,' 'मेरा देह,' 'आज्ञा दिया' आदि अशुद्ध वाक्य, वाक्यांशों एवं शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें व्याकरण एवं उच्चारण-सम्बन्धी बड़ी अखरने वाली त्रुटियाँ हैं। वास्तव में हिन्दी के परिमार्जन और सुस्वरूप का काल द्विवेदी जी से प्रारम्भ होता है। इन्होंने संवत १९६० (सन् १९०३) में 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लिया, तभी से खड़ी बोली के उत्तरोत्तर विकास एवं परम सौंदर्य का श्रीगणेश हुआ। द्विवेदी जी स्वयं कवि थे अतः कवि और काव्य के सत्य स्वरूप को जानते थे। उन्होंने समालोचना द्वारा उदीयमान कवियों, नाटककारों, उपन्यास-लेखकों एवं बेपेंदी के समालोचकों को छाँटना, सुधारना एवं पथ-प्रदर्शन करना आरम्भ किया। कभी-कभी वे बड़ी प्रखरता से लिखते थे और कभी-कभी वे खिन्न भी हो जाते थे परन्तु

उन्होंने इस महायज्ञ की समाप्ति न की जिसका परिणाम यह हुआ कि वे कृतकृत्य हुए और उन्हीं की प्रेरणा और आलोचना के फलस्वरूप उत्तम से उत्तम काव्य, नाटक एवं उपन्यास हमें उपलब्ध हुए। उनके समय में श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और रूपनारायण पाँडेय आदि प्रसिद्ध साहित्यकार हुए परन्तु इनमें से प्रथम तृतीय विशेष ख्याति-प्राप्त हैं। इन तीनों में भी गुप्त-जी ही सर्वोच्च आसन पर आसीन हुए हैं। द्विवेदी जी काल-निर्माता अवश्य थे परन्तु वे प्रतिनिधित्व कभी न पासके क्योंकि वे काव्य के स्वरूप को हस्तामलकवत् जानते अवश्य थे अतः आलोचना भी यथावत् करते थे परन्तु उनमें काव्य-प्रतिभा न थी। द्विवेदी जी ने ही उपर्युक्त तीनों महानुभावों को प्रकाश दिया था परन्तु उनमें काव्य-प्रतिभा विद्यमान थी तथा उच्चकोटि की नैसर्गिक प्रबन्ध-प्रटुता, वाग्वैदग्ध्य एवं विषय-निर्वहन-शक्ति आदि गुण थे। इनमें भी ये गुण गुप्त जी में विशेष रूप से व्यक्त हुए यहाँ तक कि गुप्त जी की भाषा भी पाठक जी एवं हरिऔध जी की अपेक्षा अधिक अकृत्रिम एवं प्रवाह-पूर्ण है। उदाहरणतः एक-एक पद्य नीचे दिया जाता है—

आज रात इससे परदेशी चल कीजे विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं।
तृण शय्या औ, अलप रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आसिर्वाद॥

[श्रीधर जी कृत 'एकान्तवासी योगी']

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती—
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा॥

[हरिऔध जी कृत 'प्रियप्रवास']

मिली मैं स्वामी से पर कह सकी क्या सम्हल के।
बहे आँसू होके सखि सब उपालम्भ गल के।
उन्हें हो आई जो निरखि मुझको नीरव दया।
उसी की पीड़ा का अनुभव मुझे हा रह गया।

[गुप्त जी कृत 'साकेत']

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में न भाषा में प्रौढ़ता है और न प्रवाह। 'कीजे' और 'पसार चलो निद्रा' तथा 'आसिर्वाद' शब्द एवं वाक्य शुद्ध नहीं हैं, जिन्होंने भाषा के सौष्ठव का ही हनन नहीं किया है वरन् प्रवहन में बाधा भी डाली है। हरिऔध जी की भाषा में सौष्ठव और प्रवाह की कमी नहीं है। उनकी भाषा में शब्दों का चयन एवं संगठन स्वर्णखचित मणियों की भाँति हुआ है परन्तु नैसर्गिकता नहीं है। उनकी कला का प्रदर्शन प्रयास-सिद्ध है, यह उनके प्रियप्रवास काव्य से स्पष्ट द्योतित होता है। उपर्युक्त उदाहरण में क्रिया एवं कारक-चिह्नों के अतिरिक्त सभी शब्द तत्सम हैं, यहाँ तक कि सूर्य के लिए 'कमलिनी-कुल-वल्लभ' एक समस्त पद दिया है और वह भी वाचक नहीं वरन् लाक्षणिक है। गुप्त जी की भाषा में सौष्ठव, प्रवाह और नैसर्गिकता आदि सभी गुण मिलते हैं। न उसमें व्याकरण आदि सम्बन्धी कोई त्रुटि है और न पिंगल विषयक कमी। सैकड़ों ही मात्रिक एवं वर्णिक वृत्तों के व्यवहृत होने पर भी न भाषा में दुरूहता आने पाई है और न पद-न्यूनादिक दोष और न छन्द-बद्धता के कारण भाव-संकोच या भाव-प्रकाशन की विषमता दृष्टिगोचर होती है।

द्विवेदी-काल में इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता रही। गुप्त जी की रचनाओं में भी हम इतिवृत्तात्मकता को ही प्रमुखता से देखते हैं। इनके उत्कृष्ट काव्य यशोधरा एवं साकेत में अभिव्यंजनात्मक शैली भी उत्कृष्ट रूप में प्रेक्षणीय है। यशोधरा एवं उर्मिला के वियोग-चित्रण में भावाभिव्यंजकता का चारुतम रूप अंकित हुआ है। गुप्त जी की रचनाओं से प्रतीत होता है कि उनकी विचारधारा की पृष्ठभूमि अनेक अतीत एवं समसामयिक कारणों से निर्मित हुई थी। वे अतीत पूर्वजों के ऋजु, सरल, प्रकाशमान और समृद्ध जीवन से बड़े प्रभावित रहे हैं इसीलिए उन्हें वर्त्तमान हिन्दू जाति की शीर्णता, हीनता, दीनता एवं कुरूपता अधिक खलती है। वे वर्णव्यवस्था में कर्त्तव्य-भ्रष्टता और नैतिक-शिथिलता के भी परम विरोधी है। उनका अपना सरल एवं सदाचारमय जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे आदर्श के पुजारी हैं अतः उनकी रचनाओं में कहीं भी सदाचार-सीमा, नैतिकता एवं मानव-मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ है। आपकी उदाराशयता ने आपकी लेखनी में विभेद-कालुष्य नहीं आने दिया है। हिन्दू, बौद्ध और सिक्ख आदि सभी उनकी दृष्टि में आर्य-सन्तान हैं अतः एक हैं। उन्होंने भावसामग्री के लिए वेद, पुराण, इतिहास, नीति, प्राकृत के जैन-बौद्ध-ग्रन्थों, संस्कृत के मान्य ग्रन्थों एवं मध्यकालीन भक्तों और आधुनिक काल की अनेक प्रवृत्तियों तथा प्रगतियों से सहायता ली। वे परम रामभक्त वैष्णव होते हुए भी महान् उदाराशय रहे हैं। उपेक्षिता नारियों से वे अत्यधिक प्रभा-

वित हुए जान पड़ते हैं क्योंकि 'साकेत' और 'यशोधरा' नामक अपने श्रेष्ठतम काव्य उन्होंने उर्मिला और यशोधरा की पुण्य स्मृति के लिए ही निर्मित किए। राष्ट्रीयता से तो वे ओतप्रोत हैं। उन्होंने सदैव ही व्यष्टि जीवन से समष्टि जीवन को अधिक महत्व दिया है तथा मानव-समाज के विविध अंगों को किसी निम्न-स्तर से घूर कर नहीं देखा है वरन् हृदय की विशाल प्रखर दृष्टि के प्रकाश में मानव को मानव रूप में ही देखा है और वह भी मत, वर्ण, जाति एवं देश की सीमा में आबद्ध नहीं। सारा भारत उनके लिए एक पुण्यभूमि है, जहाँ का प्रत्येक निवासी बिना किसी भेद के माला में ग्रथित एक साथी मुक्ता के समान है। इसीलिए आप आधुनिक काल के राष्ट्रीय प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

रचनाएँ—

उपरिलिखित भावसामग्री के फलस्वरूप उन्होंने अनेक रचनाएँ कीं, जिनकी तालिका निम्न रूप से बनाई जा सकती है—

प्रबन्ध काव्य—रंग में भंग, जयद्रथ-वध, पंचवटी, त्रिपथगा (वन-वैभव, बक-संहार और सैरन्ध्री), किसान, विकट भट, गुरुकुल, साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष आदि।

इनमें से 'साकेत' महाकाव्य है, और शेष खण्डकाव्य हैं। यशोधरा को हम चम्पू का अभिधान दे सकते हैं।

मुक्तक काव्य—पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, वैतालिक, झंकार, मंगलघट और हिन्दू आदि।

नाटक-काव्य—चन्द्रहास, तिलोत्तमा और अनघ।

अनुवाद—माइकेल मधुसूदनदत्त कृत मेघनाद-वध का, उमरखैयाम की रुबाइयों का तथा नवीनचन्द्र सैन के 'पलाशिर युद्ध'[१] नामक काव्य का अनुवाद।

'रंग में भंग' नामक खण्डकाव्य में बूँदी-नरेश वरसिंह के भाई गेनोली के राजा लालसिंह की पुत्री के चित्तौड़ के राजा खेतल के साथ हुए विवाह में हुए अनर्थ का वर्णन है। चित्तौड़ में प्राप्त एक मूर्ति के स्वरूप का चित्रण करते हुए वहाँ के राजकवि वारू ने राजा को सर्वोच्च दानी बतलाया। इस समाचार को पाकर लालसिह की छाती पर साँप लोट गया। जब पुत्री का पाणिग्रहण हो चुका और विदाई का समय आया तो लालसिंह ने वारू को चाटुकार कहकर लज्जित किया, जिससे कवि ने आत्म-हत्या कर ली। यह देखकर वर-पक्ष ने युद्ध ठान दिया, जिसमें वर भी खेत रहा। वधू ने इस शोकपूर्ण घटना को सुनकर पति के साथ सती होकर प्राण दे दिए। यह समाचार जब

चित्तौड़ पहुँचा तो लाखा ने प्रण किया कि मैं बूँदीगढ़ को जब तक नष्ट-भ्रष्ट न कर दूँगा तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगा। लोगों ने समझाया कि यदि आप अन्न-जल ग्रहण न करेंगे तो गढ़ कैसे टूटेगा अतः आपको कृत्रिम गढ़ तोड़ना चाहिए। लाखा की समझ में यह बात आ गई और एक कृत्रिम गढ़ के तोड़ने का उपक्रम हुआ परन्तु उसी समय बूँदी के निवासी किन्तु राणा के एक दास हाड़ा कुम्भ ने इसमें बाधा डाली जिसके परिणाम-स्वरूप लड़कर उसने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

यह काव्य बहुत ही छोटा है। कहानी वास्तव में वधू के सती हो जाने तक ही समाप्त हो जानी चाहिए, परन्तु केवल घटना की पूर्ति के लिए आगे कथानक का विस्तार किया गया है। हिन्दी साहित्य में यह काव्य अपने ढंग का प्रथम था अतः इसका मूल्य है अन्यथा यह विशेष महत्व का नहीं। कृत्रिम गढ़ के तोड़ने का वर्णन चित्तौड़-नरेश के योग्य नहीं अतः आदर्शपूर्ण नहीं है।

'जयद्रथ-बध' पौराणिक कथा को लेकर लिखा गया एक खण्डकाव्य है। इसमें महाभारत के युद्ध में अर्जुन के पराक्रम से त्रस्त दुर्योधन द्वारा प्रेरित आचार्य द्रोण द्वारा निर्मित चक्रव्यूह में सप्त महारथियों से अधर्मपूर्वक अभिमन्यु के मारे जाने तथा भाई-बन्धुओं के विलाप और उत्तरा के करुण-क्रन्दन से उद्वेलितमन अर्जुन के प्रण करने और पुनः पुत्र के निधन में मूल कारण जयद्रथ के बध किए जाने का वर्णन है। यह काव्य वास्तव में सुन्दर बन पड़ा है। इसमें प्रबन्ध-पटुता का प्रदर्शन सुष्ठु रूप में हुआ है। काव्य में भाषा भावानुकूल ही प्रयुक्त हुई है। उत्तरा के विलाप में कारुण्य का समुद्र उमड़ रहा है। वीरोक्तियों में बड़ा ओज भी दृष्टिगोचर होता है। निम्न पद्य में ओज के साथ-साथ आलंकारिकता भी देखिये—

> **करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए।**
> **तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए—**
> **दो पद्म शुण्डों में लिये दो शुण्ड वाला गज कहीं।**
> **मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा कहीं।**

इस काव्य में अत्याचारियों के विनाश और सन्मार्ग-गामियों की विजय का सुन्दर आदर्श उपस्थित किया गया है तथा भारतीय सद्वीरों की प्रतिज्ञा-पूर्ति की अनुपम अनिवार्यता भी दिखलाई गई है।

'पंचवटी' एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है जिसमें राम, सीता और लक्ष्मण का आदर्शपूर्ण चरित्र चित्रित है। इसका नायक लक्ष्मण है जो अपने प्रभु राम

की सेवा के लिए एक योगी साधक के रूप में चित्रित हुआ है—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना।
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है!
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥

लक्ष्मण योगी-सा प्रतीत होता हुआ भी भोगी मनोज से कम दीप्तिमान नहीं, अतएव सूर्पनखा उन पर मुग्ध हो गई। इस अवसर पर सीता के परिहास और व्यंग्यपूर्ण वचन दर्शनीय है। इस काव्य में भाषा का रूप बड़ा सुन्दर है तथा काव्य के गुण सहज रूप में व्यवहृत हुए हैं। प्रकृति का चित्रण भी बड़ी मनोरमता से परिपूर्ण है। देखिए निम्न पंक्तियों में प्रकृति-चित्रण में कितनी नैसर्गिकता है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही थीं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी अवनि और अम्बर-तल में।
पुलक प्रकट करती थी धरणी हरित तृणों की नोंकों से।
मानो तरु भी झूम रहे थे मन्द पवन के झोंकों से॥

पूर्वोपेक्षित लक्ष्मण का चरित्र इसमें बड़ी विशदता और उदात्तता से चित्रित हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी का भक्त हृदय तरंगित होने लगा है। साथ ही हमें प्रकृति भी मुखर और आत्मीय सी दीखती है। यदि यह कहा जाय कि गुप्त जी की काव्य-कला का सुन्दर प्रदर्शन इसी काव्य से प्रारम्भ हुआ तो अनुचित न होगा।

'त्रिपथगा' में 'वन-वैभव', 'बक-संहार' और 'सैरन्ध्री' नामक तीन छोटे-छोटे काव्य संग्रहीत हैं। इन तीनों का कथानक महाभारत की कथाओं पर आश्रित है और प्रत्येक में एक आदर्श सम्मुख रहा है। 'वन-वैभव' में चित्ररथ गन्धर्व द्वारा कुरुराज दुर्योधन को बन्दी बनाने और सदाशय महाराज युधिष्ठिर से आज्ञप्त अर्जुन द्वारा उसके मोक्षण का चित्रण है। इस काव्य में युधिष्ठिर की उदारता और उत्कृष्ट बन्धु-प्रियता का अंकन हुआ है। दुर्योधन पाण्डवों का अहितकारी था परन्तु युधिष्ठिर ने जब उसके पाश-बद्ध होने का समाचार सुना तो अपने भाइयों को भाई की सहायतार्थ शिक्षा दी। उनके इन वचनों में कितनी उच्चता और सूक्ष्मता है कि हम परस्पर सौ और पाँच हैं परन्तु दूसरों के लिए एक-सौ पाँच हैं। हम उन्हें स्वयं दण्ड दे सकते हैं परन्तु दूसरों से दण्डित होता हुआ नहीं देख सकते—

जहाँ तक है आपस की आँच,
वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिने तो हमें एक सौ पाँच ॥

इसमें अर्जुन चित्ररथ से युद्ध करता है—नहीं एक भाई भाई की सहायतार्थ मित्र का सामना करता है और वह भी जान की बाजी लगाकर।

'बक-संहार' में भी एक आदर्श उपस्थित किया गया है कि प[illegible] अपना सर्वस्व-त्याग कर देना चाहिए। कुन्ती अपने पाँचों पुत्रों सहित एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के घर ठहरी हुई थी। वहाँ एक बक नाम का राक्षस रहता था, जिसके आहार के लिए नित्य-प्रति एक घर से एक गाड़ी भात और एक मनुष्य जाता था। एक दिन उसी ब्राह्मण के गृह की बारी थी। घर में रुदन और चीत्कार के कोलाहल ने कुन्ती का करुणापूर्ण हृदय द्रवित कर दिया। उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त जान कर भीम को भेज कर केवल ब्राह्मण-परिवार को ही शोक-मुक्त नहीं किया वरन् वहाँ की समस्त जनता का उद्धार किया। वृत्तान्त को सुन कर कुन्ती का भाव-युद्ध प्रेक्षणीय है। युधिष्ठिर के प्रति उनके निम्न वचनों में कितनी दृढ़ता है—

पूछो न तुम इस हृदय की कुछ भी दशा,
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को आगे किए,
देती विदा हैं गर्व कर हम कर्कशा।

भारत की वीर क्षत्राणियों का यही एक परम आदर्श है।

'सैरन्ध्री' में विराट् नगर में प्रच्छन्न पाण्डवों और द्रौपदी के रहते हुए कीचक के द्रौपदी के प्रति घृणित और वासनापूर्ण व्यवहार एवं भीम द्वारा कीचक के संहार का वर्णन है। इसमें द्रौपदी (सैरन्ध्री) का चरित्र बड़े उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। स्वयं कीचक की बहन सुदेष्णा उसे एक दृढ़चरित्रा नारी कहती है—

ऐसी ही दृढ़ जटिल चरित्रा है वह नारी।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि तीनों ही काव्यों में एक आदर्श का चित्रण हुआ है। एक में बन्धु-प्रियता, दूसरे में परहितार्थ सर्वस्व का त्याग और तीसरे में नारी-धर्म चित्रित है।

'किसान' में एक किसान की दुर्दशा का वर्णन है। इसके चित्रण में कल्पना

का आश्रय कम लिया गया है तथा प्रत्यक्ष घटित बातों पर ही निर्भर रहा गया है। किसान का शैशव सुखमय और निश्चिन्त था। एक दिन उसने सहसा एक भेड़िये से आक्रान्त किसी कृषक-बालिका की रक्षा की, जिससे आभारी हो बाला ने अपना हृदय युवक को सौंप दिया। आगे ये ही दम्पति हुए। कालान्तर में जब ऋणी पिता का देहान्त हो गया तो जमीदार और महाजनों ने तंग करना प्रारम्भ किया निदान घर-बार छोड़कर वे कुली हो गये। गर्भवती स्त्री एक दिन एक दुष्ट गोरे के हाथों मारी गई। यातनाओं से पीड़ित और काल-चक्र से पीसा हुआ किसान सहचरी के वियोग से क्लान्त होकर फौज में भर्ती हो गया और संग्रामार्थ विदेश भेज दिया गया। वहाँ वह निधन को प्राप्त हुआ। यही इसमें संक्षिप्त कथानक है। इसमें पीड़ित किसान के प्रति गुप्तजी की सहानुभूति और समवेदना पर्याप्त मात्रा में मुखरित हो उठी है परन्तु शैली इतिवृत्तात्मक ही है।

'विकटभट' काव्य में एक विकट वीर सरदार देवीसिंह के बलिदान और उसके पौत्र सवाईसिंह की निठुरता का वर्णन है। एक दिन जोधपुर नरेश ने देवीसिंह से पूछा कि यदि तुम रूठ जाओ तो क्या करो। देवीसिह ने कुछ उत्तर न दिया परन्तु जब महाराज ने बार-बार पूछा तो उसने खीज कर उत्तर दिया—

> **"पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने—**
> **"जोधपुर की तो फिर बात हा क्या, यह तो**
> **रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही,**
> **मैं यों नवकोटि मारवाड़ को उलट दूँ।"**

ये शब्द नरेश को तीर से लगे और इसके परिणामस्वरूप देवीसिंह और उनके पुत्र को मृत्यु-मुख में जाना पड़ा। अब केवल परिवार में देवीसिंह का द्वादशवर्षीय पौत्र और उसकी माता अवशिष्ट रह गये। नरेश ने यह काण्ड किया तो पर उसे पश्चाताप भी हुआ क्योंकि उसने एक और सरदार को इसी प्रकार निहत कर दिया था अतः अब उसे शत्रु ही शत्रु चतुर्दिक् दृष्टिगोचर होते थे। उसने सवाईसिंह को दरबार में बुलाया। यह स्थल बड़ा ही करुणाजनक है, जिसमें माता नन्हे पर वीर बालक को सजाकर भेजती है क्योंकि उसे निश्चय था कि उसका पुत्र बध्यस्थली को जा रहा है। सवाईसिंह का दरबार में प्रवेश एक गम्भीरता छा देता है। राजा ने पूछा कि बालक! तुम्हारी कटारी भी वैसी ही कटारी है, जैसी तुम्हारे पितामह की थी। यहाँ पर बालक का उत्तर दर्शनीय है—

दादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
छोड़ी, और मेरे पिता सौंप गये मुझको।
पर्तली के साथ वह मेरे इस पार्श्व में
अब भी है पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
कितने ही दुर्ग पड़े रहते हैं सर्वदा
छात्रकीर्ति-कोषवाली पर्तली में उसकी !
सच्ची बात कहने से आप रूठ जावेंगे;
किन्तु जब पूछते हैं कैसे कहूँ झूठ मैं ?
होता न जो जोधपुर पर्तली में उसकी
कहिये तो कैसे वह प्राप्त होता आपको ?

राजा ने बालक को छाती से लगा लिया और उसे अपना सरदार बनाया।

इस काव्य में वचन-दृढ़ता, क्षात्र-धर्म, बाल-वीरता और प्रसूत्सर्ग का उत्तम आदर्श उपस्थित किया गया है। वास्तव में अतीत गौरव की यह गाथा हमारे लिए परम हितकर है।

'गुरुकुल' काव्य में भी गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्दसिंह और बहादुर बन्दावैरागी की वीरता का वर्णन है। पिता की मृत्यु के पश्चात् गुरु गोविन्द-सिंह ने मुसलमानों से लोहा लेना आरम्भ किया। उन्हें एक उपयुक्त साथी की आवश्यकता थी। एक दिन उन्हें बन्दा मिला जो मृगया करते समय एक मृगी की सकरुण दृष्टि से क्लिष्ट होकर वैरागी हो गया था। गुरु ने उसे संसार में रहकर आततायियों का सामना करने के लिए प्रेरित किया। यह प्रसंग बड़ा तर्कपूर्ण एवं कर्त्तव्यपरक है। बन्दा अकर्मण्य अवस्था से कर्मण्यावस्था को ग्रहण करता है और मुसलमानों के विरुद्ध हिंदू और सिक्खों की सहायतार्थ युद्ध करता है परन्तु अन्त में पारस्परिक फूट उसके अन्त का कारण बनती है।

इस काव्य में विरति से संसार-सेवा, जाति-रक्षा एवं राष्ट्र-प्रेम को अधिक महत्व दिया गया है। अहिंसा का महत्व है अवश्य परन्तु अत्याचारियों की हिंसा पाप नहीं। इसी प्रकार संन्यासाश्रम उच्चतम अवस्था है परन्तु परमार्थपरता इस अकर्मण्यता से कहीं श्रेष्ठ है। यही आदर्श इस काव्य का मूल तत्व है।

'साकेत'—साकेत एक महाकाव्य है जिसमें लक्ष्मण नायक और उर्मिला नायिका हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कवियों की उर्मिला विषयक उदा-

सीनता' नामक लेख लिखा था। गुप्त जी को भी यह उपेक्षा अखरी। परम-कृपालु आदि कवि ने भी इस पतिप्राणा सर्वोत्सर्ग-कारिणी अबला के विषय में एक शब्द भी न लिखा। महात्मा तुलसीदास भी इस विषय में उदासीन ही रहे। गुप्त जी ने ऐसे महान् आदर्श चरित्र को उपेक्षित देख कर 'साकेत' का निर्माण किया। यह काव्य महाकाव्य है अवश्य परन्तु इसमें महाकाव्य के लक्षण पूर्णतः घटित नहीं होते। नायक लक्ष्मण धीरोद्धात नायक हैं परन्तु नायिका शान्त, दान्त और वियोग-तप्ता है। वह स्वयं अपने पति से भी विस्मृता है। पति नायक होता हुआ भी राम का दास है, उनका एक संकेत लक्ष्मण को शान्त करने के लिये उसी प्रकार सामर्थ्यवान् है जिस प्रकार महावत का अंकुश एक उद्धत गज को। लक्ष्मण का चरित्र राम के चरित्र से उसी प्रकार दब गया है जिस प्रकार नगाड़े के शब्द में तूती का शब्द दब जाता है। स्थान-स्थान पर लक्ष्मण का उद्गत औद्धत्य राम के शांत वचन से शीघ्र ही ढल जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो लक्ष्मण की नकेल राम के हाथ में है। वास्तव में लक्ष्मण राम की कठपुतली है। राम और सीता सर्वत्र छाये हुए हैं। लक्ष्मण का प्रत्येक कार्य राम और सीता ही के लिए है। इसीलिए उसका प्राधान्य है अन्यथा साकेत का सम्पूर्ण कथानक राम की परिक्रमा करता-सा दृष्टिगोचर होता है। काव्य का प्रधान प्रतिनायक रावण भी राम द्वारा ही नाश को प्राप्त हुआ है। उर्मिला का वियोग-वर्णन अधिक होते हुए भी सीता के दुख से बढ़ नहीं पाया है। प्रकृति-वर्णन यद्यपि उर्मिला के वियोग में शान्ति के निमित्त है परन्तु मूलतः उद्दीपन का कार्य कर रहा है। हम एक-एक भावना को भी प्रधान रूप से अनुस्यूत हुआ नहीं पाते। न इसमें भक्ति का उद्रेक है और न कर्म की प्रधानता। राम के प्रति कवि के हृदय में भक्ति का चरमोत्कर्ष अवश्य है परन्तु काव्य में उसका प्रदर्शन नहीं। तुलसी के राम यहाँ पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हुए हैं। कहीं-कहीं उनमें ईश्वरत्व का आभास अवश्य मिलता है। मानस में अलौकिकता को स्थान दिया गया है। मन्थरा की बुद्धि के वैपरीत्य में देवताओं और सरस्वती का हाथ था और वह भी विशेष अभिप्राय से अन्यथा राम के वनवास न होने से राक्षसों का संहार न होता और सुर, मुनि एवं जन-समाज का परित्राण एवं उद्धार न हो सकता था। गुप्त जी ने इस अलौकिकता को स्थान नहीं दिया है और मन्थरा को मन्थरमति के रूप में ही चित्रित किया है। वर्त्तमान युग दिव्यता में विश्वास भी नहीं रखता, हो सकता है इसीलिए इसका परिहार किया गया हो।

चरित्र-चित्रण में गुप्त जी ने अवश्य कौशल दिखाया है। राम, सीता,

लक्ष्मण, भरत, दशरथ, कैकेयी, कौशल्या, शत्रुघ्न और उर्मिला सभी के चरित्र आदर्श-चरित्र हैं।

तुलसी के **राम** और **सीता** 'साकेत' में भी एकाधिपत्य जमाये हुए हैं। वे प्रभु हैं, शासक हैं, अनुशास्ता हैं और हैं सम्पूर्ण घटना-चक्र के परिभ्रामक। गुप्त जी द्वारा लिखे महात्मा जी के प्रति एक पत्र में राम को नायकों का नायक, सब का शिक्षक और शासक कहा गया है। वे साकेत में भी राम के विषय में एक स्थान पर लिखते हैं—

अपनों के ही नहीं परों के प्रति भी धार्मिक।
कृती प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग-मर्यादा मार्मिक।
राजा होकर गृही गृही होकर सन्यासी।
प्रकट हुए आदर्श रूप घट-घट के वासी॥

इस प्रकार राम को एक धर्मात्मा, मनस्वी, सुकृती, रत भी विरत अतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग के विधायक और संरक्षक, आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम और संकेततः दिव्य-विभूति के रूप में चित्रित किया है। राम के इस विराट् मानवीय-रूप में लक्ष्मण का आदर्श-रूप भी पिहित हो गया है। सीता भी देवी के रूप में अंकित हुई हैं। वे भी नायक की पूज्या हैं। सीता के दुख के समक्ष उर्मिला का अपार दुख भी उपेक्षित सा हो गया है। राम की गम्भीरता, विक्षोभ-हीनता, कर्त्तव्यपरायणता, मातृ-भक्ति और बन्धु-प्रेम आदि गुण समुचित रूप में ही वर्णित हुए हैं। ये सभी गुण निम्न पंक्तियों में कितने उज्ज्वल रूप में व्यक्त हो रहे हैं—

अरे, यह बात है तो खेद क्या है ?
भरत में और मुझमें भेद क्या है ?
करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन,
करूँगा मैं विपिन में धर्म-पालन,
पिता ! इसके लिए ही ताप इतना !
तथा माँ को अहो ! अभिशाप इतना !
न होगी अन्य की तो राज-सत्ता,
हमारी ही प्रकट होगी महत्ता,
उभयविध होगा लोक-रंजन,
यहाँ जन-भय वहाँ मुनि-विघ्न भंजन।

लक्ष्मण नायक हैं जो शान्ताशान्त अर्णव के रूप में बड़ी विचित्रता से

चित्रित हुए हैं। वे अन्याय के कट्टर शत्रु हैं—न उन्हें पारिवारिक अन्याय सह्य है और न अन्यकृत। भाई के वनवास में कैकेयी को मूल कारण समझकर वे आपे से बाहर हो जाते हैं और औद्धत्य दिखाते हुए कहते हैं—

अरे, मातृत्व तू अब भी जताती!
ठसक किसको भरत की है बताती?
भरत को मार डालूँ और तुझको,
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको!
युधाजित आततायी को न छोड़ूँ,
बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ।

इन शब्दों में वे मर्यादा का उल्लंघन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। भ्रातृ-प्रेम से छलछलाता हृदय लिए भरत जब सदल-बल राम-सीता और लक्ष्मण को प्रत्यावर्तित करने के लिये वन में पहुँचते है तो लक्ष्मण की प्रचण्ड प्रकृति सन्देह से विषैली हो जाती है और निम्न कटुक वचनों को उद्गारित कराती है—

सुनता हूँ, आये भरत दल-बल से,
वन और गगन है विकल चमू-कलकल से।
विनयी होकर भी करें न आज अनय वे,
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वमातृतनय वे?
पर कुशल है कि असमर्थ नहीं हैं हम भी,
जैसे को तैसे, एक बार हो यम भी।

लक्ष्मण नायक होते हुए भी उपयुक्त गम्भीरता से हीन हैं। उद्धत हैं पर औद्धत्य की सीमा होती है। अभिन्न भ्राता पर अविवेकपूर्ण व्यंग्य कसना शोभा नहीं देता। किन्तु उनमें अन्याय से चिढ़ है, जो महान् गुण है। वे औचित्य का अतिक्रमण रंचमात्र भी नहीं देख सकते। राम और सीता उनके आराध्य हैं अतः साकेत में उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ राम-सीता के लिए ही हैं और काव्य का अधिकांश कथानक भी इसी भाव की पूर्ति के लिए निर्मित हुआ है। लक्ष्मण का राहित्य काव्य-कथानक में प्राण-हीनता का कारण होता है अतः लाक्ष्मणी घटनाचक्र ही काव्य का गूदा है। इसीलिए लक्ष्मण इस काव्य में नायक हैं।

मूर्च्छा-मुक्ति के अनन्तर विश्रामार्थ राम से आदिष्ट होने पर भी उनके अंकस्थल में पड़े हुए लक्ष्मण के निम्न शब्दों में उनकी महानता का आभास मिलता है—

हाय नाथ! विश्राम! शत्रु अब भी है जीता,
कारागृह में पड़ी, हमारी देवी सीता।

जब तक रहा अचेत अवश था आप पड़ा मैं,
अब सचेत हूं और स्वस्थ सन्नद्ध खड़ा मैं।

× × ×

आर्य अयोध्या जायँ युद्ध करने मैं जाऊँ,
पहले पहुँचें आप और मैं पीछे आऊँ।
यदि वैरी को मार न कुललक्ष्मी को लाऊँ,
तो मेरा यह शाप मुझे, मैं सुगति न पाऊँ।

इस महाकाव्य के नायक के योग्य ही ये वचन थे। लक्ष्मण वीर थे, आत्माभिमानी थे और थे आततायिता के परम विरोधी। साथ ही वे गुरुभक्त और राम के उपासक थे। राम की सेवा के लिए वे प्राणप्रिया उर्मिला को भी विस्मृत कर देते हैं। वास्तव में ऐसा महान् चरित्र विश्व-साहित्य में मिलना दुर्लभ है। राम लक्ष्मण के लिए सब कुछ होते हुए भी समाज की मर्यादा के रक्षक और धर्म-संस्थापक थे और सीता भी तदनुकूला भार्या थीं अतः लक्ष्मण के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का होना सहज था। इससे उनके नायकत्व में विशेष बाधा नहीं आती। दूसरी बात यह है कि कवि दीना उर्मिला का ही चरित्र अंकित करना चाहता है और साकेत की चन्द्रवियुक्ता भी द्रवित चन्द्रकान्तमणि भी वही है अतः वही नायिका है। लक्ष्मण उसके प्राणधन हैं। स्नेहवंचिता उर्मिला रूप दीपार्चि से उसका शलभ दूर चला गया है अतः उसकी जीर्ण-शीर्ण अवस्था के साथ लक्ष्मण का ध्यान पाठक को विस्मृत नहीं होता इसीलिए लक्ष्मण नायक हैं।

भरत का चरित्र अपने में पूर्ण है। वे एक शान्त, दान्त, मातृ-पितृ-सेवी भातृ-भक्त चित्रित हुए हैं। वे वास्तव में कर्त्तव्य की मूर्त्ति ही हैं। गुप्त जी ने इस चरित्र का आधार मानस ही रक्खा है। परन्तु हम मानस की अपेक्षा भरत को और भी उज्ज्वल रूप में साकेत में देखते हैं। राम के वनवास और पिता के निधन में वे अपने को ही मूल कारण समझते हैं और अपने को महत्तम पापी कह कर वरदान को अभिशाप बतलाते हैं—

कौन हा ! मुझसा पतित-अतिपाप ?
हो गया वर ही जिसे अभिशाप !

वे अपने को सम्पूर्ण अनर्थपूर्ण घटनाचक्र का भ्रामक समझते हैं अतः इसके पश्चाताप के लिए कौशल्या, सुमित्रा, राम-सीता तथा लक्ष्मण और उर्मिला

का अपने को अपराधी मानते हैं। वे कौशल्या के समक्ष फूट-फूट कर रोते हुए कहते हैं—

भस्त-अपराधी भरत है प्राप्त,
दो उसे आदेश अपना आप्त।
आज माँ मुझसा अधम है कौन!
मुँह न देखो, पर न हो तुम मौन!

इसके उत्तर में कौशल्या उन्हें सान्त्वना देती हैं और छाती से लगाती हुई कहती हैं—

वत्स रे आजा, जुड़ा यह अंक;
भानुकुल के निष्कलंक मयंक!
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है, भिन्न केवल नाम।

कौशल्या के इन शब्दों से भरत का उदात्त चरित्र विदित होता है। वे सदलबल राम-सीता और लक्ष्मण को लौटाने के लिए जाते हैं। वहाँ उन्होंने आत्मग्लानि प्रदर्शित करने के लिए जो व्यंग्य वचन कहे हैं वे बड़े ही मार्मिक हैं। राजभोग को छोड़कर चौदह वर्ष पर्यन्त राम की ही भाँति वल्कल धारण कर एक कुटी में रह कर राम के अनुचर की भाँति शासन चलाते हैं, यह कितना महान् त्याग और कितनी दिव्य कर्त्तव्यपरायणता है।

दशरथ के चरित्र में उदात्तता होते हुए भी एक त्रुटि दीख पड़ती है और वह यह कि एक महान् विजेता, अनुपम शूर तथा परम धीर व्यक्ति होते हुए भी वे आपत्ति के आपतित होने पर बालक की भाँति अधीर हो जाते हैं, फूट-फूट कर रोते हैं और अन्त में प्राण दे देते हैं। परमप्रिय पुत्र के वियोग में प्राणान्त हो जाना सम्भव है परन्तु चरम अधीरता ऐसे महज्जन के लिए शोभा नहीं देती।

कौशल्या का चरित्र भी अनुकरणीय है। अपनी परम अहितकारिणी कैकेयी को वे भगिनी ही समझती हैं और उसके पुत्र को अपना पुत्र। ननिहाल से आने पर जब भरत कौशल्या के समक्ष अपने को अपराधी बतलाते हैं और षड्यन्त्रकारी कह कर आत्मग्लानि प्रदर्शित करते हैं तब कौशल्या यह कह कर अपना महान् मातृत्व प्रदर्शित करती हैं—

झूठ—यह सब झूठ, तू निष्पाप;
साक्षिणी तेरी यहाँ मैं आप।
भरत में अभिसन्धि का हो गंध,
तो तुझे निज राम की सौगन्ध।

और वे आगे उन्हें सूर्यकुल का निष्कलंक मयंक कहती हुई अपना राम ही बतलाती हैं ।

सुमित्रा का चरित्र भी इससे कम उज्ज्वल नहीं । राम-सीता की सेवार्थ अपने लाडले लक्ष्मण को सहर्ष भेज देती हैं। वनवास राम को हुआ था परन्तु फिर भी अपनी छाती पर पत्थर रख कर राम से अभिन्न लक्ष्मण को उनके साथ जाने देती हैं, यह कोई छोटा त्याग नहीं । विश्व-साहित्य में ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं।

साकेत में सम्पूर्ण संकट की जननी कैकेयी ही है। मानस में तुलसीदास ने कैकेयी की बुद्धि को मन्थरा के माध्यम से सरस्वती के द्वारा भ्रष्ट करा दिया है। इसका कारण यह था कि कैकेयी राम को अत्यधिक प्यार करती थी, यदि उसकी बुद्धि न फिरती तो वह दोनों वरदानों को इस रूप में न माँगती जिससे राम-वनवास न होता और न फिर राक्षसों का संहार एवं मुनि-यज्ञ-रक्षा ही होती। इसके लिए तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा परन्तु गुप्त जी ने मन्थरा की कुटिल वाग्चातुरी से ही यह सब करा दिया है । मानस में कैकेयी दोषी नहीं कही जा सकती क्योंकि वहाँ परमश्रद्धालु भक्तों के लिए अलौकिक शक्तियाँ कार्य कर रही हैं । साकेत में अलौकिकता को स्थान नहीं दिया है। कैकेयी एक मानवी है और वह भी सपत्नी । अपने पुत्र के हितार्थ राम का वनवास माँगना नैसर्गिक था। पुनः पति-वियोग और कल्पना के भी विपरीत पुत्र का अत्यन्त क्षुब्ध और क्लिष्ट एवं परिताप-दग्ध होना उसकी बुद्धि को पुनः स्वस्थ कर देता है। यह भी स्वभावज ही है अतः कैकेयी का चरित्र-विकास मनोवैज्ञानिक है। पति-निधन से प्रथम बार उसकी आँखें खुलीं और पुनः भरत के वास्तविक रूप को पहचान कर वह सचेत हो गई।

भरत जब राम को लौटाने के लिए वन में गए तो कैकेयी भी साथ गईं। वे वात्सल्यपूर्ण हृदय से राम से बोलीं—

हाँ जनकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।

और आगे अपने को धिक्कारती हुई कहती हैं—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।

इस प्रकार कैकेयी की मति को हम प्रथम भ्रष्ट और पुनः अनुतप्त देखते हैं, जो सम्भव एवं स्वभावज है।

शत्रुघ्न के चरित्र में हम भारतीय स्वतन्त्रता से पूर्व एक राष्ट्रभक्त का हृदय उन्मुक्त हुआ देखते हैं।

इस महाकाव्य की नायिका है उपेक्षिता अबला उर्मिला। वनवास राम को हुआ था, लक्ष्मण तो कर्त्तव्य-वश अग्रज के साथ गये थे। सीता का रुदन और अनुनय-विनय सफल हुई और वे वन में साथ जाने के लिए आदिष्ट हो गई परन्तु उर्मिला किससे कहती, वह लघ्वी थी अतः गुरुजनों के समक्ष हृदय को खोलकर रखने का उसे अधिकार भी कहाँ था और यदि कहती भी तो सुनता कौन क्योंकि उसका प्राणधन स्वतन्त्र रूप में वन-विहार को नहीं जा रहा था वरन् राम के अनुचर के रूप में उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिये जा रहा था और भार्या के साथ रहते यह कर्त्तव्य-निवहन हो नहीं सकता था। विचारी मन मारकर रह गई, करती भी क्या!

उर्मिला का विषाद मानव-प्रकृति के अनुकूल है अतः गर्ह्य नहीं। मनस्वी विदेह की सुपुत्री, सुरों के भी सहायक महापराक्रमी महाराज दशरथ की पुत्रवधू और यशस्वी लक्ष्मण की सहधर्मिणी इतनी अबला कि पतिवियोग में उसका रोम-रोम रोवे और इतनी संतप्त कि कवि को एक समूचा सर्ग ही विविध विलाप-प्रलापों से भरना पड़ा, यह आश्चर्य-प्रदर्शन समुचित नहीं क्योंकि प्रिय-वियोग दुख का कारण होता है और वह निसर्गज है। उर्मिला यद्यपि वीरप्रसू और वीरवधू थी परन्तु थी एक मानवी। उसमें धैर्य और स्थैर्य का अभाव था यह भी नहीं। वन-गमन के समय उर्मिला के निम्न शब्दों में कितनी उदात्ताशयता है—

कहा उर्मिला ने—"हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा! है अनुराग विराग-भरा!
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से चूर्ण न हो।
भ्रातृ-स्नेह-सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग-भाव सरसे!"

तुलसीदास ने मानस में उर्मिला के विषाद की एक रेखा ही खींची है, उसे विशाल भू पर विस्तृत नहीं होने दिया है। सम्भवतः इसलिए कि उन्हें राम-गुण ही गाना था। जो पात्र इसमें जितना सहायक था या हुआ उसको उतनी ही मात्रा में उन्होंने चित्रित किया है। गुप्तजी को उर्मिला की विरह-व्यथा सुनानी थी। परन्तु यह व्यथांकन कुछ सीमा तक अधिक हो गया है। नवम सर्ग में कल्पना ने अनुभूति पर विजय पाई है। पग-पग पर छन्द और

विषयों का परिवर्त्तन काव्य-कला में कल्पना का समुचित स्थान तो स्थिर करता है परन्तु उर्मिला की स्वानुभूति का परिचय नहीं देता। विषाद की घन बलाहक-माला में मनस्वियों का पुञ्जीभूत बल भी नल-नीर की भाँति छिन्न-भिन्न हो जाता है। करुणा का स्रोत सरिता बनकर अपार सागर हो गया है, जिसमें दुर्बल पाठक अपने को गोते खाता ही पाता है। अतः उर्मिला पाठक की सहानुभूति, दया और कारुण्य का पात्र है, उसके लिए उसके हृदय में स्थान भी है परन्तु श्रद्धा नहीं है। दुखिया दया ही पा सकती है, श्रद्धा नहीं।

उर्मिला के चरित्र में एक विशेषता है कि दूसरों को दोष दिए बिना ही सब कुछ सहती है। वह कैकेयी के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहती कि माँ ने बिना समझे-बूझे यह क्या कर डाला। कैकेयी के विचार-परिवर्तन और अनुताप के अनन्तर तो वह उसकी व्यथा-हारिणी ही बनती है। माताओं और देवर भरत को अपनी उपस्थिति से जहाँ वह शोक-सन्तप्त बनाती रहती है, वहाँ वह उनका शोक हरती भी है। वह सच्ची साध्वी है, जिसके मन, मस्तिष्क और आत्मा में एक प्रिय पति ही व्याप्त हो रहा है अतः उसके वियोग में वह दीना, हीना और विकला है। चित्रकूट में इस बाला का महान् त्याग देखकर लक्ष्मण भी स्वयं उसके पैरों में गिर पड़ते हैं।

गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया पद-तल में।
वह भीग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।

यह अस्वाभाविक सा प्रतीत होते हुए भी मानवी-लीला में गेहियों का स्वाभाविक चित्र है। मानव को देव बनाकर अंकित करना भी उचित नहीं। मानवी उर्मिला की इससे बड़ी महत्ता और क्या हो सकती है। वन से लौटने पर स्वयं भगवान् उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर,
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि इस भू पर!

मानवी चित्रण के कारण ही उर्मिला में सन्ताप, विकलता और कृशतानुताप दीख पड़ता है। यहाँ तक कि पतिमिलन के समय यौवन की शीर्ण रेखा शूल देती है। ये दुर्बलताएँ नहीं प्रत्युत मानवमात्र की स्वभावज चेष्टाएँ हैं और इन्हीं के चित्रण-में सफलता है। वह सतत-रुदनशीला अबला ही नहीं, वीर-बाला भी है। अपने प्राणेश्वर को मेघनाद की अमोघ शक्ति से बिद्ध और असंज्ञ सुनकर वह त्रिशूल ले चण्डी की भाँति लंका-विजय के लिए गमनार्थ उद्यत हो जाती है। वास्तव में उर्मिला देवी पूर्ण मानवी के रूप में चित्रित हुई हैं इसीलिए हमारी श्रद्धा का पात्र हैं।

साकेत में काव्य-कला—साकेत द्वादश सर्गों में समाप्त होने वाला एक महाकाव्य है। इसका नायक क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न लक्ष्मण और नायिका उर्मिला है। कहा जा चुका है कि यद्यपि नायक का चरित्र भगवान् राम के चरित्र से दब गया है और इसी प्रकार उर्मिला का दुःख भी सीता के क्लेश से महत्तर प्रतीत नहीं होता तथापि कवि के काव्य-निर्माण में इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कि उपेक्षिता उर्मिला का चरित्र-चित्रण ही वांछनीय है, हम कह सकते हैं कि उर्मिला ही नायिका के रूप में अभीप्सित है अतः लक्ष्मण ही नायक हैं। साकेत का अधिकांश कथानक लक्ष्मण और उर्मिला के त्याग को ही ध्वनित करता है। सीता देवी का दुख अधिक हो सकता है किन्तु उर्मिला के दुख में त्याग भरा है। सीता का दुख दैवापतित है किन्तु उर्मिला का स्वेच्छावश है अतः उसमें त्याग है, महत्ता है और आत्म-तृप्ति है और उसमें यही एक महान् संदेश है जो भारतीय कुलवधुओं के आदर्श जीवन का एक दिव्य रूप है।

इसमें युद्ध-वर्णन और प्रकृति-वर्णन भी है। यद्यपि प्रकृति-वर्णन उर्मिला की ताप-शान्ति के लिए है परन्तु मूलतः वह उद्दीपन के रूप में ही आया है। इस प्रकार प्रकृति-वर्णन से दोनों ही काम लिए गये हैं।

चरित्र-चित्रण तो इसमें उच्चतम कोटि का है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। सभी चरित्रों से त्याग और कर्त्तव्य का महान् संदेश हमें मिलता है।

रस, अलंकार, काव्यगुण और रीति की दृष्टि से तो श्रेष्ठतम काव्यों में से यह एक है। इसमें प्रधान रस करुण है और यों सभी रसों का यथास्थान समावेश हुआ है। गुण और रीति का प्रयोग भी रसानुकूल ही हुआ है। साकेत का नवम सर्ग तो अभूतपूर्व है। विरह विकला उर्मिला के हृदय में नवोन्मिषित विश्रृंखल भावों की झंझा का जैसा सुन्दर विश्लेषण और चित्रण हमें यहाँ मिलता है वैसा किसी भी वियोगिनी का अन्यत्र दुर्लभ है। उर्मिला के मुख से प्रकृति-वर्णन में तो गुप्त जी ने कलम तोड़ दी है। एक-एक छन्द अपनी नवीन सजधज और भाव-सज्जा से अलंकृत होकर आया है। गुप्त जी के हृदय में सञ्चित सम्पूर्ण कला का यह परिणाम है।

सम्पूर्ण काव्य में छन्द-योजना, अलंकार-विधान और उक्तिवैचित्र्य उत्कृष्ट कोटि के है। उदाहरणतः कुछ उत्तम छन्द नीचे लिखे जाते हैं।

पंजरस्थित कीर के सम्मुख ज्यों ही उर्मिला जाकर खड़ी हुई, कीर विस्मित सा होकर सहसा मौन हो गया। उसी समय एक पार्श्व से लक्ष्मण आ गए। उस समय के निम्न परिहास में कितनी मनोहारिता है—

प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा ?"
पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी,
और बोले—"लो, बता दूँ मैं अभी।
नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।"

[भ्रान्तिमान् अलंकार]

उर्मिला विनिर्मित चित्र से मुग्ध लक्ष्मण की उक्ति में सजीवता देखिए—

मंजरी सी अँगुलियों में यह कला
देख कर मैं क्यों न सुध भूलूँ भला ?
क्यों न अब मैं मत्त गज सा झूम लूँ ?
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ !"

[उपमा]

कवि की सुनहरी कल्पना की एक सुन्दर झाँकी भी लीजिए—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छींटे वही उड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे !

सूर्योदय हो रहा है। उर्मिला सूर्य को हंस का रूप देकर वर्णित करती है। देखिए कितना चित्ताकर्षक अतएव प्रशंसनीय साङ्ग रूपक है—

सखि, नील नभस्सर में उतरा, यह हंस अहा ! तरता तरता।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिन्दु मिले अब भी, चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जायें न कण्टक भूतल के, कर डाल रहा डरता-डरता।

इस प्रकार के अनेक चित्र और सुन्दर वचन हमें इस काव्य में उपलब्ध होते हैं।

'यशोधरा'—यशोधरा के विषय में गुप्त जी इस काव्य के शुल्क में अपने लघु भ्राता सियारामशरण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"मेरी शक्ति का विचार किये बिना ही मुझसे ऐसे ही अनुरोध किया करते हो। कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य-पद्य, तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।"

इन शब्दों पर विचार करके और यशोधरा काव्य का रूप देख कर हम इस परिणाम पर आते हैं कि यह एक चम्पू काव्य है। चम्पू का लक्षण भी गद्य-पद्य-मय काव्य है—

गद्य-पद्य-मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

यह काव्य भी एक उपेक्षिता नारी की पुण्यस्मृति में लिखा गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र का संकेत पा कर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कवि-उपेक्षिता उर्मिला के विषय में कवियों की उपेक्षा पर एक लेख लिखा था परन्तु उपेक्षिता यशोधरा का ध्यान उन्हें भी न आया था। गुप्त जी को यह सह्य न था। साकेत की उर्मिला ने उन्हें प्रेरणा दी और राहुल-जननी के दो-चार आँसू चित्रित करने के लिए यह काव्य रच डाला। वे लिखते हैं—

"भगवान् बुद्ध और उनके अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना और उसका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिल-वस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।"

वास्तव में गुप्त जी भगवान् तथागत का पावन चरित्र चित्रित करना नहीं चाहते थे, वे तो यशोधरा के रूप में उस नारी का चित्रण करना चाहते थे, जो सदैव से उपेक्षिता रही है क्योंकि भगवान् का चरित्र तो 'जातक' ग्रन्थों में सविस्तर महत्व के साथ वर्णित हो चुका था तथा संस्कृत के महाकवि अश्वघोष ने भी 'बुद्धचरित' नामक काव्य में उनकी पूत गाथा गाई थी परन्तु उनके साथ गोपा का—पतिव्रता किन्तु परित्यक्ता गोपा का—गान किसी ने न किया था, इस विषय में सभी ने आँखों पर ठिकरी रख ली थी। आधुनिक जगत भी इस विषय में मौन रहा। ऐडविन आर्नल्ड ने 'दि लाइट ऑफ एशिया' नामक काव्य अँग्रेजी में लिखा तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काव्य पर मुग्ध होकर इसका 'बुद्धचरित्र' नाम से हिन्दी-अनुवाद कर डाला परन्तु जहाँ उन्होंने भगवान् का सुन्दर चरित्र लिखा, वहाँ वे गोपा को निपट विस्मृत कर गये। गुप्त जी ने गर्विणी गोपा की स्वतंत्र-सत्ता देखी और उनके बिना गौतम भी उन्हें ग्राह्य नहीं हुए इसीलिए वे महाराज शुद्धोदन के शब्दों में कहते हैं—

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।

अतः गोपा (यशोधरा) ही इस काव्य की नायिका है और भगवान् बुद्ध नायक। गुप्त जी को गोपा बिना गौतम ग्राह्य न थे अतः उन्होंने काव्या-रम्भ गौतम के शैशव से नहीं विवाहोपरान्त से किया है। किसी वृद्ध की क्लेशपूर्ण दुरवस्था से क्लिष्ट हो उनका संसार-विलास से उदासीन हृदय

सर्वतः विरक्त हो गया और अपनी प्राण-प्रिया नवोढा एवं अबोध शिशु को सुप्तावस्था में छोड़ महाभिनिष्क्रमण के लिए निकल पड़े। महाभिनिष्क्रमण के समय का वर्णन अश्वघोष ने इस प्रकार किया है—

पितरमभिमुखं सुतं च बालं जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीं।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो विनिर्जगाम ।।

अर्थात् पिता, पुत्र, परिजन एवं लक्ष्मी को त्याग कर वह पितृनगर से निकल गया। इसमें पिता आदि के साथ वे माता एवं पत्नी दोनों की गणना करनी भूल गये। माता के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह गौतम को जन्म देकर ही इस लोक को छोड़ गई थी अतः कवि ने उसका नाम नहीं गिना परन्तु पत्नी के विषय में इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि कवि ने जानकर उपेक्षा की। गुप्त जी के शब्दों में कहना पड़ता है कि 'अमिताभ की आभा में उनके भक्तों की आँखें चोंधिया गईं और उन्होंने इधर देख कर भी नहीं देखा।' सजग कवि गुप्त जी गोपा का त्याग कैसे कर सकते थे, उन्होंने महाराज शुद्धोदन की द्वितीय पत्नी तथा गौतम की धाय-माता महाप्रजावती का भी विकल माता के रूप में चित्रण किया।

महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् यशोधरा, नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन एवं छन्दक का विलाप है और पुनः सिद्धार्थ के शुद्ध-बुद्ध-रूप में प्रत्यावर्त्तन तक यशोधरा का ही विविध रूपों में चित्रण हुआ है।

भगवान् अमिताभ का चरित्र एक विरक्त एवं अमृतत्वान्वेषक के रूप में अंकित किया है परन्तु यशोधरा हमें दो रूपों में अंकित हुई दृष्टिगोचर होती है—एक तो अनुरक्ता के रूप में और द्वितीय मानिनी के रूप में। वह एक आर्यललना है जो वीरप्रसू एवं वीरवधू है। वे क्षात्रधर्म से भली-भाँति परिचित थीं और उस जाति से सम्बन्ध रखती थीं जिसकी कुल-वधुएँ अपने-अपने प्रियतम को प्राणों की बाजी लगने पर रण में सहर्ष सुसज्जित कर भेज देती हैं। उन्हें प्रियतम के जाने का दुख नहीं है, दुख इस बात का है कि वे चोरी-चोरी गये—कह कर न गये—

सिद्धिहेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि वे मुझसे कह कर जाते।

वे कह कर जाते तो गोपा को बाधा रूप में न पाते। वह उन्हें सहर्ष गर्व से भेजती। वह उनकी अर्धाङ्गिनी है और उसे विश्वास है कि स्वामी को जो सिद्धिलाभ होगा, उसमें उसका भी भाग होगा—

उसमें मेरा भी कुछ होगा, जो कुछ तुम पाओगे।

यशोधरा के धैर्य और स्थैर्य को देखकर शुद्धोदन भी उनसे पूछते हैं, 'यशोधरे! तू धीरा है, बता मैं क्या करूँ?' तब यशोधरा दृढ़ता के साथ उत्तर देती हैं—

उनकी सफलता मनाओ तात, मन से,
सिद्धि-लाभ करके वे लौटें शीघ्र वन से।

आर्यललना पति के अनुरूप ही जीवन व्यतीत करती है। प्रिय ने चिकने-चुपड़े, कोमल-कच्चे, सुरभि-निवेश केश-जाल को जब कर्त्तरी से काट डाला तो उसकी अर्धांगिनी श्रृंगार क्यों करे। अतः स्वामी के चले जाने पर यशोधरा केवल हाथों में चार चूड़ियाँ और भाल पर सिन्दूर-विन्दु ही चाहती हैं और इन्हें भी इसलिये कि ये सुहाग के चिह्न हैं। वे पति की इस प्रवंचना पर रोष नहीं करतीं तथा 'यह मेरे कर्मों का भोग' कह कर भाग्य का दोष बतलाती और इसे अपनी कठिन परीक्षा के रूप में ही ग्रहण करती हैं एवं इसमें पूर्णतः उत्तीर्ण होने के लिए अपने को कुसुम से भी अधिक सुकुमारी कह कर बज्र से भी कहीं कठोर होने के लिए सावधान करती हैं।

यशोधरा के आर्यपुत्र को संसार असार प्रतीत हुआ और मुक्ति प्रिय लगी किन्तु यशोधरा को संसार हेय ज्ञात न हुआ। वे पति-अनुरक्ति में ही नारी की मुक्ति समझती थीं। नारीत्व का त्याग कर मुक्ति की चाहना वे पसन्द नहीं करती थीं अतः वे ललकार कर कहती हैं—

है नारीत्व मुक्ति में भी तो ओ वैराग्य-विहारी!

मुक्ति में भी नारीत्व है तो फिर संसार नारी से पृथक कैसे हो सकता है। भगवान् मुक्ति-नारी को पाने के लिए गये हैं फिर नारी की ही जीत है। मैं भी निज राज-भुवन में बैठूंगी, उन्हें आना होगा तो यहीं आवेंगे। भला भक्त कहीं जाते हैं, भगवान् ही आते हैं।

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान;
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।
मैं निज राज-भवन में,
सखि प्रियतम हैं वन में?

यह अनुरागिनी यशोधरा की कैसी निश्छल गर्वोक्ति है। उन्हें मान अवश्य है परन्तु रोष नहीं। वे जानती हैं कि उनका पति परम कारुणिक है। गौतमी जब कहती है कि निर्दयी पुरुषों के पाले पड़ कर हम अबलाओं के भाग्य में रोना ही लिखा है तो यशोधरा बीच में ही टोक कर कहती है—'अरी, तू

उन्हें निर्दय कैसे कहती है ? वे तो किसी कीट-पतंग का दुःख भी नहीं देख सकते ।"

वे प्रिय के वियोग में अपने छौने राहुल से मन बहलाती हैं । एक ओर उनकी आँखों में पानी है तो दूसरी ओर आंचल में दूध है । नारी के दो ही रूप हैं—जाया और जननी । जाया के रूप में भारतीय ललना प्रायः आँसू ही बहाती है और जननी के रूप में अपने रस से शिशुओं को परिपुष्ट करती रहती हैं । अतएव यशोधरा विकल हो कहती हैं—

अबला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।

पति के वियोग में अनुरक्ता यशोधरा की रति शिशु राहुल की शैशव-जन्य चेष्टाओं एवं मधुरोक्तियों से वात्सल्य में परिणत हो गई । वे मान किये घर में ही बैठी हैं, पति नहीं तो पति की थाती तो है; पति-प्रेम नहीं तो पति-थाती का ही प्यार सही । वे भव पर मुक्ति-विभव को भी वारती हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यदि मनुष्य में नियम, शम और दम हो तो लाख व्याधियाँ भी उसकी आत्म-समता में अस्वस्थता नहीं ला सकतीं और संयम के रहते बुढ़ापा तो एक विश्रान्ति है तथा मृत्यु नवजीवन-प्रदाता है अतः परम कृपालु है—

यदि हम में अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है ।
वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ संयम है;
नव जीवन-दाता मरण कहाँ निर्मम है ?
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ ।
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?

अतः वे अपने प्रिय को भी भव में भाव-विभाव भरने के लिये पुकारती है और विश्वास दिलाती हैं कि हम तर या न तरें परन्तु डूबेंगे कदापि नहीं । कैवल्य-काम भी तो एक काम है, फिर हम स्वधर्म धारण क्यों न करें ! अतः संसार-हेतु शत बार मरकर भी जन्म धारण करना पड़े तो हमें स्वीकृत है—

आओ, प्रिय ! भव में भाव-विभाव भरें हम,
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम,
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसारहेतु शत बार सहर्ष मरें हम ।
तुम सुनो क्षेम से, प्रेम गीत मैं गाऊँ ।
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?

पतिप्राणा यशोधरा जब गौतमी से अपने प्रियतम का सिद्धिलाभ सुनती है तो गर्व, हर्ष और विषाद की मिश्रित भावशबलता में कह उठती है—

गोपा गर्विणी है आज, आली, मुझे भेंट ले,
आँसू दे रही हूँ, कह और क्या अदेय है ?

शुद्धोदन और महाप्रजावती आकर संदेश देते हैं और पुत्र की अपूर्व योग-प्राप्ति से उल्लसित हो आशीर्वाद देते हैं कि गौरी और शंकर के समान ही गोपा और गौतम का नाम गण्य और गेय हो। पुनः वे उससे भगवान् के स्वागतार्थ चलने के लिए कहते हैं परन्तु मानिनी यशोधरा यही उत्तर देती है कि मुझे यह कक्ष छोड़ने का उनके निदेश विना अधिकार ही कहाँ है अतः मैं न जाऊँगी, वे ही मुझे आकर दर्शन दें या स्वयं बुलावें। भगवान् कक्ष में आरहे हैं, सखि कहती है, हे देवि ! प्रभु अजिर में आ गये हैं और तुम अभी कक्ष में ही बैठी हो, उठो, देखो, स्वयं अपवर्ग ही उतर कर आ रहा है। परन्तु गोपा—मानिनी गोपा—टस से मस नहीं होती और यही उत्तर देती है—

सखि, किन्तु इस हतभागिनी को ठौर हाय ! वहाँ कहाँ ?
गोपा वहीं है, छोड़कर उसको गये थे वे जहाँ।

अन्त में भगवान् ही स्वयं उसके पास पधार कर उसे गौरवान्वित करते है और उसे अधीर देखकर समझाते हैं—

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से, शरीर से,
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार-बार,
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से।
तुम तो यहाँ थीं, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से॥

शुद्ध-बुद्ध भगवान् भी नारी को भूत-दया की मूर्त्ति बतलाते हैं और अपने तपश्चरण से शुष्कप्राय अतएव क्षीण होते हुए शरीर की रक्षा में एक नारी कृत करुणा का उदाहरण देते हुए गोपा की महत्ता का परिचय देते हैं कि वे ध्यान में भी उसे न भूल सके थे क्योंकि जब मार हेम-हीर से सुसज्जित अप्सरा-दल को लाया था तो अमृत-तत्व के ध्यान ने नहीं, तुम्हारे ही निश्चल ध्यान ने मेरी रक्षा की थी और वाम काम वामा-सैन्य समेत धूल चाट गया

था। अन्त में भगवान् उसका मान बढ़ाने और संसार को नारीत्व का संदेश देने के लिए कहते हैं—

बतलाऊँ मैं क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा कर्म,
पाला है तुमने जिसे, वही वधू का धर्म।

अनुरक्ता किन्तु मानिनी गोपा की विजय हुई। नारी पतिव्रता, पतिप्राणा और साध्वी हो तो उसे वनों में खाक छानने की आवश्यकता नहीं। गोपा ने घर बैठे ही भगवान् पा लिये। पुन: विजय पाकर भी संसार कल्याणार्थ एक आदर्श और उपस्थित किया। प्रश्न उठा कि घर आए भिक्षुक को वह क्या दे और भिक्षुक भी साधारण नहीं, उसका सर्वस्व और विश्व का वैभव। अन्त में अपने प्राणाधार राहुल को भी भगवान् के चरणारविन्दों का अनुगामी बना देती है और स्वयं भी उनकी शरण ग्रहण कर लेती है—

तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी !
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी।
मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी !
बुद्धं शरणं, धर्म शरणं, संघं शरणं गच्छामि।

यशोधरा में काव्य-कला—कहा जा चुका है कि यह चम्पू काव्य है और वह भी विचित्र जिसमें गद्य, पद्य और नाटक सभी कुछ है। इसके नायक भगवान् बुद्ध और नायिका यशोधरा है। इसमें उपेक्षिता यशोधरा का चरित्र-चित्रण है, जिससे एक महान् संदेश ध्वनित होता है और वह है विशद प्रेम, त्याग और गौरव का संदेश।

'साकेत' की उर्मिला ने गुप्त जी को यशोधरा की ओर संकेत अवश्य किया था परन्तु उर्मिला और यशोधरा में बड़ा अन्तर है। उर्मिला वियुक्ता थी जब कि यशोधरा त्यक्ता। उर्मिला का पति उर्मिला से विदा होकर गया था और कर्त्तव्य-निष्ठा ने उन्हें पृथक् किया था अत: उनके वियोग में विवशता के साथ-साथ कर्त्तव्य-परायणता भी कारण थी परन्तु यशोधरा को तो पार्थक्य का भान भी न था, वह तो निद्रा की सुखद गोद में अचेत पड़ी थी जब कि उसका प्राणाधार उसे छोड़कर चला गया और वह भी न जाने कहाँ और सदैव के लिए। उर्मिला कुछ अवधि के लिए तरु से वियुक्त लता के तुल्य थी तो यशोधरा छिन्न एवं सदैव के लिये त्यक्त लता के सदृश थी। लक्ष्मण चौदह वर्ष के उपरान्त अपनी सहचरी से आकर मिले और दम्पति ने पूर्ण सम्भोग-सुख भोगा एवं अवधि काल भी पुनर्मिलन की आशा के बल पर काटा परन्तु गौतम निरवधि

काल के लिए गये और वह भी अज्ञात स्थान में और लौटे भी तो शुद्ध-बुद्ध होकर। वे छुपकर दूर चले गये और मिलकर भी दूर ही रहे अतः यशोधरा—त्यक्ता यशोधरा—मिलन के उपरान्त भी वियुक्ता ही रही। उर्मिला के विपरीत यशोधरा को एक लाभ अवश्य रहा कि उसका राहुल उसकी सान्त्वना एवं मनः-शांति का साधन बना रहा जब कि उर्मिला इससे वञ्चित थी। इसीलिए उर्मिला हमें अधिक विकल और सन्तप्त दीख पड़ती है। यशोधरा की पीड़ा वात्सल्य से हलकी होती रही अतः उसमें मान भी सजग हो गया था किन्तु वह मान मानिनी का ही मान था, एक अनुरागिनी का अपना संबल था जिसमें रोष और दुराग्रह का लेश भी न था। शेष त्याग की आधार-शिला पर निर्मित चरित्र-भवन दोनों का प्रायः समान ही है।

यशोधरा का विरहिणी रूप हमें दीख तो पड़ा परन्तु भयावह रूप में नहीं। हमें यशोधरा में विरहकृत मरण के अतिरिक्त अभिलाषा, स्मरण, चिन्तन, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि और मूर्च्छा सभी दशाएँ मिलती हैं परन्तु वह इनसे इतनी अभिभूत नहीं होती कि विक्षिप्त हो जाय। राहुल का वात्सल्य भी उसके संवेदन में सहायक रहा है। यशोधरा का विरह प्रवासनिमित्त है अतः तीव्रता अवश्यम्भावी है परन्तु गुप्त जी ने वर्णन-मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। यशोधरा कृश अवश्य हो गई है, अपरिचित-सी भी ज्ञात होती है पर अलक्षित नहीं और न उसके तप्त श्वासों से वन-उपवन ही जले हैं। हाँ, अपेक्षाकृत 'साकेत' की उर्मिला अवश्य अधिक सन्तप्त है।

इस काव्य में पचासों मात्रिक सम, विषम और अर्धसम छन्दों का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं पर गीति का प्रयोग भी है। यशोधरा और गौतमी के संवाद में गद्य का भी व्यवहार हुआ है। कहीं-कहीं 'नेपथ्य में' कहकर नाटकीय शैली भी व्यवहृत की गई है।

इस काव्य में प्रधान रस शृंगार और वात्सल्य हैं। शृंगार में विप्रलम्भ का ही अंकन है और वात्सल्य केवल जननी और जात के कोमल और मधुर प्रश्नोत्तर के रूप में ही प्रायः चित्रित हुआ है। शेष में से करुण, वीर (धर्मवीर और दानवीर) और शान्त का चित्रण हुआ है। रसानुकूल गुण और रीति का व्यवहार भी काव्य-सौष्ठव का एक प्रधान अंग बना हुआ है।

अलंकार-योजना सहज रूप में हुई है। कवि को उपमा अधिक प्रिय थी ऐसा प्रतीत होता है। इस काव्य में भी उक्तिवैचित्र्य और शब्दों में मणि-काञ्चन-योग दर्शनीय हैं।

इसमें स्थान-स्थान पर रहस्योन्मुख भावना भी दृष्टिगोचर होती है।

बौद्धों के निराशावाद और वैष्णवी आशावाद का सुन्दर समन्वय इस काव्य का महान् सैद्धान्तिक सौन्दर्य है। भगवान् बुद्ध निराशावाद के प्रतीक हैं तो यशोधरा आशावाद की। साकेत और यशोधरा में इतना अन्तर है कि साकेत में कथासूत्र अविच्छिन्न है परन्तु यशोधरा में कथा में तारतम्य होते हुए भी संश्लिष्टता नहीं। यशोधरा मे साकेत की अपेक्षा गीतात्मकता अधिक है जो हृदय को स्पर्श करने में सफल हुई है।

वास्तव में यह काव्य गुप्त जी का श्रेष्ठतम काव्य है और हिन्दी साहित्य-कोष का एक अमूल्य रत्न है।

'द्वापर'—द्वापर में कवि ने नवीन शैली द्वारा कला का प्रदर्शन किया है। साकेत और यशोधरा में कर्त्तव्य-परायण और पतिव्रता साध्वी नारियों का चित्रण था, जिसका मूलाधार त्याग ही था। राम का चित्रण एक महान् आदर्श के रूप में हुआ था और गौतम का शुद्ध-प्रबुद्ध के रूप में। साकेत में वैष्णवी भावना का प्राबल्य था और यशोधरा में बौद्ध और वैष्णवी भावना का समन्वय। 'द्वापर' में एक नई समस्या थी अतः चित्रण का रूप भी नूतन ही था।

साकेत और यशोधरा का निर्माण उपेक्षिता नारियों की सहानुभूति और उनके हृदय में विद्यमान वियोगजन्य भावों के प्रकाशन के लिए हुआ था, जिसकी उपेक्षा सदैव से कवि-लोक ने की, परन्तु नारी केवल उपेक्षिता ही नहीं, पुरुष द्वारा अपमानित और पीड़ित भी होती रही है। यह एक काल्पनिक बात नहीं, ऐतिहासिक तथ्य है। गुप्तजी की दृष्टि ऐसी ही एक प्रपीड़ित और निरादृत नारी पर पड़ी और वह थी विधृता, जिसके ब्राह्मण पति ने उसे भगवान् कृष्ण के पास, जिनका गान वेद स्वयं करते हैं, जाने से रोका था। 'द्वापर' की रचना में यह भी एक कारण है। इसके अतिरिक्त कुछ पारिवारिक परिस्थितियाँ भी कारण बनीं। गुप्त जी ने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—

"परन्तु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गयी है, वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर—सन्देह की बात है।"

द्वापर का अन्त विप्लव का समय था, जिसमें कंस, वाणासुर, जरासन्ध और शिशुपाल जैसे दुष्ट दानवों का प्राबल्य था। इनका नाश अवश्यम्भावी था। प्रकृति जब पाप-भाराक्रान्त हो जाती है तो उसके उद्धारार्थ दैवी शक्ति की अवतारणा अभीप्सित हो जाती है। उस समय भगवान् कृष्ण का अवतार भी इसीलिए हुआ था। यह बात तो पाँच हज़ार वर्ष पूर्व की थी, परन्तु कर्म-विपाक-रूपी कंस की मारी बेचारी द्रौपदी के समान दीन भार्या को देखकर गुप्त जी को

वह काल स्मृत हो आया। यह बात पत्नी के प्रति इस पुस्तक के समर्पण में उनके निम्न शब्दों से ध्वनित होती है—

> **कर्म्मविपाक-कंस की मारी**
> **दीन द्रौपदी-सी चिरकाल,**
> **अयि अबोध अन्तःपुरि मेरी**
> **अमर यही माई का लाल।**

कंस ने देवकी को दुख दिया, दुर्योधन ने द्रौपदी को, किन्तु वे क्रमशः भगवान् की जननी और कृपापात्री तो बनीं। विधृता पति से नियंत्रित हो भगवान् के दर्शन भी न पा सकी, अतः प्राण-त्याग कर गई। इसमें पति-हृदय-गत संदेह ही कारण बना। वास्तव में सन्देह के जग जाने पर ही मनुष्य दुर्बल हो जाता है और यही आत्म-दुर्बलता उसके विनाश का कारण बनती है। सन्देह ही कंस के नाश का कारण हुआ। सन्देहवश ही मनुष्य नारी को प्रपीड़ित एवं प्रताड़ित करता है और यह नहीं सोच पाता कि नारी माता तथा बहिन भी हो सकती है एवं वह किसी को पिता, पुत्र और भाई की भाँति प्यार भी कर सकती है। यह एक समस्या है, जिसको कवि ने सम्मुख रक्खा है।

'साकेत' के राम लोकरक्षक और मर्यादाविधायक अवतारी पुरुष थे, तथा 'यशोधरा' के गौतम विरक्त मनस्वी। 'द्वापर' में ऐसे नायकों की आवश्यकता न थी, जो शान्त हो, विरक्त हो, उसके नायक को तो दनुज-दल-भंजन और जन-मन-रंजन होना चाहिए था। अतः कृष्ण ही इसके योग्य हो सकते थे। कृष्ण का यही रूप कवि को चित्रित करना था।

इस काव्य में क्रान्ति का एक सन्देश है। यहाँ उर्मिला और यशोधरा नहीं, जो शान्त भाव से आँसू पीती हैं और रञ्चमात्र भी रोषाभिभूत नहीं होतीं, यहाँ तो देवकी, द्रौपदी और विधृता हैं जो उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज़ उठाती हैं और क्रान्ति चाहती हैं। नारी अपने अधिकारों की प्राप्ति चाहती है। इसके लिए उसे क्रान्ति भी वाञ्छनीय है, किन्तु त्यागहीन नहीं। राधा के चरित्र से यही सन्देश मिलता है। इस काव्य में सर्वत्र अत्याचार और उत्पीड़न को हटाकर शान्ति और नवजीवन का संदेश गूँज रहा है। भगवान् कृष्ण का काम अत्याचार को हटाना ही है। बलराम, कृष्ण, नारद, उद्धव, देवकी, विधृता, राधा और कुब्जा आदि सभी चरित्रों से यही सन्देश मिलता है।

इस काव्य की एक विशेषता यह है कि यह गीति-प्रमुख है। साकेत से यशोधरा में और यशोधरा से द्वापर में गीतात्मकता अधिक हो गई है। किन्तु

कहीं-कहीं तार्किकता ने भाव को हृदयस्पर्शी नहीं रहने दिया है, जो गीति-काव्य का विशेष गुण है।

'सिद्धराज'—यह पाँच सर्गों में समाप्त हुआ एक खण्डकाव्य है, जिसमें पाटन-नरेश सिद्धराज जयसिंह की वीरतापूर्ण विजयों का वर्णन है। इसका नायक सिद्धराज और नायिका सिन्धुराज की परित्यक्ता पुत्री एवं खंगार की पत्नी रानकदे है, जिसे खंगार की मृत्यु के पश्चात सिद्धराज ने बलात् अपनी भार्या बनाना चाहा परन्तु मालवेश्वर के सामन्त और पुनः सद्व्यवहार से अपनाये हुए वीर जगदेव की सामयिक भर्त्सना से जिसका त्राण हुआ।

सिद्धराज ने नरवर्मा, खंगार, अर्णोराज और सिन्धुराज को हराया किन्तु वह विजयी होकर भी सुख न पा सका। अर्णोराज को बन्दी तो बनाया परन्तु अन्त में उसे जामाता बनाना पड़ा। खंगार को मार कर उसके दो पुत्रों का भी बध कर डाला परन्तु फिर भी उसकी पत्नी रानकदे को न पा सका और उसमें भी नरवर्मा का वीर जगदेव ही बाधक हुआ। इसी प्रकार सिन्धुराज को जब पकड़ कर सामने लाया गया तो वह भी सिद्धराज के लिए रानकदे का स्मारक ही हुआ क्योंकि रानकदे सिन्धुराज की पुत्री थी और इस प्रकार उसने अन्तःक्लेश ही दिया। अन्त में वह महोबे पर आक्रमण करता है परन्तु वहाँ उपयुक्त समय न पाकर एवं महोबा नरेश के सम्भाषण से प्रभावित होकर सन्धि कर लेता है।

वास्तव में कवि को सिद्धराज की वीरता का वर्णन करके नवयुवकों में उत्साह बढ़ाना ही अभीप्सित है और इससे अधिक कुछ नहीं क्योंकि यह काव्य इससे भिन्न कोई आदर्श उपस्थित नहीं करता। नायक कामुक है जो वीर होता हुआ भी एक पतिव्रता क्षत्राणी को बलात् कलंकित करना चाहता है। रानकदे स्वयं उसे पशु बतलाती है—

चिल्ला उठी रानकदे "पापी पशु" कह के।

रानकदे द्वारा प्रयुक्त 'पापी पशु' शब्द ही नायक की पाशविकता को ध्वनित कर रहे हैं। तत्काल सहायतार्थ आये जगदेव के ये शब्द भी—

कामी क्रूर कापुरुष !
[सिद्धराज क्या हुआ ?]
मर गया, हाय ! तुम पापी प्रेत उसके।

यही बतलाते हैं कि सिद्धराज एक कामी पुरुष था। फिर ऐसे लम्पट मनुष्य को नायक का पद देना और उसके चरित्र को विख्यात करना शोभा नहीं देता। सामयिक कामुकता मनुष्य में हो सकती है परन्तु वह महान् है जो

पश्चाताप करले । सिद्धराज पश्चाताप नहीं करता, उसे पश्चाताप है तो इसका कि वह रानकदे को न पा सका ।

कथानक में संश्लिष्टता भी नहीं है । रानकदे के सती हो जाने पर इस काव्य की समाप्ति हो जानी चाहिए परन्तु कवि सिद्धराज की विजयों का वर्णन फिर भी करता ही जाता है । यद्यपि घटनाएँ ऐतिहासिक हैं परन्तु उनका क्रम संदिग्ध है, जैसा कि कवि ने अपने निवेदन में स्वयं लिखा है ।

काव्य में उद्देश्य एकच्छत्र राज्य स्थापन करना था परन्तु वह भी पूरा नहीं हुआ है ।

इस प्रकार यह खण्डकाव्य काव्यकला की दृष्टि से खरा नहीं उतरता । हाँ, मध्यकालीन वीरता की एक झलक हमें अवश्य मिलती है ।

'नहुष'—एक छोटा-सा काव्य है, जिसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है । वृत्रासुर का भाई त्रिशरा तपोबल से इन्द्र-पदवी लेना चाहता था । इन्द्र ने अप्सराओं से उसे डिगाना चाहा परन्तु वह न डिगा । अन्त में इन्द्र ने उसका बध कर दिया । इसके प्रतिशोध में वृत्र ने युद्ध ठान दिया । इन्द्र को उससे सन्धि करनी पड़ी परन्तु एक दिन धोखे से उसे मार डाला । इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप लगा और उसे प्रायश्चित स्वरूप जल-समाधि लेनी पड़ी । स्वर्ग की रक्षा के लिए देव-गण ने राजा नहुष को इन्द्रासन पर बिठा दिया । राज्य-मद से उन्मत्त हो नहुष ने इन्द्राणी से परिणय करना चाहा । देवविधान उसके अनुकूल था अतः देवताओं की ओर से कोई त्राण न देखकर शची को बड़ी चिन्ता हुई । अन्त में उसने एक चाल चली । उसने सोचा कि इस संकट काल में ऋषि ही सहायता करेंगे । उसने कहला भेजा कि राजा यदि ऋषियों से उद्वहित पालकी में चढ़ कर आयें तो मैं परिणय कर लूँगी । यह सुनकर राजा और देव बड़े प्रसन्न हुए । राजा ने अपनी पालकी में सप्त देवर्षियों को लगाया और उनसे बार-बार ठोकर खाने पर भी शीघ्र चलने के लिए डाट-डपट की । क्रोध से पटका हुआ उसका पैर एक ऋषि को छू गया । ऋषियों को क्रोध हो आया और अन्त में उन्होंने शाप दिया कि जा, दुष्ट ! सर्प होकर तू पतित होजा । इस प्रकार नहुष का पतन और शची का धर्म-रक्षण हुआ ।

काव्य छोटा-सा है परन्तु बड़ा रोचक है । देव-विधान से परवश इन्द्राणी—एक नारी—किस प्रकार नहुष से—एक लम्पट से—अपना धर्म-रक्षण करती है, यही इसका सार है । नारी-धर्म का संरक्षण ही विश्व का संरक्षण है, यही इसका संदेश है ।

गुप्त जी का हिन्दी साहित्य में स्थान—उपर्युक्त पर्यालोचन से गुप्त जी

के विषय में हम कुछ बातें निश्चित कर सकते हैं। भारतेन्दु जी के पश्चात द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मक शैली के वे अनुसर्त्ता रहे हैं। प्रबन्धात्मकता में उनकी अभिरुचि विशेष रूप से संलग्न रही है। पिंगल-पटुता और सहज आलंकारिकता तो उनकी प्रतिभा के देदीप्यमान गुण हैं। इस विषय में निश्चय ही इतनी प्रखर प्रतिभा वाला कवि आधुनिक काल में भारतेन्दु जी के पश्चात और दूसरा नहीं हुआ। गुप्त जी के समान दूसरे किसी कवि ने इतने प्रबन्ध-काव्यों का सृजन नहीं किया। यद्यपि उनमें अतीत का गौरव चित्रित है परन्तु साथ ही वर्त्तमान के निर्माण-विधान का सन्देश भी है। इस दृष्टि से वे इस काल के प्रतिनिधि कवि हैं। राष्ट्रीयता का गान तो उन्होंने इतना नहीं किया परन्तु उन्हें देश अत्यन्त प्रिय है, देश का गौरव रुचिकर है, देश की अवनति दुखप्रद है और भेद-भावहीन देश की उन्नति सर्वाधिक इष्ट है अतः वे राष्ट्रीय कवि भी कहे जा सकते हैं। उनका उक्तिवैचित्र्य अपना ही है। उनकी काव्य-शैली, प्रबन्ध-पटुता, विषय-बहुलता और उसमें वचन-रचना का चातुर्य आदि गुणों ने उन्हें अन्य सभी आधुनिक कवियों से अधिक लोकप्रिय बना दिया है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रवाद, समाजवाद, गान्धीवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद और यहाँ तक कि छायावाद और रहस्यवाद सभी न्यूनाधिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दुत्व के भक्त एवं परम वैष्णव होते हुए भी उनमें सुधार की तीव्र भावना, कुप्रथाओं के प्रति घृणा, सर्वधर्मप्रियता और समन्वयवादिता आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें सहज ही उच्चासन पर समासीन कर देती हैं। इन सभी गुण और विशेषताओं से वे आधुनिक काल के कवि-शिरोमणि हैं।

जयशंकरप्रसाद

हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि, उपन्यासकार, नाटककार, कहानीकार एवं निबंध-लेखक श्री जयशंकरप्रसाद का जन्म संवत १९४६ (सन् १८८९ ई०) में काशी में सुँघनी साहू परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था, जो पैतृक परम्परा से सुरती और तम्बाकू का व्यापार करते थे। काशी में वे बड़े सम्मानित व्यक्ति थे अतः प्रसाद जी का पालन-पोषण बड़े सुखमय वातावरण में हुआ। वे निश्चिन्त भाव से खाते-पीते एवं व्यायाम करते थे, घुड़सवारी से भी उन्हें प्रेम था अतः उनका शरीर बड़ा हृष्ट-पुष्ट हो गया।

प्रसाद जी क्वींस कॉलेज में केवल सातवीं कक्षा तक ही पढ़ सके क्योंकि बारह वर्ष की अवस्था में उनके पिता का देहान्त हो गया अतः सारा कारोबार बड़े भाई शम्भुरत्न को सँभालना पड़ा और इन्हें भी भाई की सहायतार्थ स्कूल छोड़ना पड़ा। पुनः भाई ने इनके अध्ययन का प्रबन्ध घर पर ही कर दिया। ये घर पर ही अध्यापकों से अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फारसी पढ़ने लगे। संस्कृत की ओर इनकी विशेष रुचि थी अतः अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत का ज्ञान शीघ्र ही अच्छा हो गया और इन्होंने वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण और बौद्ध-जैन ग्रन्थों का अवलोकन प्रारम्भ किया, जो भविष्य में फल लाया।

सत्रह वर्ष की अवस्था में इनके बड़े भाई का भी देहान्त हो गया। अब तो व्यापार का सारा भार एवं परिवार की चिन्ता इन्हीं पर आ पड़ी और उसके साथ-साथ ऋण का कुछ भार भी। इन्होंने साहस से काम लिया और सभी आपत्तियों को झेलते हुए शीघ्र ही ऋण को चुका कर सारे कारोवार की व्यवस्था ठीक कर ली।

भाई के जीवन काल में ही इन्हें कविता गढ़ने का शौक हो गया था। ये दुकान पर बैठे कविता किया करते थे। भाई को बुरा भी लगता परन्तु जिसे प्रखर कवि बनना था वह भला कैसे रुकता। भाई की मृत्यु तक ये अच्छी कविता

करने लगे थे और सन् १९०६-७ से ही इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में कविता देना प्रारम्भ कर दिया था। इनकी प्राथमिक रचनाओं में भारतेन्दु काल की विशेषताएँ हैं। उस समय प्राचीनता के प्रति नवीन जागृति के साथ-साथ एक आन्दोलन चल रहा था। प्रसाद जी ने भी इस नवीनता को अपनाया। 'इन्दु' में उनकी नवीन ढंग की ही रचनाएँ प्रकाशित हुईं।

इसके पश्चात् इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थ, उपन्यास एवं नाटक रचे और कहानियाँ लिखीं जिनकी कालक्रमानुसार तालिका नीचे दी जायगी।

ये व्यापार के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी भाग लेते थे और साहित्यिक गोष्ठियों में भी परन्तु कभी भी प्रतिष्ठा एवं अधिकार के भूखे नहीं रहे। एक बार कान्यकुब्ज वैश्य-हलवाई-महासभा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के लिए इनसे सभापतित्व के लिए प्रार्थना की गई परन्तु इन्होंने बड़ी कठिनता से स्वीकार की। उनके घर पर एवं दुकान पर साहित्यिकों का आना-जाना लगा रहता था परन्तु वे सभाओं और कवि-सम्मेलनों में जाने से कतराते थे, डर था पत्रकारों का।

इन्होंने 'इन्दु' के पश्चात् 'जागरण' में प्राण डाले। विनोदशंकर व्यास पाक्षिक जागरण के प्रकाशक थे। प्रसाद उसके प्रत्येक अंक में कुछ न कुछ सामग्री दिया करते थे। इस प्रकार इनका बड़ा व्यस्त जीवन था।

सन् १९३१ के दिसम्बर मास में ये कलकत्ता और पुरी की यात्रा भी करने गए। 'कामायनी' में समुद्र का वर्णन यहीं की स्मृतियों का परिणाम है।

लखनऊ की प्रदर्शनी से लौटने के पश्चात् २१ जनवरी सन् १९३६ को ये ज्वर से पीड़ित हुए। परीक्षा करने पर प्रतीत हुआ कि इन्हें राजयक्ष्मा रोग ने आक्रान्त किया है। रोग बढ़ता ही गया और दस मास पश्चात् नवम्बर में इस नश्वर शरीर को छोड़कर इन्होंने स्वर्गारोहण किया।

कृतियाँ—

काव्य—	उर्वशी चम्पू	सन् १९०९
	प्रेमराज्य	सन् १९०९
	शोकोच्छ्‌वास	सन् १९१०
	कानन कुसुम	सन् १९१३
	प्रेम-पथिक	सन् १९१३
	करुणालय (गीतिनाट्य)	सन् १९१३
	महाराणा का महत्व	सन् १९१४

झरना	सन् १९१८
आँसू	सन् १९२५
लहर	सन् १९३३
कामायनी	सन् १९३५
नाटक—सज्जन	सन् १९१०
कल्याणी-परिणय	सन् १९१२
करुणालय (गीतिनाट्य)	सन् १९१३
प्रायश्चित	सन् १९१३
राज्यश्री	सन् १९१४
विशाख	सन् १९२१
अजातशत्रु	सन् १९२२
जनमेजय का नागयज्ञ	सन् १९२६
कामना	सन् १९२७
स्कन्दगुप्त	सन् १९२८
एक घूँट	सन् १९२९
चन्द्रगुप्त	सन् १९३१
ध्रुवस्वामिनी	सन् १९३३
उपन्यास—कंकाल	सन् १९२९
तितली	सन् १९३३-३४
इरावती	मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ
कहानी-ग्रन्थ—छाया	सन् १९१२, १९१८
प्रतिध्वनि	सन् १९२६
आकाशदीप	सन् १९२९
आँधी	सन् १९२९
इन्द्रजाल	सन् १९३६

निबन्ध—नाटकों की भूमिका

काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध

प्रसाद की काव्य-साधना—

प्रसाद जी की सर्वप्रथम पुस्तक है 'चित्राधार'। इसका प्रथम संस्करण सं० १९७५ (सन् १९१८) में प्रकाशित हुआ था, जिसमें दस पुस्तकें संकलित थीं—

(१) कानन कुसुम
(२) प्रेमपथिक
(३) महाराणा का महत्व
(४) सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य
(५) छाया
(६) उर्वशी
(७) राज्यश्री
(८) करुणालय
(९) प्रायश्चित
(१०) कल्याणी-परिणय

पुनः इसका द्वितीय संस्करण इसके दस वर्ष पश्चात् सं० १९८५ (सन् १९२८) में प्रकाशित हुआ। इसमें इनकी प्रायः बीस वर्ष की अपनी सभी रचनाएँ रक्खी गईं। प्रथम संस्करण की अनेक रचनाएँ इसमें छोड़ दी गईं तथा अनेक अन्य सम्मिलित कर दी गईं। चित्राधार का जो संस्करण आज हमें मिलता है, उसमें निम्न काव्य-ग्रन्थ संकलित हैं—

(१) उर्वशी
(२) बभ्रुवाहन
(३) अयोध्या का उद्धार
(४) वन-मिलन
(५) प्रेमराज्य
(६) पराग
(७) मकरंद विन्दु

इनके अतिरिक्त उसमें 'प्रायश्चित', 'सज्जन' दो नाटक, 'ब्रह्मर्षि' और 'पंचायत' दो कथाएँ तथा 'प्रकृति-सौन्दर्य', 'सरोज' एवं 'भक्ति' ये तीन निबन्ध हैं।

इस संस्करण में प्रायः ब्रजभाषा की काव्य रचनाएँ ही संग्रहीत की गई और खड़ी बोली के काव्य, जो प्रथम संस्करण में थे, निकाल दिए गए तथा पृथक् प्रकाशित किए गए। उपलब्ध संग्रह में जो भी ग्रन्थ हैं, उन पर हमें हरिश्चन्द्र बाबू का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' चम्पू ग्रन्थ हैं, अतः हम काव्य में ही उनकी परिगणना करते हैं। कविकुल गुरु कालिदास ने संस्कृत में 'विक्रमोर्वशी' त्रोटक लिखा था। प्रसाद जी ने उससे प्रभावित हो 'उर्वशी' चम्पू लिखा। भारतेन्दु जी ने भी 'रामलीला' नामक चम्पू लिखा था।

'उर्वशी' का निर्माण सन् १९०६ में हुआ था, परन्तु प्रकाशन बाद में हुआ। प्रथम संस्करण में जो 'उर्वशी' प्रकाशित हुआ था, उससे द्वितीय संस्करण का 'उर्वशी' भिन्न है। इसमें उसके केवल कुछ छन्द लिए गए हैं, शेष का रूप निपट नवीन है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं और यह नाटकीय ढंग पर लिखा गया है। इसके अन्त में वन्दीगण का आशीर्वचन भी है, जो भरतवाक्य-सा प्रतीत होता है। ब्रजभाषा के 'प्रेमपथिक' के अनेक छन्द इसमें ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं।

यह ग्रन्थ निम्नकोटि का है। प्रसाद जी की प्रथम रचना होने के कारण

इसमें शैथिल्य अधिक है। न भाषा ही श्रेष्ठ है और न भाव ही प्रौढ़ हैं। राजा पुरुरवा और अप्सरा उर्वशी की प्रेम-कहानी को सरल रूप से लिख दिया गया है।

'बभ्रुवाहन' का पहला नाम 'चित्रांगदा चम्पू' था। इसकी रचना सन् १९०७ में हुई, परन्तु १९११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। उर्वशी की अपेक्षा इसकी भाषा शुद्ध और अलंकृत है, परन्तु इसमें भी लेखक ने केवल कथा कहना ही ध्येय बनाया हुआ है अतः जीवन-सम्बन्धी उच्च भाव दृष्टिगोचर नहीं होते।

'अयोध्या का उद्धार' एक दस पृष्ठों का छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें राजा कुश द्वारा अयोध्या के उद्धार की कथा वर्णित है। इसकी कथा का आधार कालिदास का 'रघुवंश' है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन इन्दु में 'अयोध्योद्धार' नाम से सन् १९१० में हुआ था। पुनः 'अयोध्या का उद्धार' नाम से यह सन् १९२८ में 'चित्राधार' में संकलित हुआ। यह भी व्रजभाषा का काव्य है, जिसमें पग-पग पर छन्द का परिवर्तन है।

'वन-मिलन' भी एक छोटा-सा ब्रजभाषा का प्रबन्ध-काव्य है, जो सर्व-प्रथम 'वनवासिनी-बाला' के नाम से इन्दु में सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ था। पुनः सन् १९२८ में 'चित्राधार' में 'वन-मिलन' नाम से संग्रहीत हुआ। इसमें कण्व के आश्रम में शकुन्तला एवं भरत के सहित राजा दुष्यन्त का ऋषि-परिवार से मिलन का वर्णन है। इस पर कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह भी इनकी प्राथमिक रचना होने के कारण प्रौढ़ नहीं।

इन दोनों प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त चित्राधार में संग्रहीत एक और ब्रजभाषा का प्रबन्ध-काव्य है **'प्रेमराज्य'**। यह भी तेरह पृष्ठों का एक छोटा-सा काव्य है। इसकी कथा का आधार ऐतिहासिक है, जिसमें विजयनगर के राजा सूर्यकेतु और बहमनी राज्य के मुस्लिम शासक के युद्ध का वर्णन है और पुनः सूर्यकेतु की मृत्यु के पश्चात उनके पुत्र चन्द्रकेतु और मंत्री की पुत्री ललिता के प्रेम की कथा कही गई है। यह भी साधारण कोटि का ग्रन्थ है।

चित्राधार में संकलित इन तीन प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त ब्रजभाषा में प्रसाद जी ने एक प्रबन्ध-काव्य 'प्रेम-पथिक' और लिखा।

'प्रेम-पथिक' का कुछ अंश सन् १९०९ में इन्दु में प्रकाशित हुआ था। इसकी कथा काल्पनिक है, जिसमें प्रेम और पथिक का बड़ा सुन्दर वार्त्तालाप है। पुनः यह नवीन और पृथक् रूप में खड़ी बोली में 'चित्राधार' में संग्रहीत हुआ, परन्तु इसकी कथा भिन्न है। यह उपर्युक्त काव्यों से श्रेष्ठ है।

प्रसादजी ने बाईस निबन्धात्मक कविताएँ भी लिखीं जो चित्राधार के

'पराग' खण्ड में संग्रहीत हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम 'बकरी-विलाप एवं 'मुँह-दिखावनी' आदि ऐसी कविताएँ लिखी थीं। इनमें से 'शारदीय-शोभा', 'रसालमंजरी', 'प्रभातकुसुम', 'सन्ध्यातारा' और 'चन्द्रोदय' आदि कविताएँ इनके प्रकृति-प्रेम को व्यञ्जित करती हैं तथा 'नीरवप्रेम' और 'विस्मृत प्रेम' आदि प्रेम-भावना को। यद्यपि चित्राधार की बाईस कविताओं में से अन्तिम पन्द्रह 'काननकुसुम' के प्रथम संस्करण में, जो सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ था, विद्यमान थीं परन्तु बाद के संस्करण में इसलिए निकाल दी गईं कि वे ब्रजभाषा की थीं। 'पराग' की ये रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। इनमें 'रसाल-मंजरी' सर्वश्रेष्ठ कविता है। मलयानिल के प्रति निम्न दो पंक्तियों में कितनी सरलता एवं मधुरता है—

बरबस कुल-कामिनि अंचल को नाहिं उड़ाओ।
नव मुकुलित मंजरी अहै इत धीरे आओ॥

पराग की इन निबन्धात्मक रचनाओं के अतिरिक्त प्रसादजी ने **'शोकोच्छ्वास'** नामक एक ऐसी ही रचना ब्रजभाषा में और की। यह सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। यह सम्राट् एडवर्ड सप्तम की मृत्यु पर लिखी गई थी। इसके दो भाग हैं—'अश्रुप्रवाह' और 'समाधि-सुमन'। इसमें सब चौदह रोला छन्द है। यह रचना कोई महत्वपूर्ण नहीं।

चित्राधार में कुछ ब्रजभाषा की मुक्तक रचनायें भी हैं, जो उसके 'मकरन्द बिंदु' नामक खण्ड में संग्रहीत हैं। उनमें तेईस कवित्त, तीन सवैये और चौदह पद हैं। कवित्त एवं सवैयों की शैली रीतिकालीन एवं पदों की भक्ति-कालीन पद्धति पर आधारित है परन्तु उनमें वह परम्परा भारतेन्दुजी के माध्यम से आई प्रतीत होती है। इनकी इन कविताओं में राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का चित्रण न होकर कुछ में प्रकृति-वर्णन है, कुछ में शृङ्गार-वर्णन और कुछ में भक्ति का निरूपण है। ये कविताएँ भी साधारण हैं।

यद्यपि ये रचनाएँ उच्चकोटि की नहीं हैं, परन्तु पराग की कुछ कविताओं में हमें छायावादी अभिव्यञ्जनात्मक शैली का आभास मिलता है।

उपरिलिखित जिन रचनाओं का सूक्ष्म परिचय दिया गया है उन पर भारतेन्दु जी का प्रभाव था और वे ब्रजभाषा की कृतियाँ हैं। अब प्रसादजी की उन काव्य-कृतियों पर प्रकाश डाला जाता है जो खड़ी बोली की हैं और जिन पर द्विवेदी जी का प्रभाव है। यद्यपि प्रसादजी द्विवेदीजी के समय में थे और उन पर द्विवेदीजी का प्रभाव भी पड़ा परन्तु उनका कवि-मण्डल पृथक् ही

रहा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' पत्रिका निकालते थे, जिसमें प्रसादजी की दो-चार रचनाएँ ही प्रकाशित हुईं। उन्होंने काशी में 'इन्दु' नामक पत्र प्रकाशित कराया था और उसी में अपनी रचनाएँ देते थे। यह पत्र अपने समय का उच्च साहित्यिक पत्र था। इसने सरस्वती की भाँति हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया। प्रसादजी की अपनी देन छायावाद का प्रचार है।

प्रसादजी खड़ी बोली में कविता बहुत पहले लिखने लगे थे परन्तु उनका वास्तविक खड़ी बोली का रचनाकाल इन्दु के साथ ही साथ प्रारम्भ हुआ। उनकी चार काव्य रचनाएँ ऐसी हैं, जिन पर द्विवेदीजी का प्रभाव है परन्तु जिनमें रहस्य एवं चिन्तन की भावना प्रायः नहीं है। ये हैं 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक', 'करुणालय' और 'महाराणा का महत्व'। इन पुस्तकों में द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

'कानन-कुसुम' का प्रकाशन सन् १६१३ में हुआ। यह इसका प्रथम संस्करण था, जिसमें ४० मुक्तक कविताएँ थीं। इनमें १६ कविता ब्रजभाषा की थीं और २४ खड़ी बोली की। ब्रजभाषा की कविताएँ बाद में चित्राधार में संकलित कर दी गईं। इसका द्वितीय संस्करण सन् १६१८ में चित्राधार के प्रथम संस्करण के अन्तर्गत हुआ और तृतीय केवल खड़ी बोली की रचनाओं से युक्त सन् १६२६ में हुआ। इसमें सभी रचनाएँ नवीन रूप धारण करके प्रकाशित हुईं।

इसके प्रथम एवं द्वितीय संस्करण की ब्रजभाषा की कविताओं पर भारतेन्दुजी का प्रभाव स्पष्ट था। यहाँ तक कि भारतेन्दुजी के 'मधु-मुकुल' के समर्पण का ज्यों का त्यों भाव प्रसादजी के 'कानन-कुसुम' के समर्पण में मिलता है।

"हृदयवल्लभ !

यह मधु मुकुल तुम्हारे चरण-कमल में समर्पित है अंगीकार करो। इसमें अनेक प्रकार की कलियाँ हैं, कोई स्फुटित, कोई अस्फुटित, कोई अत्यन्त सुगन्धमय, कोई छिपी हुई सुगन्ध लिये, किन्तु प्रेम सुवास के अतिरिक्त और किसी गंध का लेश नहीं। तुम्हारे कोमल चरणों में यह कलियाँ कहीं गड़ न जायँ, यही सन्देह है। तथापि तुम्हारे बाग के फूल तुम्हें छोड़ और कौन अंगीकार कर सकता है, इससे तुम्हीं को समर्पित है।

तुम्हारा—
हरिश्चन्द्र।"

"प्रियतम !

जो उद्यान से चुन-चुनकर हार बनाकर पहनते हैं, उन्हें कानन-कुसुम क्या आनन्द देंगे ! यह तुम्हारे लिए है। इसमें रंगीन और सादे, सुगंध वाले और निर्गन्ध, मकरंद से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए, सभी तरह के कुसुम हैं। असंयत भाव से एकत्र किए गये हैं। भला ऐसी वस्तु को तुम न ग्रहण करोगे तो कौन करेगा ?

तुम्हारा—

प्रसाद।"

खड़ी बोली वाले संस्करण में कुछ कविताओं पर द्विवेदी जी का प्रभाव है तथा कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो इनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिणाम है और जिनमें छायावाद एवं रहस्यवाद की झलक है। 'गंगा सागर' एक ऐसी ही कविता है, जिसमें उस सागर से मिलने की इच्छा की गई है जो इस संसार का मूल स्रोत है। 'चित्रकूट', 'शिल्प-सौन्दर्य', 'वीर बालक', 'महाकवि तुलसीदास', 'श्रीकृष्णजयन्ती' आदि इतिवृत्तात्मक कविताएँ है परन्तु उनमें भी प्रसाद जी की अपनी छाप स्पष्ट दिखलाई देती है। यद्यपि इसमें इनकी आदि के बीस वर्ष की रचनाएँ हैं परन्तु उनमें विकास नहीं खोजा जा सकता क्योंकि यह संस्करण संशोधित और संवर्धित रूप है। अतः इसमें तो हमें सन् १९२८ का ही कवि दीख पड़ेगा। इसमें कुछ कविताएँ ऐसी हैं जो स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हैं, यथा—'नव वसन्त', 'मलिना', 'करुणा-कुंज', 'जलविहारिणी' और 'निशीथ-नदी' आदि। मलिना और जलविहारिणी के भावचित्र बड़े सुन्दर हैं।

'प्रेमपथिक' प्रबन्ध-काव्य है जिसमें भाव की प्रधानता है अतः यह कथा-प्रधान भावकाव्य कहा जा सकता है। यह अतुकान्त रचना है। इसका सर्व-प्रथम प्रणयन ब्रजभाषा में सन् १९०५ में हुआ था परन्तु तत्पश्चात् सन् १९१३ में खड़ीबोली में इसको परिशोधित एवं परिवर्द्धित कर दिया गया और सन् १९१४ में इन्दु में प्रकाशित किया गया। ब्रजभाषा वाले प्रेम-पथिक में छन्द की अनेकता भी थी परन्तु इस संस्करण में एक ही छन्द है और वह नवीन रूप में ढला हुआ कोई मात्रिक प्रतीत होता है जिसमें संगीतात्मकता पूर्णरूप से व्याप्त है। इसका कथानक गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' के अनुवाद रूप 'एकान्तवासी योगी' की भाँति बल्कि उससे भी अधिक कलात्मक और सरस है।

इसका कथानक इस प्रकार है। आनन्दपुर में दो पुरुष रहते थे। एक का पुत्र था किशोर और दूसरे की कन्या थी चमेली। दोनों बाल्यकाल से साथ-साथ खेलते-खाते थे अतः दोनों में परस्पर प्रेम हो गया। किशोर के पिता ने

मरने से पूर्व उसे लड़की के पिता को सौंप दिया और इस प्रकार वे दोनों एक ही घर में रहने लगे। प्रेम बढ़ता ही गया परन्तु पिता ने पुत्री का विवाह एक अन्य युवक से कर दिया। किशोर वह न सह सका और घर ने निकल कर वनों में घूमने लगा। एक दिन वह एक कुटिया में एक तापसी के पास पहुँचा और अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तापसी वही चमेली थी। उसने भी अपने दुःखमय वैवाहिक जीवन की कथा कह सुनाई। निदान दोनों परस्पर प्रेम से रहने का अरुणोदय देखने लगे।

इस कथा में प्रेम का स्वाभाविक एवं उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया गया है। इसमें कला का एक नवीन रूप दृष्टिगोचर होता है क्योंकि काव्य का अन्त प्रेममय जीवन के अरुणोदय में होता है।

प्रेम-काव्य होने के कारण इसमें प्रेम का बड़ा भव्य रूप चित्रित हुआ है। प्रेम का मार्ग बड़ा विचित्र है, इस पर पाँव फूंक-फूंक कर रखना होता है और इस यज्ञ में जो अपने स्वार्थों की बलि दे सकता है उसे ही इष्ट की प्राप्ति होती है—

पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम-यज्ञ में स्वाथ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

इसमें प्रेम का विराट् रूप लिया गया है, जो विश्व-प्रेम का प्रतीक है। विश्व प्रियतम का नाम है अतः प्रेम प्रियतम ही है और प्रियतम ईश्वर है—

प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ,
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जगभर में।
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से, क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।

× × ×

आत्म-समर्पण करो उस विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व प्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

यही प्रियतम ईश्वर सुन्दरतम है—

स्निग्ध, शान्त, गम्भीर महा सौन्दर्य सुधा-सागर के कण,
ये सब बिखरे हैं जग में विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।

इस प्रकार विश्व को प्रियतममय और प्रियतम को प्रेम और सौन्दर्यमय बतलाया है। बाइबल में भी लिखा है—'God is Love and Beauty'—

परमात्मा प्रेम और सौन्दर्य ही है। सूफी भी ऐसा ही मानते हैं। इससे रहस्यात्मकता पर भी प्रकाश पड़ता है, जो आगे चलकर प्रसाद जी में प्रौढ़ता को प्राप्त हुई।

इस काव्य में प्रतीकों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है, यथा—'चन्द्र' सुखमय जीवन का और 'मेघ' विरह-दुख का प्रतीक है। इससे प्रसाद जी की अभिव्यंजनात्मक शली का प्राथमिक रूप हमें इसमें देखने को मिलता है।

'करुणालय' एक गीति-नाट्य है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन इन्दु में सन् १९१३ में हुआ था, पुन: चित्राधार के प्रथम संस्करण में यह प्रकाशित हुआ और अन्त में सन् १९२८ में यह स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में छपा। यह तुकान्तहीन मात्रिक छन्दों में लिखा हुआ है। विराम वाक्य-समाप्ति पर दिए गये हैं। कहीं-कहीं इन विरामों ने गेयता में बाधा डाली है अत: अनेक स्थलों पर गीति का बन्धान नहीं। किन्तु गीति का प्राबल्य होने से यह गीति-प्रधान ही कहा जायगा। दृश्यों में विभक्त होने और नाटकीय ढंग का पुट रहने से इसमें नाट्य का आनन्द आता है। यह पाँच दृश्यों में विभक्त है, जिनमें एक कथा तारतम्य से लिखी हुई है। कथा इस प्रकार है—

अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र एक दिन सरयू में जल-विहार कर रहे थे। सहसा घोर गर्जन हुआ और नाव स्तब्ध हो गई। साथ ही ये शब्द सुनाई पड़े कि यह राजा मिथ्याभाषी है, इसने सुतबलि देना निश्चित किया था परन्तु न दी, अत: आज यह बचकर नहीं जा सकता। राजा ने त्रस्त होकर बलि देने का वचन दिया और नाव चल दी।

राजपुत्र रोहिताश्व इन्द्र के आश्वासन पर पिता के बलि-निश्चय से भीत होकर विदेश चला गया। वहाँ उसे अकाल-पीड़ित अजीगर्त्त और उसकी स्त्री तारिणी मिले। रोहिताश्व ने सौ गौओं के बदले में उनसे उनके पुत्र शुन:शेष को, जो वास्तव में विश्वामित्र और सुव्रता का पुत्र था और जिसे विश्वामित्र के वन में तप-निमित्त चले जाने पर दुखी माता ने अजीगर्त्त को सौंप दिया था और स्वयं राजदासता स्वीकार कर ली थी, मोल ले लिया। रोहिताश्व शुन:शेष को लेकर पिता के पास आया और अपने तर्कों से राजा को यज्ञ के लिए उद्यत किया। यज्ञ का आयोजन हुआ और शुन:शेष बलि के लिये लाया गया, परन्तु उसी समय विश्वामित्र पुत्रों सहित पधारे और सुव्रता भी आ गई। विश्वामित्र ने राजा एवं राजगुरु वशिष्ठ को समझाया और सुव्रता ने वास्तविक कथा कही तथा न्याय की याचना की। सब लोग चकित से रह गए। यज्ञ की क्रिया बिना नर-बलि के ही हुई।

इसमें वास्तव में जैन-बौद्धकाल से पूर्व यज्ञों में होने वाली नरबलि के विरुद्ध घृणा का प्रदर्शन है, जो प्रसाद जी पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव का परिणाम है।

यह साधारण कृति है, परन्तु इसमें रोहित एवं शुनःशेप का चरित्र-चित्रण बड़ा सुन्दर है। रोहित के शब्दों में नरबलि करने वाले मानव की अधमता पर प्रसाद जी की घृणा का प्रदर्शन देखिए—

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
हे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन भय तुझसे करवा रहे
कैसे असुर-कर्म ! अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना है ?

शुनःशेप के भी करुणोत्पादक शब्दों को सुनिए—

हाय ! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ।
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।

इस पुस्तक में रोहित के—

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है॥

इन शब्दों से कर्म का महत्व बतलाया गया है, परन्तु दुष्कर्म के विरुद्ध घृणा प्रदर्शित की गई है।

'महाराणा का महत्व' एक खण्ड-काव्य है। यह सर्वप्रथम सन् १९१४ में इन्दु में छपा था। पुनः सन् १९१८ में चित्राधार में संकलित हुआ और अन्त में सन् १९२८ में पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। यह भी अतुकान्त छन्दों में है। इस पर नाट्य-कला का प्रभाव स्पष्ट है, क्योंकि यह पाँच खण्डों में पाँच दृश्यों की भाँति विभक्त है। यद्यपि दृश्य नाटकीय ढंग पर नहीं है, परन्तु कथा में देश-काल का परिवर्त्तन सहसा कर उसी शैली को अपनाया गया है। दृश्य का परिवर्त्तन × चिह्न से सूचित किया गया है।

इसमें चित्तौड़ के राजकुमार अमरसिंह द्वारा अब्दुर्रहीम खानखाना और उनकी पत्नी का चित्तौड़ प्रदेश में पकड़े जाने, पुनः उनका महाराणा प्रताप के सामने लाए जाने, राणा द्वारा उनके ससम्मान लौटा देने और अन्त में खानखाना का प्रभावित होकर अकबर से अपनी फौजों को चित्तौड़ से वापस लौटा लेने का आदेश दिलवाने का नाटकीय वर्णन है।

यह रचना प्रौढ़ रचनाओं में से है। यद्यपि करुणालय भी श्रेष्ठ काव्य है, परन्तु यह उससे भी सुन्दर है। इसकी भाषा में प्राञ्जलता है। प्रेमपथिक में 'आँसू के बूंद' आदि अशुद्ध प्रयोग भी हैं, परन्तु इसमें ऐसा नहीं। इसमें प्रकृति-चित्रण भी सुन्दर हुआ है। रात्रि में चाँदनी-सुन्दरी का चित्र देखिए—

> तार हीरक-हार पहन कर, चन्द्रमुख—
> दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
> शाही महलों के ऊँचे मीनार से
> जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका—
> मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।

इस काव्य में एक आदर्श की स्थापना की गई है और वह है महाराणा की विशालहृदयता से निम्न उपदेश—

[खानखाना और उसकी पत्नी के सामने लाये जाने पर राणा का वचन]

> सिंह क्षुधित हो, तब भी तो करता नहीं,
> मृगया, डर से दबी शृगाली-वृन्द का।

अतः—

> शत्रु हमारे यवन उन्हीं से युद्ध है,
> यवनी गण से नहीं हमारा द्वेष है।

उपर्युक्त तीनों काव्यों में प्रसाद की स्वतन्त्र प्रवृत्तिवश रहस्यात्मकता के भी यत्र-तत्र दर्शन होते हैं, परन्तु इस काव्य में द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता सर्वत्र छाई हुई है।

'झरना' का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था। यह प्रसादजी की छायावादी कविताओं का प्रथम संग्रह है। इसके प्रथम संस्करण में केवल २५ कविताएँ थीं, पुनः द्वितीय संस्करण में तीन कविताएँ निकाल दी गईं और कानन-कुसुम की १२ कविताएँ जोड़ दी गईं। इस प्रकार द्वितीय संस्करण में ३४ कविताएँ थीं। ये सभी रचनाएँ १९१८ से पूर्व की हैं। १९२७ ई० में इसका तृतीय संस्करण निकला, जिसमें ५५ कविताएँ थीं। यही आज झरना का अपना रूप है।

इसमें छायावादी कविताएँ संग्रहीत हैं। द्विवेदी काल में इतिवृत्तात्मक शैली का बोलबाला था, जिसके अनुसार वस्तु का सहज वर्णन होता था एवं उसमें कल्पना की विचित्र चित्रपटी एवं भावाभिव्यञ्जना को कोई स्थान न था। इसकी प्रतिक्रिया हुई और उसका आधार था बँगला में रचित छायावादी

कविता। शुक्ल जी के अनुसार बँगला में छायावादी कविता वे कहलाईं जो पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantasmata) तथा योरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची गई थीं। इनके सर्वप्रथम रचयिता थे श्री रवीन्द्रनाथ। उनकी गीताञ्जलि में प्राचीन परम्परा का बाँध तोड़ दिया गया था और एक नई अभिव्यञ्जनात्मक शैली को अपनाया गया था। प्रकृति के पीछे एक चेतन विराट् सत्ता का आभास होने के कारण प्रकृति का सजीव-सा चित्रण करना दूसरी प्रमुख विशेषता थी। हिन्दी में भी यह शैली आई जिसके सर्वप्रथम प्रयोक्ता थे श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय। इसी शैली पर लिखी गई कविताएँ जिनमें वेदना का आधार नवीन स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति रहती थी, छायावादी कहलाईं। प्रसाद जी लिखते हैं—

"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की किसी सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अधिष्ठित किया गया। बाह्य उपाधि से हट कर आन्तर हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ।"

प्रसाद जी भी इसी शैली से प्रेरित हुए और उन्होंने सर्वप्रथम जो ऐसी कविताएँ लिखीं, वे झरना में संकलित हुईं। अतः झरना हिन्दी-साहित्य में छायावादी कविताओं का प्रथम संग्रह है। इन कविताओं में लाक्षणिक प्रयोग भी होते हैं और प्रतीकों का प्रयोग भी, इसीलिए अभिव्यञ्जना का सुन्दरतम रूप दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि सर्वत्र प्रतीकों से ही छायावाद का साज सजता हो ऐसा नहीं है। छायावाद की ही पराकाष्ठा रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती है क्योंकि छायावादी कवि अन्तरतम की गहराइयों में उतर कर रहस्य का उद्घाटन करने लगता है और उस विराट् चेतन शक्ति से अपना सीधा पवित्र सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

झरना की सभी रचनाएँ उच्चकोटि की नहीं हैं, उनमें अनेक साधारण कोटि की भी हैं। विषाद, वालू की वेला, प्रथम प्रभात, खोलो द्वार, किरण, अनुनय, बिखरा हुआ प्रेम, दीप, अव्यवस्थित और वसन्त की प्रतीक्षा आदि श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

'किरण' नामक कविता में **'किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन'** पंक्ति में किरणों को किसी अज्ञात जगत की विकल वेदना सी कहकर रहस्य की विवृत्ति की है। यह छायावाद की सुन्दर रचना है।

झरना की अधिकांश रचनाओं में कवि रहस्यात्मक भावना से ओत-प्रोत है। 'झालू की वेला' में दैन्यपूर्ण प्रश्नात्मक अनुनय तो देखिए—

आँख बचा कर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला!
कहाँ मिलोगे? किसी विजन में? न हो भीड़ का जब रेला।

'कब' नामक कविता में भी ऐसी ही जिज्ञासा है—

लम्बी विश्व कथा में सुख निद्रा समान इन आँखों में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी।

'स्वप्नलोक' और 'दर्शन' इनकी सुन्दर रहस्यात्मक रचनाएँ हैं। 'स्वप्न-लोक' की निम्न पंक्तियों में प्रियतम का नभ पर पवन-सहारे आना लिखा है—

आँख खोल देखा तो चन्द्रालोक से
रंजित कोमल बादल नभ में छा गए
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।

'मिलन' में प्रियतम के मिलन से मेदिनी पर स्वर्ग का सुख व्यञ्जित किया है—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से,
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा।

'वसन्त राका', 'झील में' और 'पावस प्रभात' प्रकृति-सम्बन्धी मनोरम रचनाएँ हैं। सारे रहस्य प्रकृति में ही अन्तर्निहित हैं, यह बात हमें इन कविताओं के प्रकृतिस्थ सौन्दर्य के साथ-साथ व्यञ्जित हुई ज्ञात होती है।

इस संग्रह में 'बिखरा हुआ प्रेम' सर्वश्रेष्ठ कविता है।

'आँसू' का प्रथम संस्करण सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था। परन्तु इसके द्वितीय सन् १९३२ के संस्करण में इसे ड्यौढ़ा कर दिया गया तथा उसमें क्रम परिवर्त्तन भी कर दिया गया। प्रसाद जी की यह सर्व-प्रथम ऐसी प्रौढ़ कृति थी जिसमें लोगों ने 'झरना' को झरते हुए देखा। इसके आँसुओं में वे पन्त के 'पल्लव' को भी भूल गये। इसमें अभिव्यंजना का मधुरतम रूप भी देखने को मिला और प्रेम-सम्बन्धी सुन्दर-से-सुन्दर उद्गार भी दीख पड़े।

आँसू का गूढ़तम रहस्य यह है कि कवि अपनी वेदना से विश्व-वेदना की अभिव्यक्ति तक पहुँचा है जिसमें वह वेदना से उद्गत आँसुओं के स्थान पर विश्व की कल्याण-कामना करता है। अन्तर्जगत के रहस्यों की उद्घाटना इसमें यत्र-तत्र ही दृष्टिगोचर होती है, वह भी खींच-तान से।

इसमें वेदना से उच्छलित आँसुओं की बाढ़ ने सभी को आप्लावित कर दिया। जिस सहृदय ने इसे पढ़ा, उसने वेदना ही पाई और वह भी स्थायी। अनेक व्यक्ति तो इसे पढ़कर वेदना के कवि बन गए। वास्तव में छायावाद का स्वर्णिम प्रभात 'आँसू' के ओस-बिन्दुओं के साथ ही प्रारम्भ हुआ, जिसने प्रकाश भी दिया और सजलता भी। इसमें समरसता का एक महान् सन्देश है।

आँसू का प्रारम्भ कवि की आत्म-वेदना से होता है। कवि अपने दुख से आँसू बहाता है परन्तु वह वेदना बढ़ते-बढ़ते विराट् रूप धारण कर लेती है और विश्व-वेदना में परिणत हो जाती है। अब कवि की स्थूल दृष्टि सूक्ष्मता धारण कर लेती है, 'मैं' विश्व में लीन हो जाता है, व्यष्टि समष्टि में समा जाती है।

इसमें एक भाव-सामंजस्य है और वेदना के विकास में एक क्रम है अतः किसी-किसी ने इसमें सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय का (सृष्टि के सौन्दर्य के साथ मिलन एवं विरह का) रूपक भी देखा है। यह सब उन्होंने प्रतीकों के अर्थ की खींच-तान करके ही किया है। वास्तव में इस काव्य में 'कामायनी' की भाँति रहस्य-रूपक नहीं है। इसमें प्रसाद जी के वेदनाजन्य भावों की सरस अभिव्यक्ति है, जिससे हृदय की प्यास बढ़ती भी है और घटती भी है। प्रसाद जी ने 'आत्मकथा' नामक कविता में अपने असफल प्रेम का चित्र खींचते हुए लिखा है—

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिल-खिला कर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।

× × ×

उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक के पन्था की।

इससे स्पष्ट है कि वे किसी अनुपम सुन्दरी के प्रेम-पाश में आबद्ध हो गये थे और एक दिन मधुर चाँदनी में जब वे मधुरालाप के पश्चात् आलिंगन में उसे आबद्ध करने लगे तो वह मुस्करा कर भाग गई। उसकी स्मृति वे जीवन में कभी न भूल सके। आँसू में ऐसे ही स्थूल प्रेम की अभिव्यक्ति है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

थी किस अनंग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि-सर की नव लहरी!

इसमें स्पष्ट ही शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण है। यद्यपि कहीं-कहीं—

इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।

आदि पंक्तियों में रहस्याभिव्यंजना है परन्तु वह एक स्थूल का चित्रण करते हुए सूक्ष्म की स्मृति-मात्र है। वास्तव में इसमें प्रसाद जी की अपने गत-जीवन की प्रतिध्वनि है जो विश्व के व्यापक-क्षेत्र में व्याप्त हो गई है। अतः यह इनका विरह-काव्य है जिसमें आशा और निराशा के मधुरतम चित्र दृष्टि-गोचर होते हैं। यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद जी ने द्वितीय संस्करण में प्रथम संस्करण की अनेक वर्त्तमान-कालिक क्रियाओं को भूतकाल का रूप दे दिया है, यथा—

बाँधा है बिधु को किसने इन काली जंजीरों से।
[प्रथम संस्करण]
बाँधा था बिधु को किसने इन काली जंजीरों से।
[द्वितीय संस्करण]

उपर्युक्त 'थी किस अनंग के धनु की' आदि उद्धरण में भी प्रथम संस्करण में 'थी' के स्थान पर 'है' था। 'वह' के स्थान पर भी 'यह' था। 'यह' पास का सूचक है और 'वह' दूर का। जीवन की मधुरतम वह घटना द्वितीय संस्करण के बहुत पहले घटी थी अतः इस संस्करण में यह परिवर्त्तन कर दिया गया है। उसी वियोग की पीड़ा आँसू बन कर हमारे सामने आई। प्रसाद जी स्वयं लिखते हैं—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

इस काव्य में वियोग-जन्य भावों का एक ताँता है जो एक सूत्र में पिरोया हुआ है। कवि को रह-रह कर स्मृति आती हैं और हृदय में—करुणा कलित हृदय में—असीम वेदना हाहाकार स्वरों में गरजती है। मन में प्रश्न उठता है, 'वह कहाँ गई?' तब उसकी प्रतिध्वनि क्षितिज में टकरा कर इतस्ततः घूमती रहती है। चेतना-सरिता में तरंगें उठती हैं, मन-मानस में हिलोरें उठती हैं और जी मिड़-मिड़ कर रह जाता है। परन्तु क्यों? अभाव-युक्त शून्यवत शून्य हृदय बार-बार यही कहता है, ऐसा क्यों है? कारण ज्ञात

होते हुए भी प्रेमी का यह प्रश्न उसकी विकलता के प्राबल्य को ही व्यंजित करता है।

उसके हृदय में स्मृतियों की एक बस्ती-सी बस गई है, जहाँ विरहाग्नि ने आग लगा दी है। उसमें दृग-जल का ईंधन है और चलती हुई श्वासें वायु का काम करती हैं। हृदयगत प्रणय-समुद्र में वाडवज्वाला प्रज्ज्वलित हो गई है अतः तन, मन, आँखें सभी तो विकल हैं। किसी ने मन का सुख हर लिया है—कभी चाहें करवटें बदलती हैं, कभी सुप्त व्यथा जग पड़ती है, सुख तो सपना बन गया है और नींद में भी पलकें आँसुओं से भीगी रहती हैं। प्रेयसी की क्रीड़ाएँ मादक थीं, पर अब तो हृदय को हिलाने वाली प्रेम की पीड़ा रह गई है। कवि को निराशा है कि उसकी व्यथा-कथा को कोई सुनता भी नहीं।

आज उसी की स्मृति आँसू बन गई है। कवि पूछता है—"क्या तुम मेरी इस करुण कहानी को सुनते हो।" और कहता है कि मेरे हृदय में तूफान उठ रहा है। कभी-कभी इसी व्यथा के बीच स्मृति की मधुर झलक रस बरसा जाती है। प्रियतम कितना ही निष्ठुर हो परन्तु प्रेमी को वह सर्वथा सुन्दरतम ही दिखलाई देता है। प्रसाद जी के अन्तरतम से भी यही शब्द निकलते हैं—

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-संगी
कल्याण कलित इस मग के।

× × ×

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

कवि को पुनः अतीत की स्मृति हो आती है और 'मधु राका मुसक्याती थी' कहकर पुनः उस पयश्वेत चाँदनी से प्लावित माधवी निशा का दृश्य सम्मुख आ जाता है। ध्यान आता है कि उसके शुष्क जीवन में पतझड़ था परन्तु उसने उसे हरा-भरा कर दिया। वह—

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी

आई। वह अनुपम कला का सौंदर्य, जिस पर विश्व का सारा सौंदर्य राई की भाँति न्यौछावर किया जा सकता था, उसके निस्सीम हृदय-गगन में छा गया। इसके पश्चात् कवि उसके मुख के विविध भागों की प्रशंसा करता है और सोचता है कि वह मुक्त अतएव शिथिल लावण्य-चाँदनी उसके मिलन-कुञ्ज में फिर न सोयेगी। अब उसके न रहने से हृदय-कमल शुष्क हो गया है—उसमें न मधुर मधु है, न पराग। उसकी पंखुड़ियाँ भी मुरझा गई हैं। हृदय का सौरभ काफ़ूर हो गया है और अब उसमें केवल विस्मृति है, मादकता है और मूर्च्छना है। हीरे-सा दृढ़ हृदय मला गया है और अब उसमें जलती हुई अग्नि से धूमिल पटल छा गया है। तड़पन के अतिरिक्त अब उसमें कुछ भी शेष नहीं रह गया है। जो विष की प्याली पी थी वह नयनों में मदिरा बन गई है। प्रियतम मादकता की भाँति आया था परन्तु चेतना लेकर चला गया। अब तो इन्द्रधनुष की-सी सतरंगी स्मृति ही अवशिष्ट रह गई है। वही स्मृति कभी हृदय में रस-वर्षा कर देती है और कभी मोतियों के ढेर लुटा जाती है। मलयानिल के चलने पर कभी उसी का स्पर्श जानकर कवि सिहर उठता है, कभी उसकी प्रतीक्षा में व्यर्थ आकाश के तारे गिनता रहता है। उसे पता नहीं था कि इस सुख में दुख भी आ जायगा। कवि इतना थक गया है, इतना विकल है कि सारा संसार उसे सूना और बीहड़ दीख पड़ता है। वह पूछता है—

> **नाविक ! इस सूने तट पर**
> **किन लहरों में खे लाया**
> **इस बीहड़ बेला में क्या**
> **अब तक था कोई आया ?**

अब उसका—

> **डूबा है हृदय मरुस्थल**
> **आँसू नद उमड़ रहा है।**

कवि सच्चे प्रेमियों की भाँति उसका पता लगाने सौरभ बन नभ में भी घूमना चाहता है और दीन-हीन की भाँति गिड़गिड़ा कर दूरगत प्रियतम से याचना करता है—

> **सब सुमन मनोरथ अंजलि**
> **बिखरा दी इन चरणों में,**
> **कुचलो न कीट-सा, इनके**
> **कुछ हैं मकरन्द कणों में।**

अब विकलतावश उसकी वेदना विराट्रूप लेने लगी और उसे अपना दुख प्रकृति में भी दीख पड़ा—

क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा की मृदु पलकों में
हाँ! उलझ रहा सुख मेरा
सन्ध्या की घन अलकों में।

यही दुख विश्व को ग्रसित करता-सा दीख पड़ा और उसे ऐसा भान हुआ—

नचती है नियति नटी-सी
कन्दुक क्रीड़ा-सी करती
इस व्यथित विश्व आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती।

और चौदह भवनों में उसे सुख कहीं न दिखलाई दिया और बोला—

"विश्राम कहाँ जीवन में!"

यद्यपि उसकी याद उसे उस समय भी जलाती है जब स्निग्ध निशा में विश्व निद्रा-विभोर होता है, तथापि उसे उसके प्रकाश में शान्ति भी मिलती है और संसार के लिए भी मंगलमय उजाले के साथ अपने जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला का वरदान माँगता है—

निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला!

अन्त में कवि पुनः एक बार उन्मादवश आह्वाहन करता है—

इस स्वप्नमयी संसृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मङ्गल किरणों से रंजित
मेरे सुन्दर तम जागो।
अभिलाषा के मानस में
सरसिज की आँखें खोलो
मधुपों से मधु गुंजारो
कलरव से फिर कुछ बोलो।

परन्तु प्रत्युत्तर न पाकर अन्त में कहता है कि तुमने देखा होगा कि सूखी सरिता का हृदय उसके फूलों में वैसा ही लीन रहता है और सूनी कुटिया का दीपक एकाकी जलता हुआ अन्त में बुझ जाता है। एकाकी जीवन इसी प्रकार समाप्त हो जाता है। अतः कम से कम—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

इस प्रकार इस काव्य में हम विरही प्रसाद की प्रेमोद्गत भावनाएँ ही चित्रित हुई देखते हैं। प्रसादजी का हृदय उस आघात को न सहकर तरल हो आँसू के रूप में बह गया है। इसमें प्रेमी के कोमलतम एवं मधुरतम भावों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति हुई है। कविता अतीत की मधुर स्मृति में ही तो फूटती है। प्रसाद जी—

'जो घनीभूत पीड़ा थी'—इत्यादि कहकर यही तो व्यंजित करते हैं।

इसमें अपनी पीड़ाभिव्यक्ति के साथ विश्व की चिन्ता भी है अतः भावना के साथ चिन्तन भी है। इस प्रकार प्रेमी कवि कहीं-कहीं दार्शनिक हो गया है जो प्रेमियों के लिए स्वाभाविक है। प्रसादजी की इस भावाभिव्यक्ति में हम साधारण भाव पाते हैं जो प्रत्येक प्रेमी के मानस में तरंगित होते हैं। परन्तु साधारण प्रेमी और प्रसाद जी में यह अन्तर है कि ये कवि भी हैं। अतः इनका भाव-प्रकाशन कवि-कला की शाण पर चढ़कर ही हुआ है, जिससे साधारण जन के लिए दुरूहता-सी प्रतीत होती है। किन्तु यह दोष नहीं कहलाया जा सकता क्योंकि सच्चे प्रेमियों के उद्गार कवि के उद्गारों से कम नहीं होते। उसमें भी यदि प्रेमी विद्वान् हुआ तो उसके भावों में भी गाम्भीर्य होगा ही अतः इसमें बुद्धितत्व प्रधान नहीं है, हृदयतत्व ही प्रधान है। यों तो यह एक विप्रलम्भ शृंगार का काव्य है परन्तु कहीं-कहीं अतीत की मीठी स्मृति में सम्भोग का सा सुख मिलता है, यथा—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुखचन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।

इस काव्य में नख-शिख का वर्णन अनुपम ढंग से हुआ है। उसके अलकावृत आनन की एक छवि देखिए—

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ?

उसकी काली आँखें नीलम की प्याली हैं—

काली आँखों में कितनी
यौवन मद की लाली
मानिक मदिरा से भरदी
किसने नीलम की प्याली।

अरुण अधरों के बीज खचित दशन विद्रुम-सीपी के संपुट में रक्खे मोती के दानों से कम नहीं—

विद्रुम सीपी संपुट में
मोती के दाने कैसे ?

इस नखशिख-वर्णन में प्राचीन परम्परा का अनुसरण नहीं है। नवीन उद्भावनाएँ हैं और नवीन कला के अलंकरण हैं।

इसमें प्रकृति का चित्रण है परन्तु स्वतन्त्र रूप में नहीं और न उद्दीपन के रूप में ही है वरन् वह भी सहभोगी के रूप में चित्रित हुई है अतः शान्तिकर है, यथा—

परिचय राका-जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।
मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को।

इस काव्य पर सूफी काव्य का प्रभाव दीख पड़ता है क्योंकि फारसी कविता में प्रेमी प्रियतमा को पुल्लिग में ही पुकारते हैं। प्रसाद जी भी सर्वत्र पुल्लिग का ही प्रयोग करते हैं—

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे।
× ×
मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे। इत्यादि।

इस काव्य में लाक्षणिक शब्दों का बड़ा प्रयोग हुआ है, यथा—'विद्रुम सीपी संपुट' से तात्पर्य अधर-संपुट से तथा 'मोती के दाने' से तात्पर्य दाँतों से है। 'विधु' का प्रयोग मुख एवं 'काली जंजीरों' का प्रयोग अलकों के लिए हुआ है। 'पतझड़' जीवन की शुष्कता को लक्षित करता है और 'बसन्त' सरसता को। 'स्फुलिंग' तप्त आँसुओं के लिए और 'मदिरा' मादकता के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन सब ने विरहोद्भव सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति में बड़ा योग दिया है।

अलंकारों में उपमा का वैभव बड़े विचित्र रूप में बिखरा हुआ दिखलाई देता है। कुछ अनोखी किन्तु सुन्दर उपमाएँ देखिए—

(अ) हीरे सा हृदय हमारा।

(ब) जल उठा स्नेह, दीपक-सा।

(स) मकरन्द मेघमाला सी
वह स्मृति मदमाती आती।

(द) मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे।

(ह) आकाश-दीप सा तब वह
तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

रूपक की योजना भी नवीन परिधान में हुई है—

(क) शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग-जल का।

(ख) इस हृदय-कमल का घिरना
अलि-अलकों की उलझन में।

(ग) मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के।

(घ) तिरती थी तिमिर उदधि में
नाविक ! यह मेरी तरणी।

इस पर्यालोचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि 'आँसू' एक बहुत ही उत्कृष्ट विरह-काव्य है, जिसमें भाषा की प्राञ्जलता, भावों की सुन्दर अभिव्यंजना, विरह-वेदना के प्रकाशन में एकसूत्रता, मनोरम अलंकार-योजना और सर्वोपरि माधुर्य और प्रसाद गुणों की स्निग्धतम चाँदनी की छिटकन अपने उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित हुई हैं। यह एक छोटी-सी सरस सुधा-वापी है, जिसमें तैरता-उतराता मानस-मराल डुबकियाँ ले-लेकर भी अघाता नहीं है। प्रसाद जी की कृतियों में

कामायनी' के पश्चात् इसी का स्थान है और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विरह-काव्यों में व्यंजना की दृष्टि से यह अनुपम है।

'लहर' आँसू के पश्चात् सन् १९३३ में हमारे समक्ष आई। यद्यपि इसमें कुछ 'झरना' के समय की भी रचनाएँ हैं परन्तु वास्तव में समूचे ग्रन्थ को देखने पर कहना पड़ता है कि वह आँसुओं की ही लहर है। परन्तु यह लहर दुखदाई नहीं है। कवि प्रेमी था, उसका यौवन सुख और सौन्दर्यपूर्ण था, जिसमें एक चन्द्रानना ने अपनी कनकलता जैसी कायवल्ली की रस-सुधा से मादकता भर दी थी। वह आनन्दविभोर हो गया था परन्तु अधर से लगाने से पूर्व ही वह छलना से छला गया और फिर कभी उसे न पा सका। उसने जीवन-यात्रा एकाकी की भाँति प्रारम्भ करदी, कभी-कभी स्मृति हो आती तो वह कुछ लिख लेता। 'आँसू' ऐसी ही रचनाओं का संग्रह था। परन्तु अपने जीवन की संध्या तक पहुँचते-पहुँचते उसका आँसू नद बन गया, जिसमें लहरों का ज्वार आने लगा अतः 'लहर' में प्रेम और सौन्दर्य की व्यंजना व्यापक क्षेत्र में हुई है और अनेक स्थलों पर कवि रहस्यात्मक जगत् में विहार करता हुआ दीख पड़ता है। कहीं-कहीं श्रान्त की भाँति संसार से भाग जाने की इच्छा भी दृष्टिगोचर होती है। अतः इसमें विरह, मिलन एवं त्याग के बड़े सुन्दर उद्गार हैं। उपेक्षा, संयम और साथ-साथ चांचल्य भरा उल्लास भी हमें दिखलाई देते हैं। यही कारण है कि इसमें 'आँसू' की भाँति एक भावसूत्रता नहीं है वरन् विचित्र भावों के चित्र अंकित हुए हैं।

'आह रे, वह अधीर यौवन' और **'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे'** आदि में गत यौवन की मधुर स्मृतियाँ हैं। **'हे सागर संगम अरुण नील'** वाली कविता में रहस्य की भावना का आभास मिलता है। रहस्यात्मक रचनाएँ केवल चार-पाँच हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ ऐसी है जिनमें अतीत के चित्र हैं। **'अरी वरुणा की शान्त-कछार'** और **'जगती की मंगलमयी उषा'** में भगवान् बुद्ध की पूत भावना को चित्रित किया है। 'अशोक की चिन्ता', 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' कविताएँ इतिहास की कथाओं पर आधारित हैं।

इसमें कवि का हमें प्रगतिवादी रूप भी दिखलाई देता है, परन्तु कवि वहाँ भी छायावाद की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सका है, यथा—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा-नागरी।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस-गागरी ॥

इस गीत में प्रकृति का मधुरतम आलंकारिक अंकन है, जिसके माध्यम से जागरण का कितना सुन्दर और विचित्र ढंग अपनाया गया है। इसमें पन्त जी का रूखा प्रगतिवाद नहीं।

कामायनी

संक्षिप्त कथा—हिमालय के उन्नत शिखर पर बैठे हुए मनु प्रलय का दृश्य देख रहे थे। सारी पृथ्वी जल-मग्न हो गई थी। प्रलय की भीषणता देख-देख कर वे **चिन्ता**-निमग्न हो रहे थे। उनकी नौका पास ही बँधी खड़ी थी। प्रलयकालीन समुद्र की बाढ़ ह्रास को प्राप्त हो रही थी। प्रकृति निखर कर प्रलय-द्वन्द्व से मुक्त होने लगी थी और मनु शान्त भाव से सोच रहे थे कि चिन्ता ही दुख की मूल है, चिन्ता विश्व-वन की व्याली है। चिन्ता करते हुए उन्हें सहसा अपने को अमर कहने वाले देवों के विनाश का दृश्य स्मृत हो आया कि किस प्रकार उनका (देवों का) विलास, वैभव और आमोद-प्रमोद सभी कुछ नष्ट हो गया था। यह सोच ही रहे थे कि पुन: जल में बाढ़ आने लगी। भीषण जलोत्पात होने लगा। उसमें तारे भी बुदबुदों के समान दीख पड़ते थे। मृत्यु का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। पुन: कुछ काल पश्चात् जल-प्लावन घटने लगा और मनु को **आशा** बंधी।

काल-रात्रि समाप्त हो चुकी थी अत: प्रकृति-वधू हास-पूर्ण हो गई थी। परन्तु चेतन-जगत अब भी भयभीत था। मनु को भगवान् की विराट्-शक्ति पर विश्वास होने लगा। उन्होंने जी कर अपने कर्त्तव्य का निश्चय किया और वहीं एक गिरि-गुहा में रहने लगे। वे तपश्चरण करने लगे और पुन: यज्ञ-होमादि में प्रवृत्त हुए। यह सोच कर कि सम्भवत: उन्हीं की भाँति कोई और भी प्रलय से बच गया हो, वे होम का बचा हुआ अन्न पृथक् रख देते। शनै:-शनै: मानवीय इच्छाओं से वे अभिभूत होने लगे।

एक दिन सहसा कामगोत्रोत्पन्ना **श्रद्धा** वहाँ आई और उसने मनु से पूछा—"हे सुन्दर पुरुष तुम कौन हो ?" इस मधुर ध्वनि से विकम्पित हो मनु ने उत्तर दिया—"मैं रहस्यमय जीवन से युक्त एक व्यक्ति हूँ जो पतनोन्मुख तारे के समान भ्रान्त हुआ चक्कर काट रहा हूँ। मैं विक्षिप्त सा होकर सब

कुछ भूलता जा रहा हूँ। भला, तुम कौन हो, जो इस पतझड में वसन्त के सुकुमार दूत के समान आई हो।" श्रद्धा ने उत्तर दिया—"मैं गन्धर्व देश की कन्या हूँ। मैं ललित-कला का ज्ञान सीखने के लिए घर से निकली थी परन्तु एक दिन सहसा समुद्र में ज्वार आ गया, मैं तभी से एकाकी भटक रही हूँ। यहाँ यज्ञान्न को देख कर सोचा कि अवश्य ही कोई मनुष्य होगा और मैं चली आई। तापस ! तुम निराश चिन्तामग्न से क्यों हो ? तुम मांगलिक काम का तिरस्कार कर जीवन को निष्फल बना रहे हो। जिसे तुम संसार के दुखों का मूल समझते हो वही तो सत्य है।" मनु ने कहा—"तुम सत्य कहती हो परन्तु मैंने जीवन की अशक्ति देख ली है, इसमें निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" श्रद्धा बोली कि जीवन में हार मानना ठीक नहीं। तप जीवन में सत्य नहीं वरन् जीवन का सुख आकांक्षाओं में निहित है। यह सारा विश्व प्रकृति के वैभव से भरपूर है। यहाँ कर्म का भोग और भोग का कर्म होता ही रहता है। तुम अकेले यज्ञ किस प्रकार करते हो ? तुम यत्न से हीन हो अतः चाहो तो मैं सहचरी होकर सहायता करूँ। मैं आज से सर्वथा तुम्हारी हूँ और अपना जीवन तुम्हें अर्पित करती हूँ। तुम डरो नहीं, जीवन आकर्षण का केन्द्र है, समृद्धि तो इसमें स्वयं खिच आवेगी। मानवता की विजय हो यही मेरी कामना है।

श्रद्धा के मधुरालाप एवं आत्म-समर्पण से मनु में काम का संचार हो गया। उन्हें सौन्दर्य में आकर्षण जान पड़ा और बोले कि तुमने मेरे सूखे जीवन-मरुस्थल में रस-सरिता प्रवाहित कर दी है। मेरे कानों में कोई मधुर-मधुर रस घोल रहा है। वे धीरे-धीरे चेतना खोने लगे और स्वप्न-लोक में बिहार करने लगे।

मनु की काम-वासनाएँ प्रबल हो गईं। उनके हृदय में यह ध्वनि गूँजने लगी—"मेरे ही संकेत से दैवी-विधान चल रहा था। मैं काम ही तो उनके जीवन की स्फूर्ति था, मैं ही तो उनके विनोद का मुख्य कारण था। रति मेरी सहचरी थी। हम दोनों की ही प्रेरणा से विश्व में युग्म-विधान हुआ। संसार का संचालक मैं ही तो हूँ।"

काम ने मनु और श्रद्धा पर जादू कर दिया। श्रद्धा रति-काम की ही कन्या थी। मनु के कानों में ध्वनि आई कि तुम इसके योग्य बनो। मनु जागृत हो गये और सोचने लगे कि हे भगवन् ! क्या मैं इसके योग्य हो सकता हूँ। उत्तर न पाकर जब मनु ने नेत्र खोले तो देखा कि पूर्व दिशा लालिमा से रंजित हो गई थी।

दो हृदय परस्पर मिलने के लिए आतुर होने लगे और **वासना** ने उद्दाम रूप धारण कर लिया। श्रद्धा के साथ एक पशु भी आ रहा था। मनु के कानों में काम के शब्दों ने अमृत भर दिया था अतः काम-वासनावश उन्होंने श्रद्धा से अनेक प्रश्न पूछे। श्रद्धा भी मनु का हाथ पकड़ कर खिलखिला पड़ी। मनु के बिजली सी दौड़ गई, उन्हें वह अनुपम सुन्दरी दीख पड़ी और अपने को सर्वतः उसको सौंप दिया। इस समर्पण से श्रद्धा **लज्जा** के वश में हो गई।

मनु की कामोद्दीपना और श्रद्धा की लज्जा का मनमोहक प्रसंग प्रवर्तित हो रहा था कि सहसा किलात और आकुली नाम के राक्षस वहाँ खड़े हुए पशु को देख कर ललचाने लगे। ये दोनों भी प्रलय-विप्लव से बच गये थे। वे उस कुंज के द्वार पर आये जहाँ मनु और श्रद्धा नूतन सृष्टि का उपक्रम करने के लिए चिन्तित बैठे थे और मनु को यज्ञ-**कर्म** करने के लिए संकेत किया। मनु को पुरोहित की आवश्यकता थी अतः उन्होंने (राक्षसों ने) प्रवंचना कर स्वयं ही पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। यज्ञ किया गया, पशु-बलि भी दी गई परन्तु श्रद्धा इस जघन्य कर्म से सन्तुष्ट नहीं हुई। वह रुष्ट होकर गुहा में चली गई और सो गई। यह देख कर मनु बड़े खिन्न हुए और वे भी गुहा में गये। सुप्त श्रद्धा के सौंदर्य ने उन पर जादू कर दिया और वे मन्द-मन्द स्पर्श करने लगे। श्रद्धा की तनु-यष्टि अंकुरित हो गई परन्तु मान-वश उसने अपना रोष प्रकट कर दिया। मनु ने उसे समझाया परन्तु श्रद्धा ने यही कहा कि दूसरे प्राणियों की रक्षा का ध्यान हमारा परम कर्त्तव्य है। मनु कामातुर थे अतः उन्होंने श्रद्धा को सामयिक वचन दिया और साथ ही सोमरस का पात्र भी।

मनु के हृदय में श्रद्धा के प्रति उपेक्षा-सी होने लगी। वे जीवन में नवीनता चाहने लगे और मृगया में ही लीन रहने लगे। श्रद्धा की प्रेम-भरी चेष्टाओं में अब उनके लिए कोई आकर्षण न रह गया। श्रद्धा भी समझ गई अतः वह अब अन्न-चयन एवं तकली कातने में ही समय बिताने लगी। एक दिन श्रद्धा गुहा-द्वार पर मनु की बाट जोह रही थी, दिन ढलने पर मनु आये परन्तु कुछ न बोले। गर्भवती श्रद्धा ने कातरभाव से कहा—"आप दिन भर कहाँ भटकते रहते हो? आखेट ही आपको प्रिय है। पक्षी-युग्म अपने शावकों के साथ नीड़ों में आनन्द मनाते हैं और मैं हतभाग्या एकाकी जीवन बिताती हूँ।" मनु ने उत्तर दिया—"श्रद्धे! तुम अन्न-चयन में लगी रहती हो या फिर तकली कातने में। मैं कुछ अभाव-सा अनुभव करता हूँ। बताओ, तुम्हारी उपेक्षा में क्या रहस्य है।" मनु के हृदय में किसी ओर बढ़ते हुए श्रद्धा के अनुराग से **ईर्ष्या** जाग्रत हो गई। श्रद्धा उनका हाथ पकड़ कर गुहा में ले **गई और**

उन्हें सुमन-सज्जा एवं पालना दिखाया । वह बोली, "आप आखेट में लगे रहते हैं, एक दिन बच्चे के कलरव से यह गुहा-मन्दिर भी सरस हो जायगा ।" मनु उपेक्षा से बोले, "बधाई है तुम्हारे सुख पर परन्तु तुम में यह द्वैत कैसा ? मैं अब यहाँ प्रेम का भिक्षुक बनकर न रहूँगा । तुम अपने सुख में सुखी रहो और मैं अपने दुख में दुखी रहूँगा ।" यह कह कर वे अन्य स्थान को चले गए और श्रद्धा वहीं रह गई ।

यहाँ से चल कर मनु सारस्वत प्रदेश में पहुँचे । उन्हें श्रद्धा के परित्याग का दुख था, अतः अत्यन्त म्लान थे । सहसा उस निर्जन में उन्हें अनग की वाणी सुनाई दी कि मनु ! श्रद्धा ने तुम्हें अपना हृदय दिया था परन्तु तुमने उसे परित्यक्त कर दिया और शाप दिया कि तुम्हारा प्रजातन्त्र सन्ताप-ग्रस्त रहेगा और तुम भी कभी शान्ति न पा सकोगे । शाप की ध्वनि समाप्त हो गई परन्तु मनु को विकल बना गई । इसी समय सहसा उन्होंने एक मधुर वाणी सुनी और एक सुन्दरी को देखा, जिसने अपना नाम **इड़ा** बताया । मनु ने अपना नाम बताते हुए उससे जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का मार्ग पूछा । उसने उन्हें जड़ीभूत जीवन में चेतनता लाने की प्रेरणा दी । मनु उसकी सम्मति से अत्यधिक प्रभावित हुए और कृतज्ञता प्रकट की ।

इधर श्रद्धा के पुत्र उत्पन्न हो गया था । एक दिन वह मनु के **स्वप्न** में मग्न थी कि बालक का शब्द सुनाई दिया और पुनः उसे चिपटा कर सो गई । उधर मनु इड़ा के प्रेम-पाश में आबद्ध हो गये । उन्होंने उससे बलात्कार करना चाहा । श्रद्धा ने इसे स्वप्न में देखा और वह जग पड़ी । वह बालक को लेकर मनु की खोज में चली ।

प्रजा मनु के इस कर्म से रुष्ट थी। एक क्रान्तिपूर्ण **संघर्ष** की लहर उठ खड़ी हुई । मनु ने उसका दमन करना चाहा परन्तु इड़ा ने उन्हें समझाया । इस पर इड़ा गुहा में जाने लगी परन्तु मनु ने द्वार रोका । सहसा सिंह-द्वार टूट गया । प्रजा के नायक थे किलात और आकुलि । मनु ने भीड़ को रुकता न देखकर बाण-वर्षा की परन्तु विक्षत होकर गिर पड़े ।

रणक्षेत्र घायलों से फटा पड़ा था । मनु को घायल पड़ा देखकर इड़ा को बड़ा क्षोभ हो रहा था । उसी समय मनु को खोजती हुई श्रद्धा भी वहाँ आ गई । विक्षत मनु को देखकर उसे बड़ा दुख हुआ । मनु भी दुखी हुए । माँ और पुत्र की परिचर्या से मनु शीघ्र ही स्वस्थ होने लगे । मनु ने श्रद्धा से कहीं दूर चलने के लिए कहा परन्तु श्रद्धा ने उनकी दुर्बलता के कारण स्वीकृत न किया। मनु को **निर्वेद** हो गया था अतः एक रात वे चुपके से उठ गये । प्रातः इडा

और श्रद्धा ने जब उन्हें न देखा तो वे अत्यन्त दुखी हुईं।

श्रद्धा कुमार को सान्त्वना देकर इड़ा के पास छोड़ गई और उसे राज-धर्म के पालने के लिए शिक्षा दे स्वयं मनु की खोज में निकल पड़ी। एक स्थान पर उसने मनु को देखा। मनु कृतज्ञता से भर गये। उन्होंने श्रद्धा को साथ ले लिया। और भगवान् के ध्यान में निमग्न रहने लगे। एक दिन उन्होंने उस जगदीश्वर की भव्य मूर्त्ति के दर्शन किए और श्रद्धा से कहा, "श्रद्धे ! तू मुझे उन चरणों तक ले चल, वहीं अखण्ड समरस आनन्द है।"

मनु और श्रद्धा वहाँ से चल दिए। वे उच्च हिमानी प्रदेश में चले जा रहे थे कि सहसा मनु को क्लान्ति का भान हुआ और बोले, "श्रद्धे ! मैं श्रान्त और क्लान्त हो गया हूँ। दुर्बल तो मैं हूँ ही अब न चल सकूँगा।" श्रद्धा ने सम्बल देते हुए कहा कि घबड़ाओ मत, हम सम प्रदेश में आ गये हैं। मनु ने आँखें खोलीं तो देखा कि वे एक ऐसे प्रदेश में चले जा रहे थे जहाँ न भू थी और न नक्षत्र-ग्रह आदि। वह एक रहस्यमय प्रदेश था, जहाँ तीन दिशाओं के संसार में तीन ही प्रकाश दीख पड़े। मनु ने उन तीन आलोक बिन्दुओं के विषय में पूछा तो श्रद्धा ने कहा कि वे इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सीमा-बिन्दु थे। इनमें प्रथम वह स्थान था, जहाँ से मनोमय विश्व रागारुण चेतना की उपासना करता है, माया विश्व के प्राणियों के लिए अपना पाश फैलाती है और जिसकी भाव-मृत्तिका पुण्य-पाप की जननी है। द्वितीय श्रान्त कर्म-चक्र से युक्त कृष्ण प्रदेश है, जहाँ सर्वदा संघर्ष, कोलाहल और विकलता का राज्य रहता है और समृद्धि और सुयश मृग-मरीचिका के समान हैं। तीसरा ज्ञान का भव्य प्रदेश है जो पुंजीभूत रजत के समान है और जहाँ समरसता है, सभी न्याय एवं तपश्चरण में लीन हैं और अजर-अमर से जीवन का रस माँगते रहते हैं। इन्हीं तीन बिन्दुओं से प्रकाशमान त्रिपुर है।

एक यात्री-दल अपनी पूर्ण सज्जा के साथ पार्वतीय प्रदेश में आ रहा था। इड़ा इसमें एक युवक के साथ थी जो धर्म के प्रतिनिधि बैल के ऊपर सोमलता लादे चल रहा था। बच्चे थक गये थे। किसी ने कहा कि अब न चलो, यहीं ठहरो। इड़ा ने कहा, "अभी तीर्थस्थान आने वाला है जो एक मनस्वी का साधना-स्थल है। उसकी पत्नी भी उसी की खोज में आई थी और वे दोनों यहीं बैठे संसार का हित-चिन्तन करते हैं।" किशोर ने पूछा कि यह बैल क्यों लाई हो। इड़ा ने उत्तर दिया कि यह धर्म का प्रतिनिधि है, हम इस जीवन-घट को अमृत से पूर्ण करेंगे और इसकी बलि देंगे। थोड़ी देर पश्चात् ढालू भूमि आई। मनु यहीं मानस-तट पर बैठे ध्यान में मग्न थे। इड़ा

ने मनु को देखा और उनके चरणों पर गिर पड़ी और बोली कि में स्वयं भ्रान्त थी और सबको भ्रम में डाल रही थी। मनु ने कैलाश की ओर संकेत करते हुए कहा कि देखो वहाँ दुख-सुख नहीं है, आनन्द ही आनन्द है और समरसता का अखण्ड साम्राज्य है एवं द्वैत का अभाव है और एक ही तत्व है। कामायनी आनन्द में निमग्न थी। तत्पश्चात् सभी सच्चिदानन्द में डूब गए।

कथा की पृष्ठभूमि—मनु मन्वन्तर अर्थात् मानवता के नवयुग-प्रवर्त्तक के रूप में भारतीय आर्य-साहित्य में प्रसिद्ध रहे हैं अतः वैवस्वत मनु ऐतिहासिक पुरुष हैं। कुल्लू के उत्तरी छोर पर मनाली में मनु का एक प्राचीन मन्दिर आज भी विद्यमान है। इस काव्य की कथा जल-प्लावन से प्रारम्भ होती है और जल-प्लावन का प्रसंग शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय से आरम्भ होता है, जिसमें उनकी नाव का हिमालय के गिरिप्रदेश में पहुँचने का उल्लेख है। वहाँ जलोद्रेक की समाप्ति पर मनु जिस स्थान पर उतरे थे उसे मनोरव सर्पण कहते हैं।

"अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रातिबध्नीष्व, तं तु त्वा मागिरौ सन्त मुदकमन्तश्चेत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्-तावत तावदन्ववसर्पसि इति सह तावत् तावदेवान्ववससर्प तदप्येत्-दुत्तरस्य गिरेर्मनोखसर्पणमिति।"

(शतपथ ब्राह्मण ८—१)

बैबिलोनिया, सीरिया, अरब एवं मिस्र आदि देशों के धर्म-ग्रन्थों एवं बाइबल में भी जल-प्लावन का वर्णन आया है।

उपर्युक्त प्रलयकालीन जल-प्लावन में उच्छृंखल देवों का विलासपूर्ण जीवन-व्यापार समाप्त हो गया। कुछ थोड़े ही व्यक्ति बचे, जिनमें मनु के अतिरिक्त श्रद्धा, इड़ा तथा किलात और आकुली नामक दो असुर आदि थे। श्रद्धा के सहयोग से मनु ने मन्वन्तर की प्रवर्त्तना की। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की भाँति मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में मनु को श्रद्धादेव कहा गया है—"**श्रद्धादेवो वै मनुः** (काण्ड १ अ० १)। इस श्रद्धा को सायणाचार्य ने "**कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका**" लिख कर कामगोत्रोत्पन्ना बतलाया है अतः वह कामायनी भी कहलाती है। इन्हीं मनु और श्रद्धा से सृष्टि का आरम्भ हुआ ऐसा भागवत में लिखा है—

> **ततो मनुः श्राद्धदेवः सञ्जायामास भारत।**
> **श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्॥**
>
> (६-१-११)

छान्दोग्य उपनिषद् में मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती

है—"**यदा व श्रद्धधाति अथ मनुते वाऽश्रद्धधन् मनुते ।**" जल-प्लावन के पश्चात् मनु ने श्रद्धा के साहचर्य से उसी गिरि-प्रदेश में नूतन सृष्टि का उपक्रम किया। इसके लिए यज्ञ का विधान हुआ । शतपथ ब्राह्मण में मनु को सर्वप्रथम अग्नि-होत्री लिखा भी है—

"**मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे, यदनुकृत्येमाः प्रजाः यजन्ते ।**" (५—१)

इस प्रथम यज्ञ में किलात और आकुली नामक दो असुर पुरोहित बने—

"**किलाताकुली—इति हासुर ब्रह्मावासतुः । तो होचतुः श्रद्धादेवो वै मनुः—आवं नु वेदावेति । तौ हाऽगत्योचतुः मनो । बाजयाव त्वेति ।**"

इस यज्ञ से मनु में देव-प्रकृति जाग्रत हो गई और उनका इड़ा से परिचय होने पर श्रद्धा के प्रति उपेक्षाभाव हो गया । मनु और इड़ा के मध्य निम्न वार्त्तालाप शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—

"**तां ह मनुरुवाच—का असि ?**"

"**तव दुहिता इति ।**"

अर्थात् मनु ने पूछा, 'तुम कौन हो ?' श्रद्धा ने उत्तर दिया कि मैं तुम्हारी पुत्री हूँ । इस पर मनु ने पुनः प्रश्न किया कि तुम मेरी पुत्री कैसे हो । श्रद्धा ने कहा क्योंकि मेरा पोषण तुम्हारे हविरूप दधि-घृत आदि से हुआ है ।

ऋग्वेद में इड़ा को मनु की पथप्रदर्शिका और मनुष्यों पर शासनकर्त्री लिखा है—"**इडामकृण्वन्मनुदस्य शासनीम् ।**', (१-३१-११)

ऋग्वेद में इड़ा से सम्बन्धित और भी मंत्र मिलते हैं—

"**सरस्वती साधयन्ती धियं न इडा देवी भारती विश्वतर्तिः ।**
तिस्रो देवीः स्वधया र्वाह रेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य । (२-३-८)
"**आनो यज्ञं भारती तूयमेत्विड़ा मनुष्यदिह चेतयन्ती ।**
तिस्रो देवीर्वर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ।" (१०-११०-८)

इन मंत्रों में सरस्वती और भारती के साथ इड़ा का नाम भी आया है और उसे बुद्धि का साधक कहा है। लौकिक संस्कृत में तो इड़ा बुद्धि को कहते ही हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मनु ने श्रद्धा के सहयोग से सृष्टि का उपक्रम किया और इड़ा की सहायता से बुद्धि का विकास कर राज्य की स्थापना की ।

इड़ा के आकर्षण से श्रद्धा के प्रति उपेक्षा हो गई और मनु इड़ा पर बलात्कार कर बैठे, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें देवों का कोपभाजन बनना पड़ा और दण्ड-भागी होना पड़ा । शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है—

"तद्वै देवानां आग आस।"
"तं रुद्रो ऽ भ्यावत्य विव्याध।"

इस प्रकार मनु, श्रद्धा और इड़ा तीनों ही ऐतिहासिक महत्व रखते हैं परन्तु इनसे सांकेतिक अर्थ भी निकलते हैं, यथा मनु से मन, श्रद्धा से श्रद्धा और इड़ा से बुद्धि अतः इस कथा में रूपक भी है। श्रद्धा और इड़ा को मन का क्रमशः हृदय और मस्तिष्क पक्ष भी कह सकते हैं।

इड़ा मनु (मन) और श्रद्धा के बीच सदैव बाधा डालती रहती है इसीलिए मानव दुख पाता रहता है।

इसी सब के आधार पर प्रसाद जी ने कामायनी की कथा-सृष्टि की है।

कथा में रहस्यात्मक रूपक—अभी कहा गया है कि मनु मन का, श्रद्धा श्रद्धा की और इड़ा बुद्धि की प्रतीक है। इनको लेकर जो कथा-सृष्टि हुई है, उसमें मनोभावों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण हुआ है। प्रकृति के प्रारम्भ से ही मानव-हृदय में अनेक भावों का संघर्ष होता आया है। जीवन का आरम्भ जिस भाव से होता है और पुनः जिन भावों का क्रमिक विकास होता है तथा अन्त में जीवन की सुन्दरतम समाप्ति जिस भाव में होनी चाहिए, उन्हीं भावों का क्रमशः चित्रण इस काव्य में है।

इस काव्य में ये पन्द्रह सर्ग हैं—चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द।

मनुष्य का जीवन चिन्ता से ही प्रारम्भ होता है क्योंकि अपना एवं अन्य जनों का विनाश प्रायः उसे विपन्न बनाता रहता है। जब विनाश, विप्लव एवं उपद्रव की घड़ी टल जाती है तो उसमें नवीनता के लिए आशा का संचार होता है और श्रद्धा एवं विश्वास के बल पर वह आगे बढ़ता है। अधिक श्रद्धा (श्रद्धा का प्रेम) उसमें आत्म-विश्वास के आधिक्य का कारण होती है अतः वह विलासी हो जाता है। विलास-प्रियता काम को उद्दीप्त करती है जिससे हृदय में वासना का स्थायी वास-सा हो जाता है। किन्तु श्रद्धा की मधुर चेतना लज्जा की उद्भाविका होती है और वह कर्म में निरत होता है। कर्म-लीन व्यक्ति स्वार्थान्ध हो जाता है और उसमें स्वभावतः ईर्ष्या उद्गत हो जाती है। अब मनुष्य का हृदय काम नहीं करता और इड़ा (बुद्धि) सतर्क हो जाती है। इसके सहारे वह भव्याभव्य स्वप्न (भावस्वप्न) देखता है और इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त घोर संघर्ष करता है और यहाँ तक कि वह अनधिकार चेष्टा एवं बलात्कार भी कर बैठता है। किन्तु जब कामना पूर्ण नहीं होती तो श्रान्त हुआ निर्वेद को प्राप्त करता है। श्रद्धा उसे पुनः सम्बल देती है और वह आत्म-

दर्शन प्राप्त करता है और तदनन्तर विराट् की रहस्यमय लीला से परिचित होता है, जिसका ज्ञान उसके अपरिमित आनन्द का कारण बनता है। इस अवस्था की परमावधि पैर मनुष्य को परम आनन्द और परम शान्ति ही अनुभूत होती है और उसे ज्ञान होता है—

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

कामायनी की दार्शनिकता—मन निसर्गतः चञ्चल एवं विलास-प्रिय है। जब मनुष्य का विलास छिन्न-भिन्न हो जाता है तो उसकी अवचेतना लुप्त-प्राय हो जाती है परन्तु परिस्थिति के सुधरते ही वह पुनः विलास की ओर दौड़ता है। विलास में काम-भावना श्रद्धा के बिना अमर्यादित एवं असंयत हो जाती है। श्रद्धा इसे संयत रखती है, श्रद्धा का सहारा मानव-मन के लिए एक सम्बल है। भोग-विलासों में मग्न मन को श्रद्धा ही उद्धृत करती है। मन पुनः पुनः विषयों की ओर दौड़ता है और जब श्रद्धा को बाधक पाता है तो इड़ा (बुद्धि) का आश्रय लेता है। बुद्धि सतर्क रहती है परन्तु वह उससे अनुचित लाभ उठाना चाहता है और यहाँ तक कि उससे कामना-पूर्त्ति के लिए बलात्कार भी करता है। इसी को बुद्धि-व्यभिचार भी कहते हैं। बुद्धि मन का ही मस्तिष्क पक्ष है। अतः वह उसकी पुत्री है। पिता का पुत्री पर यह बलात्कार प्रकृति भी नहीं सहती और उसे मुँह की खानी पड़ती है। ऐसी आहत अवस्था में श्रद्धा पुनः अपने भव्य रूप में आकर उसे मार्ग दिखाना चाहती है परन्तु अब वह श्रद्धा और इड़ा दोनों का ही परित्याग कर देता है, इससे उसे कोई सान्त्वना नहीं मिलती। अन्त में श्रद्धा ही उसे मार्ग पर लाती है और उसे चिद्दर्शन कराती है। इड़ा भी श्रद्धा के समक्ष नतमस्तक हो जाती है। इस प्रकार श्रद्धा के सम्बल एवं इड़ा के सहयोग से मानव-मन सिद्धि प्राप्त करता है और उसे शिव के दर्शन होते हैं। शिव से तात्पर्य तत्व-दर्शन से है, जिसमें परमानन्द निहित है। श्रद्धा ही आनन्द की विधायिका है। इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वय आनन्द-प्राप्ति के लिए परमावश्यक है। इनका पार्थक्य ही महान् दुख है। यही त्रिपुर है, जिसका भेदन करने से शिव त्रिपुरारि कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इनकी भेद-बुद्धि दूर हो जाने पर शिव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और अमृत-तत्व की प्राप्ति होती है।

इस काव्य में शैव तत्वज्ञान की प्रधानता है, जिसके अनुसार सारा विश्व

आनन्दमय है। सृष्टि की उत्पत्ति आनन्द से होती है और स्थिति एवं समाप्ति भी आनन्द में ही होती है। आनन्द एवं मंगल तत्व शिव ही है। शिव के पाँच रूप हैं—स्रष्टा, संहारक, दिगम्बर, मंत्रविद् ऋषि और नटराज। इस काव्य में इन पाँचों के दर्शन हमें मिलते हैं। विश्व-सृजन में वह अपनी शक्ति से काम लेता है। वह स्वयं आनन्द के रूप में और शक्ति प्रकृति के रूप में सृष्टि में व्यक्त है। कामायनी में नूतन सृष्टि का विधान इसी शक्ति के बल पर हुआ है। उसका दूसरा रूप है संहारकर्त्ता। इस काव्य में संहार का भीषण रूप तो प्रारम्भ में ही हमें दीखता है। दिगम्बर रूप हमें अनन्त की नील लहरों पर आसनासीन हुआ दृष्टिगोचर होता है, मंत्रविद् रूप कैलाश पर और नटराज दर्शन सर्ग में जहाँ मनु उन्हें देखकर विस्मय-सागर में गोते खाने लगते हैं।

शिव के इन पाँचों रूपों में आनन्द का विधान है या यों कहिए कि ये आनन्द के उद्भावन के लिए ही हैं। इसी आनन्द की उपलब्धि मनुष्य का परम लक्ष्य है। कामायनी में भी इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए मनु का प्रयत्न है। वे विप्लव के पश्चात् मन्वन्तर की जो सृष्टि करते हैं उसमें आनन्द का विधान ही तो प्रमुख है। इसमें श्रद्धा मनु को सहारा देती है। सृष्टि में आनन्द-पथ से भ्रष्ट करने वाली आसुरी शक्ति सतत प्रयत्न करती रहती है। कामायनी में भी किलात और आकुली नामक दो असुर मनु को उन्मार्ग पर ले जाते हैं। श्रद्धा मनु (मन) की इस चेष्टा से रुष्ट हो जाती है परन्तु अन्यमनस्क नहीं। हाँ मनु अवश्य विमुख हो जाते हैं और इड़ा (बुद्धि) का सहारा लेते हैं। उसके सम्पर्क से मनु (मन) पुनः संघर्ष करते हुए अनेक कष्टों का सामना करते हैं। अन्त में श्रद्धा ही सहारा देती है, इड़ा भी उसके समक्ष घुटने टेक देती है और तभी मनु (मानव-मनु) को शिव-दर्शन होते हैं।

इस शिव-दर्शन की प्राप्ति कोरे बुद्धिवाद से नहीं होती। प्राञ्जल बुद्धि और श्रद्धा की शक्ति ही मानवीय चेतना को इतना उठाती है कि वह भेद-विहीन हो जाती है। कर्म, भाव (इच्छा) एवं ज्ञान के त्रैत को बिद्ध करके ही चेतना-शर लक्ष्य तक पहुँचता है और तभी मानव को इष्ट-सिद्धि होती है। पुराणों में भी शिवजी त्रिपुर का भेदन करके ही सृष्टि में आनन्द का विधान करते हैं।

संदेश—कामायनी से हमें जो संदेश मिलता है, उसके कई रूप हैं। मानव श्रद्धा के बिना अशक्त है। उसके बिना वह उसी प्रकार आधा है, पंगु है जिस प्रकार नारी के बिना नर। श्रद्धा के चरित्र से नर के जीवन में नारी का महत्व भी प्रदर्शित किया गया है।

श्रद्धा के बिना कोरी बुद्धि पथभ्रष्ट-कारिका होती है। यद्यपि उसका

सतर्क रूप भी लुभावना होता है और मनुष्य उस पर इतना आसक्त होता है कि बुद्धि-व्यभिचार से भी नहीं चूकता, परन्तु यह उसके लिए शान्ति का कारण नहीं होता प्रत्युत् अपार दुःखों का साधन बन जाता है। श्रद्धा ही जब सहारा देती है तो बुद्धि भी परिष्कृत हो जाती है तथा पंगु मनुष्य श्रद्धा और इड़ा रूप वैशाखियों से अग्रसर होता है और तभी उद्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचता है। सुबुद्धि समाज के विकास का एक प्रधान कारण है, इस प्रकार इसमें परिष्कृत बुद्धि का भी महत्व स्वीकार किया गया है। भारतीय अध्यात्म में ज्ञान की प्रधानता तो रही है परन्तु विकसित बुद्धिवाद का माहात्म्य स्वीकार करना नवीन युग की चेतना का ही प्रभाव है, वैज्ञानिक युग की देन है।

हमें अनेक स्थलों पर इस युग के दर्शन इस काव्य में होते हैं। कर्म-लोक के वर्णन में हमें आधुनिक युग की झाँकी मिलती है—

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल, प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण-भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया-तंत्र का।

× × ×

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती;
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर-फिर गिरवाती।

मनु के नगर-वर्णन में भी आधुनिकता की गन्ध आती है—

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी हैं सभी बने,
दृढ़ प्राचीरों में मन्दिर के द्वार दिखाई पड़े घने;
वर्षा धूप शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुए,
खेतों में हैं कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम-स्वेद सने।

इसके अतिरिक्त गान्धीवाद का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। मनु की उपेक्षा में श्रद्धा तकली चलाती है—

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ;
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।

जहाँ अन्य कवि संध्या-सुन्दरी को विचित्र परिधानों एवं अलंकारों से सुशोभित करते हैं वहाँ प्रसाद जी उसे छींट उढ़ाते हैं—

सन्ध्या घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट ।

इस आधुनिकता की झाँकी में से हम यह सन्देश पाते हैं कि साम्य का विधान हो, जीवन में ऋजुता हो और विवेकशीलता हो जिससे संसार में विप्लव की शान्ति हो और आनन्द का विस्तार हो ।

एक संदेश नारी-विषयक भी है । नारी नर की शक्ति है । जिस प्रकार सृष्टि में आनन्द की विधायिका शिव-शक्ति है उसी प्रकार नर के जीवन को सक्रिय एवं सानन्द बनाने वाली नारी है । नारी और नर में पूर्य-पूरक भाव है । नारी के बिना नर अधूरा है और नर के बिना नारी अतः विश्व-संचालन में दोनों का समान महत्व है । श्रद्धा और इड़ा क्रमशः नारी के दो रूपों के प्रतीक हैं—एक स्थिर दूसरा अस्थिर । श्रद्धा मनु-कुमार (मानव) से इड़ा के समीप रहने के लिए आदेश देते समय जो कुछ कहती है उससे भी हमें यही ज्ञात होता है कि इड़ा (बुद्धि) तर्कमय अर्थात् अस्थिर है । परन्तु मानव श्रद्धामय होने से विवेकशील है । उसका कर्त्तव्य है बुद्धि को शान्त कर संसार में समरसता एवं प्रेम का प्रचार करना—

यह तर्कमयी. तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप-निचय,
हर ले, हो मानव-भाग्य-उदय;
सब की समरसता का प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।

इसमें समरसता से परोक्षतः साम्य की स्थापना भी प्रतिध्वनित होती है । कामायनी से हमें यह भी सन्देश मिलता है कि संसार में काम-विवर्जित होना ही श्रेय नहीं । संसार कर्मक्षेत्र है परन्तु उसमें श्रद्धा और विवेक को खोना नहीं चाहिए । सदिच्छा-पूर्वक दुराचारों को त्यागकर ज्ञान के आलोक में जो कर्म किये जाते हैं वे आनन्द के विधायक होते हैं । अन्त में इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वय इसी बात को व्यक्त करता है । जीवन का अन्तिम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है अतः मनुष्य को उपर्युक्त रीति से ही रहना चाहिए । इसी से वह स्वजीवन में और विश्व-जीवन में भी आनन्द के स्रोत बहा सकता है ।

कामायनी में महाकाव्यत्व—संस्कृत के रीति-आचार्यों के अनुसार महाकाव्य में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(क) नायक धीरोदात्त हो और वह श्रेष्ठ कुलोत्पन्न हो।

(ख) नायिका भी तदनुकूला हो।

(ग) कथा का विस्तार नायक के अधिकांश जीवन को व्याप्त करता हो।

(घ) कथा सर्गों में विभक्त हो और सर्ग आठ से अधिक हों।

(ङ) वर्णन में प्रकृति, रण, विवाह आदि का वर्णन आवश्यक है।

(च) रसों की योजना में शृंगार, वीर अथवा शान्त प्रमुखतः होने चाहिए।

(छ) प्रत्येक सर्ग में छन्द-भिन्नता भी हो।

(ज) जीवन के सभी रूपों पर प्रकाश डाला गया हो।

(झ) उद्देश्य महान् हो और उसकी परिसमाप्ति सुखमय हो।

इन लक्षणों में से हमें कामायनी में सभी मिलते हैं। मनु धीरोदात्त नायक हैं। उनकी प्रसूति दैवी है। उनमें समय-समय पर जो दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे तो स्वभाव-जन्य हैं परन्तु मनु ने उन पर विजय पाई है यही उनकी उदात्तता है। श्रद्धा के समक्ष आत्म-समर्पण कोई दुर्बलता नहीं क्योंकि यहाँ कवि ने नर-नारी का आधुनिक एवं उज्ज्वल सम्बन्ध ही समक्ष रखा है। श्रद्धा तदनुकूला नायिका है। कथानक मनु के जीवन में सृष्टि के प्रलयकाल से लेकर उनके परिणय, पुत्रोत्पत्ति, दीर्घ संघर्ष एवं उनके पुत्र मानव द्वारा नूतन सृष्टि के उपक्रम तक विस्तृत है। यह सम्पूर्ण कथा पन्द्रह सर्गों में विभक्त है।

इसमें स्थान-स्थान पर प्रकृति-वर्णन भी हुआ है। श्रद्धा और मनु का प्रेम परिणय विवाह ही है। सामरिक वर्णन भी इसमें मिलता है। मनु और प्रजा के संग्राम का वर्णन बड़ा ही ओजपूर्ण है।

शृंगार, वीर और शान्त रसों की योजना भी इसमें यथास्थान हुई है। श्रद्धा एवं मनु और मनु एवं इड़ा के प्रेम-प्रसंग में शृंगार की बड़ी अनूठी अभिव्यक्ति हुई है। संग्राम में वीररस की व्यंजना भी दर्शनीय है। और निर्वेद और आनन्द सर्गों में शान्त रस की अभिव्यञ्जना भी बड़ी सुन्दर है।

सर्गों में छन्द-योजना भी विभिन्नता को लिए हुए है।

इसमें मानव-जीवन के प्रायः सभी रूपों का अंकन हुआ है। इसमें

भव्य-जीवन की स्थापना का महान् उद्देश्य है और उसका पर्यवसान आनन्द में ही हुआ है।

इस प्रकार इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं परन्तु हमें अन्ध-विश्वासी की भाँति पुरानी कसौटी पर ही एकान्ततः नहीं कसना चाहिए। प्रसाद जी ने सभी लक्षणों की योजना करते हुए भी उसको नवीन रँग में रँग दिया है। वर्णन, अभिव्यंजना शैली एवं वस्तु और अलंकार-विधान आदि सभी में नवीनता है, जिसका निर्देश हम काव्य-सौष्ठव में करेंगे।

कामायनी में काव्य-सौष्ठव—रामचरित-मानस के पश्चात् कामायनी ही एक ऐसा महाकाव्य है जो अपनी समता नहीं रखता। अभिव्यंजनात्मक शैली का यह उत्कृष्टतम आदर्श है और प्रसाद जी के काव्य-कला-विकास की यह पराकाष्ठा है। चिन्तनप्रधान काव्य होने पर भी भाषा का लालित्य, उसमें लाक्षणिक प्रयोग तथा उसका विचित्र समलंकरण आदि गुण एवं भावों की मनोरम अभिव्यक्ति और एक निर्बाध संगीतात्मकता इस काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। कथानक में रहस्यात्मक रूपक का निर्वाह और वह भी सरस एक ऐसी विशेषता है जो अदृष्टपूर्व है।

शृंगार एवं वीरादि रसों का चित्रण क्रमशः बड़ा ही मधुर एवं ओजपूर्ण है। कामायनी के समक्ष मनु के वासनाग्रस्त हृदय की द्रवित अवस्था तो देखिये—

मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?
आज क्यों सन्देह होता रूठने का व्यर्थ;
क्यों मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ !
धमनियों में वेदना-सा रक्त का संचार;
हृदय में है काँपती धड़कन लिये लघु भार।

इसमें दैन्य, अधैर्य, वैकल्य, औत्कण्ठ्य एवं विस्मय आदि भावों की कैसा सुन्दर योजना हुई है।

इसी प्रकार कामायनी की विरह-वेदना भी दर्शनीय है—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ !

वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।

जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये;
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाये।

इसमें कामायनी का विरह-जनित रूप विविध प्रकार से वर्णित हुआ है। यह उल्लेख अलंकार का अदृष्टपूर्व उत्कृष्ट उदाहरण है।

निम्न पद्य में इड़ा के नखशिख का वर्णन भी परम्परा की कारा से दूर नूतन शैली से हुआ है—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम, शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिए,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए।
त्रिबली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल॥
चरणों में थी गति भरी ताल।

मनु और प्रजा के मध्य हुए रण का वर्णन वीररस का बड़ा ओजपूर्ण सजीव चित्र है—

अंधड़ था बढ़ रहा, प्रजा दल था झुँझलाता,
रण वर्षा में शस्त्रों सा बिजली चमकाता।
किन्तु क्रूर मनु वारण करते उन बाणों को,
बढ़े कुचलते हुये खड्ग से जन प्राणों को।
तांडव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।
मनु फिर रहे अलात-चक्र से उस घन तम में,
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निर्मम में।

इसी प्रकार प्रलय-वर्णन आदि में भयानक आदि रसों की भी बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। जल-प्लावन के दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

लहरें व्योम चूमती उठतीं,
चपलायें असंख्य नचतीं;
गरल जलद की खड़ी झड़ी में,
बूँदें निज संसृति रचतीं।
चपलायें उस जलधि, विश्व में,
स्वयं चमत्कृत होती थीं;
ज्यों विराट बाड़व ज्वालायें,
खंड-खंड हो रोती थीं।

रसों के चित्रण में माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों की योजना बड़ी ही रम्य है, जैसा कि हमें उपर्युक्त उद्धरणों में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त वर्णनों के अतिरिक्त इसमें प्रकृति-चित्रण बड़े सजीव, सुन्दर एवं नूतन ढंग से हुआ है। कामायनी के प्रारम्भ में ही प्रकृति का भीषण रूप हमें दृष्टिगोचर होता है—

पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल-निपात
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ, खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
बार-बार उस भीषण रव से, कँपती धरती देख विशेष
मानो नील व्योम उतरा हो, आलिंगन के हेतु अशेष।
उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी
चली आ रहीं फेन उगलतीं, फन फैलाये व्यालों-सी।

इस भयावह रूप की शान्ति पर प्रकृति का शान्त एवं रम्य रूप भी हमें आशा सर्ग के प्रारम्भ में दीख पड़ता है—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में, शरद विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग पराग।
धीरे-धीरे हिम-आच्छादन, हटने लगा धरातल से
जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं, मुख धोती शीतल जल से।
नेत्र-निमीलन करती मानो, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने
जलधि लहरियों की अँगड़ाई, बार-बार जाती सोने।
सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में, मान किये-सी ऐंठी-सी।

चाँदी-सी जगमगाती रात का एक लघु चित्र कैसा सुन्दर है—

धवल मनोहर चन्द्र-बिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

सन्ध्या को एक स्थान पर वे छींट का परिधान ओढ़े हुए लिखते हैं—

सन्ध्या घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट,
गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार-किरीट।

प्रसाद के प्रकृति-चित्र बड़े ही सजीव हैं। उनमें स्फूर्ति होती है और होता है सुषमा का साम्राज्य। निम्नांकित एक मादक चित्र से भला कौन न मन्त्र-मुग्ध-सा हो जायगा—

नव नील-कुञ्ज हैं झीम रहे
कुसुमों की कथा न बन्द हुई;
है अन्तरिक्ष आमोद भरा
हिमकणिका ही मकरन्द हुई।
इस इन्दीवर से गन्धभरी
बुनती जाली मधु की धारा
मन-मधुकर की अनुरागमयी
बन रही मोहिनी-सी कारा।

इस महाकाव्य-सागर में से ऐसे अनेक चित्र-रत्न निकाल कर सम्मुख रखे जा सकते हैं। अब इसमें प्रयुक्त अलंकारों पर तनिक दृष्टिपात करते हैं। प्रसाद जी को सबसे प्रिय है उपमा। उनकी रम्यतम उपमाओं का एक गुच्छा नीचे दिया जाता है—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप-सी मतवाली।

× × ×

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल
× × ×
कुसुम-वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।
× × ×
नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
× × ×
पहेली-सा जीवन है व्यस्त।
× × ×
बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।
व, विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल।

इन उपमाओं में साकार सुन्दरतम रूप में, निराकार सुन्दरतम साकार-रूप में और अजीब मनोहर सजीव रूप में चित्रित हुए हैं।

रूपक का विचित्र रूप-वैभव भी निम्न पद्यों में दर्शनीय है—

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल-रेखा !

इसमें चिन्ता को अभाव की चपल-बालिका और ललाट की खल रेखा आदि बनाया गया है। एक स्थान पर रजनी को विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी कह कर मधुर कल्पना को साकार रूप ही दे दिया है—

विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से—

सरिता और शैलों में नारी एवं नर का आरोप भी निम्न उद्धरण में कितना हृदयहारी है—

भजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

इस काव्य में विविध छन्दों की योजना भी प्रसंगानुसार ही हुई है। यद्यपि इसमें अलंकारों एवं छन्दों की नैसर्गिक छटा से कला का उत्कृष्ट रूप हमें दृष्टिगोचर होता है तथापि हम इसे भाव-प्रधान काव्य ही कहेंगे। इसमें ऐतिहासिक कथानक के साथ रहस्यात्मक रूपक की योजना एक प्रमुख विशेषता है। चिन्तन-प्रधान काव्य होने से भाषा और भाव में गाम्भीर्य भी पर्याप्त है परन्तु विरसता का लेशमात्र भी नहीं है। इसमें मधुरता का मधुरतम रूप, सरसता का सरसतम नृत्य और वातावरण में तरंगित मसृणता का पेशलतम विलास अपनी उत्कृष्ट आकृति के साथ प्रस्तुत हुए है। कल्पना-परियाँ रंग-बिरंगे परों में हमें तैरती दिखलाई देती हैं, तथा व्यंजना का अभिभावक रूप भी हृदय को रंजित किए बिना नहीं रहता। अमूर्त्त पदार्थों में भी मूर्त्त उपमाओं एवं रूपकों का विधान प्रसाद की सूक्ष्म चामत्कारिक काव्य-शक्ति का परिचायक है। साथ-साथ जीवन की अनुभूतियों की यह एक विचित्र चित्र-शाला है। इसका उद्देश्य भी महान् है जिसकी उपलब्धि में प्रसाद जी यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़े हैं।

प्रसाद की नाटकीय कला—

प्रसाद जी की रचनाओं से प्रतीत होता है कि उनका जीवन-विकास दार्शनिक के रूप में क्रमशः हुआ। वे एक गम्भीर चिन्तन-प्रिय एवं सुविचारक थे। उन्हें अतीत बड़ा प्रिय था और वे उसमें अन्तःप्रकाश देखते थे जो भविष्य को आलोकित करता आया है और करता रहेगा। भारत की आर्य संस्कृति की उपासना में उनकी यही श्रद्धा उन्हें प्रेरणा देती रही। अतएव वे उसके गायक, चित्रक एवं वर्णन-कर्त्ता और प्रचारक रहे।

उनके प्रायः सभी नाटक अतीत के चित्रों से युक्त अतः उज्ज्वल इतिहास की आधारशिला पर खड़े हैं। वास्तव में वे प्राचीन आर्य-संस्कृति के संस्मारक हैं। 'कामना' और 'एक घूँट' ही प्रतीकात्मक नाटक है और उनमें ऐतिहासिक तत्व नहीं। शेष 'राज्यश्री,' 'विशाख,' 'अजातशत्रु,' 'जनमेजय का नागयज्ञ,' 'स्कन्धगुप्त,' 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि सभी ऐतिहासिक हैं। परन्तु इन्हें केवल इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ ही समझना उपयुक्त नहीं, इनके पात्रों के चरित्र आदर्श हैं और वे इस प्रकार चित्रित किए गए हैं कि वे सार्वकालिक से प्रतीत होते हैं। उनमें हमें मानव-जीवन के विविध रूपों की झाँकी मिलती है।

उनसे प्रस्तुत आदर्श भारतीयों के लिए ही अनुकरणीय नहीं है वरन् विश्व के लिये अनुकरणीय है। भिन्न-भिन्न नाटकों में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण मौलिक होते हुए भी वास्तविकता से रिक्त नहीं है और वह उस समय की व्यक्तिगत चेतना का प्रदर्शक एवं वातावरण का प्रकाशक है।

इनके ऐतिहासिक नाटकों के नायक एवं नायिका प्रसिद्ध राजवंशों से सम्बन्ध रखते हैं। केवल 'विशाख' का नायक एक स्नातक है। इनमें से 'राज्यश्री' और 'ध्रुवस्वामिनी' के नाम नायिका पर रक्खे हुए हैं और शेष के नायकों के नाम पर।

कहा जा चुका है कि प्रसाद जी चिन्तनप्रिय थे और थे एक दार्शनिक परन्तु नाटकों में अनेक स्थलों पर दार्शनिकता का पुट देते हुए भी उन्होंने कहीं शुष्कता एवं निष्क्रियता नहीं आने दी है। उनके सभी पात्र सक्रिय, सचेष्ट और सविवेक है। गौतम एवं चाणक्य आदि अनेक पात्र मानव-जीवन की उच्च से उच्च भावनाओं को उद्‌गारित करते हैं परन्तु फिर भी उनसे स्फूर्तिहीन जीवन की शिक्षा नहीं मिलती प्रत्युत् जीवन में सजीवता एवं क्रियाशीलता का पाठ मिलता है।

प्रसाद जी दैवी जीवन से प्रभावित थे परन्तु वे इसी मनुष्य में उसे देखना चाहते थे। वे अमरभूमि से देवों को इस मर्त्यलोक पर उतार कर अभिनय कराते और मनुष्य को आदर्श उपस्थित करते ऐसा उन्हें स्वप्न में भी अभिप्रेत नहीं था। वे मानव में उज्ज्वल देव-प्रकृति के दर्शक और प्रदर्शक थे। कुत्सा, घृणा और विगर्हण के चिह्न भी मनुष्य में वे कलंक के छींटे समझते थे अतः मनुष्य की इन दानवी काली रेखाओं को आदर्श के उज्ज्वल पर्दे से हटाने का ही उन्होंने कार्य किया है और सभी प्रकार के पात्रों का अंकन करते हुए भी जीवन के आदर्शमय भव्यरूपों को उपस्थित किया है। गौतम, वेदव्यास, चन्द्रगुप्त, स्कंधगुप्त और दाण्डचायन और प्रख्यातकीर्ति आदि पात्र ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष पात्र है। नारियों में भी राज्यश्री, मल्लिका, देवसेना और कार्नेलिया अपने भव्यतम रूप में चित्रित हुई हैं।

इनके नाटकों में ऐतिहासिकता के साथ सांस्कृतिक प्रेम भी स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। हमें उनके अतीत के सांस्कृतिक चित्रों में एक मसृणता दीख पड़ती है अतः वे धुँधले नहीं हैं वरन् वे भासमान् और भविष्य के लिए सर्चलाइट (व्यापकालोक) का कार्य करते हैं। वे आदर्शरूप हैं अतः इतिहास के पृष्ठों से उठाए हुए मृत एवं मूक कलेवर नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक साँचे में ढले हुए सजीव एवं सच्चे प्राणी हैं जिनमें मानव अपने नाना रूपों में सक्रिय

दीख पड़ता है। मानव-मन में विविध भावों का संघर्ष होता रहता है और विशेषतः राग-द्वेष का। प्रसाद जी के प्रायः पात्रों में यह भाव-द्वन्द्व बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से दृष्टिगोचर होता है। आम्भीक, भटार्क, जनमेजय, विशाख एवं सुवासिनी आदि पात्र इसके जाल में तो पड़े हैं परन्तु शिकार नहीं हुए हैं और इससे उद्धृत होकर विकास की ओर गए हैं। हमें प्रसाद जी के चित्रण में एक विशेषता दीख पड़ती है कि उनके पात्र निपट भिन्न रंगों से रंजित नहीं वरन् वे केवल कतिपय ही रंग प्रवाहिनियों में डुबकी लेते हुए एक मर्यादित धारा में चलते हैं। यद्यपि वे इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों एवं [illegible] से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु चित्रण में एकसूत्रता है।

प्रसाद जी नाटकों में सर्वत्र आदर्शवादी ही दिखलाई देते हैं। उन्होंने आदर्श को तीन प्रकार से उपस्थित किया है—(१) उन पात्रों के द्वारा जो सर्वथा उज्ज्वल चरित्र हैं, (२) उन पात्रों द्वारा जिनका चरित्र प्रारम्भ में उज्ज्वल नहीं है परन्तु पुनः आदर्श की ओर बढ़ा है और (३) कुछ पात्रों के दुराचार से मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करा कर। प्रथम श्रेणी में आने वाले पात्र हैं गौतम, व्यास और देवसेना आदि। द्वितीय श्रेणी में भटार्क, आम्भीक, विरुद्धक और शान्तिभिक्षु आदि हैं और तृतीय में नन्द, महापिंगल, प्रपंचबुद्धि, देवगुप्त और विजया आदि पात्र आते हैं।

वास्तव में प्रसाद जी ने कथानक इतिहास से लेते हुए भी चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक रीति से किया है अतः नाम प्राचीन होते हुए भी वे पात्र सार्वकालिक से हैं। ऐतिहासिक नाटकों में 'अजातशत्रु' के अतिरिक्त सभी के नायक धीरोदात्त हैं। अजातशत्रु का नायक अहंकारी एवं दम्भी है अतः धीरोद्धत्त है। प्रसाद जी इन नाटकों में आधुनिकता लाना चाहते थे अतः उन्होंने पात्रों की प्रायः भीड़ लगादी है जिनमें अनेक पात्र मौलिक हैं। कथानक इसीलिए बड़े हो गए हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ नाटक 'चन्द्रगुप्त' को ही लीजिए, उसमें राजनीति के जाल को जटिल बनाने के लिए इतने पात्र और घटनाओं की योजना की गई है कि कथानक ही एक जटिल जंजाल बन गया है। 'विशाख' से लेकर 'चन्द्रगुप्त' तक यह जटिलता क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हुई है। प्रसाद जी में एक दोष रहा है कि वे किसी घटना की संघटना के लिए पात्र का निर्माण करते हैं और उसका कार्य समाप्त होते ही उसकी हत्या करा देते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में मालविका और कल्याणी का ऐसा ही अन्त हुआ है।

इनके चित्रण में संघर्ष अधिक है। 'चन्द्रगुप्त' में मगध में एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना के लिए चन्द्रगुप्त नन्द, आम्भीक, सिकन्दर और सिल्यूकस

के विरुद्ध खड़ा होता है। 'स्कन्दगुप्त' में भी मगध के सिंहासन के लिए पुरगुप्त और भटार्क स्कन्दगुप्त से संघर्ष करते हैं। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में तक्षक जनमेजय का विरोध करता है। इस विरोध में जातीय गन्ध भी है। 'राज्यश्री' में हर्षवर्धन नरेन्द्रगुप्त और देवगुप्त से युद्ध ठानता है। इन नाटकों में संघर्ष राजनैतिक है। 'विशाख' और 'ध्रुवस्वामिनी' में संघर्ष का कारण प्रेम है। 'विशाख' में चन्द्रलेखा विशाख और नरदेव के कलह का कारण बनती है और 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के संघर्ष का। इनके नाटकों में संघर्ष धर्मभावना से भी गूँथा हुआ है। बौद्ध-धर्म विशेषतः इसका केन्द्र बना हुआ है। 'राज्यश्री' में हर्ष और सुमनध्वज बौद्ध-धर्म का सुन्दर रूप हमारे सम्मुख रखते हैं और शान्तिभिक्षु भ्रष्ट हुआ दीखता है। 'विशाख' में महापिंगल आदि भिक्षु तान्त्रिक आदि रूपों मे चित्रित हुए है। 'अजातशत्रु' में भगवान् बुद्ध के भव्य दर्शन होते है। और 'स्कन्दगुप्त' में प्रपंचबुद्धि और धातुसेन के मध्य विरोध है। इन नाटकों में बौद्ध जन अपने भव्याभव्य रूप में किसी न किसी प्रकार सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक संघर्ष के कारण हुए हैं।

प्रसाद के नाटकों में नारी-पात्रों का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है और वह दो रूपों में—एक तो सर्वथा आदर्श रूप में और दूसरे अनादर्श रूप में। देवसेना, राज्यश्री, वासवी, मल्लिका, कार्नेलिया और चन्द्रलेखा आदि उत्कृष्ट स्त्री-पात्र हैं जो महान् नारी-गुणों से युक्त हैं। इनमें स्कन्दगुप्त की पत्नी देवसेना का चरित्र सर्वश्रेष्ठ है। वह अपनी सपत्नी विजया से रंचमात्र भी द्वेष नहीं करती अतः उसकी उदाराशयता अनुकरणीय है। राज्यश्री अपने पति के मारने वाले को भी क्षमा कर देती है। वासवी अजातशत्रु पर कभी क्षोभ नहीं दिखाती वरन् सौतेला पुत्र होते हुए भी उसे उसकी उद्दण्डता के लिए क्षमा ही करती रहती है। मल्लिका भी अपने पति के हत्यारे को क्षमा-दान देती है। कार्नेलिया विदेशी होती हुई भी पवित्र भारतीय नारी है। चन्द्रलेखा का आचार औज्ज्वल्य का आदर्श है। कुछ स्त्री-पात्र ऐसे भी हैं जो चरित्र-हीन है। विजया, दामिनी और सुरमा आदि नारियाँ ऐसी ही है। ये सभी वासना की पुत्तलिका हैं। विजया का मन इतना चंचल है कि स्कन्दगुप्त से भी प्रेम करती है और भटार्क से भी तथा पुरगुप्त भी उसके मानस का हंस बना हुआ है। दामिनी वेद की पत्नी होती हुई भी तक्षक और उत्तंक से विलास करना चाहती है और सुरमा की दो आँखें दो ओर लगी हुई हैं—एक देवगुप्त की ओर तो दूसरी विकटघोष की ओर। परन्तु इन दुश्चरित्र पात्रों के चित्रण में भी एक मनोवैज्ञानिक आधार है।

प्रसाद जी के नाटकों में संकलनत्रय का विशेष ध्यान नहीं रक्खा गया है। देश-कालादि का समुचित विचार नाटकों में परमावश्यक होता है परन्तु इनके नाटकों में इस तत्व को अनादृत-सा किया गया है। घटनाओं का सम्बन्ध विविध काल और स्थानों से जोड़ा गया है और इसके लिए अनेक पात्र भी गढ़े गए हैं जिससे नाटक प्रायः पृथुलकाय हो गए हैं।

शैली नाटकीय कला के अनुसार ही है परन्तु गद्य-गीत की छटा यत्र-तत्र दीखती है। अनेक स्थानों पर नाटककार कवि होकर चमका है। गीतों में तो उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य है ही, गद्य में भी संगीतात्मकता एवं काव्य-कला के दर्शन होते हैं। वास्तव में इन्हीं गुणों ने संकलनत्रय के दोष को नगण्य-सा कर दिया है। प्रसाद जी परतंत्र भारत में उत्पन्न हुए थे अतः इनके नाटकों में देशप्रेम अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। नाटकों में प्रायः राजनैतिक संघर्ष इसी प्रेम के परिणाम हैं। कहीं-कहीं सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से ऊब कर दार्शनिक धरातल पर खड़े हुए पात्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'चन्द्रगुप्त,' 'स्कन्दगुप्त' एवं 'अजातशत्रु' आदि प्रायः सभी नाटकों में यह दार्शनिकता अपना रूप दिखाती है। यह लेखक के अपने हृदय का उद्गार है। कहीं-कहीं दीर्घ वक्तृताएँ अखरती हैं, यद्यपि वे नीरस नहीं हैं। संघर्ष में अन्तर्द्वन्द्व ने नाटकों को सचेष्ट-सा बना दिया है। सरसता, उक्ति-विचित्रता, संगीतात्मकता एवं काव्यात्मकता आदि गुण तो इनके नाटकों के प्राण हैं।

इनके श्रेष्ठ नाटक प्राचीन नाट्य शैली पर लिखे हुए नहीं हैं। उनमें आधुनिकता अधिक है। प्रारम्भ में न नान्दी है और न प्रस्तावना। अंक दृश्यों में विभक्त नहीं हैं। 'चन्द्रगुप्त' में दृश्य-परिवर्त्तन केवल १, २ आदि संख्याओं से हुआ है और 'स्कन्दगुप्त' में पट-परिवर्त्तन से ही। विष्कम्भक, अंकावतार आदि भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। भरतवाक्य भी नहीं है और न प्रायः विदूषक आदि के ही दर्शन होते हैं। स्कन्दगुप्त में केवल मुद्गल ही ऐसा पात्र है जो विदूषक का अभिनय कर रहा है परन्तु इन प्राचीन तत्वों के अभाव में भी नाट्य-कला की दृष्टि से इस सम्बन्ध में कोई विरूपता नहीं हुई है। प्रसाद जी ने 'स्वगत' भाषण का प्रयोग भी किया है। चाणक्य, स्कन्दगुप्त, जनमेजय और देवसेना आदि स्वयं अपने से ही अपने भावों को मुख से प्रकट करते हैं। कहीं-कहीं यह स्वगत-संविधान दीर्घ हो गया है जो अस्वाभाविक है। यत्र-तत्र हत्या आदि के दृश्य भी आधुनिक ढंग पर रंगमंच पर दिखाई देते हैं यथा जनमेजय के नागयज्ञ में जरत्कारु की हत्या आदि।

इनकी भाषा कुछ कठिन है और कविता तो अत्यन्त गम्भीर है परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ता है कि काव्यखण्ड एवं गीत ही इन नाटकों की जान है। दार्शनिकता, गम्भीरता और विशालकायता ने इनके चन्द्रगुप्त आदि कई नाटकों को अनभिनेय सा बना दिया है।

अब इनके नाटकों पर एक विहंगम दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। **'सज्जन'** में चित्ररथ द्वारा दुर्योधन के पकड़े जाने पर युधिष्ठिर की सज्जनता का चित्रण है। इस पर भारतेन्दु जी का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना आदि भी है और कविता ब्रज में है। यह इनका आदि प्रयास है।

'कल्याणी-परिणय' भी एक छोटा सा नाटक है। 'चन्द्रगुप्त' का चतुर्थ अंक इसी का परिवर्तित रूप है। इसमें नान्दी एवं भरतवाक्य तो है परन्तु प्रस्तावना नहीं। इसमें सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के युद्ध के पश्चात् कल्याणी का परिणय चन्द्रगुप्त से होता है। यही कल्याणी कार्नेलिया है क्योंकि वह दोनों पक्षों के कल्याण का कारण बनती है। इसके गीत कुछ सुन्दर है।

'करुणालय' एक गीति-नाट्य है। जिसमें सत्यवादी हरिश्चन्द्र की करुण कथा है। यह भी अपनी लघुता के समान ही लघु स्तर का है।

'प्रायश्चित' एक छोटा रूपक है, जिस पर शेक्सपीयर के मेकबेथ का प्रभाव प्रतीत होता है। इसमें संस्कृत नाट्य-विधान का अभाव है और आधुनिकता के दर्शन होते हैं। इसके कथानक में पृथ्वीराज के प्रति वैमनस्य के लिये जयचन्द का प्रायश्चित है, जिसे वह देशद्रोह का प्रायश्चित कहता है। इस प्रायश्चित में दो विद्याधरियों का विशेष हाथ है। इससे प्रसाद जी के दैवी विश्वास पर भी प्रकाश पडता है।

'राज्यश्री' (वर्तमान संस्करण) चार अंकों का एक छोटा सा रूपक है। यह इनका सर्वप्रथम नाटक है, जिसमें अंकों का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्व नाटकों में केवल दृश्यों का व्यवहार हुआ था। इसमें नान्दी एवं भरतवाक्य है किन्तु प्रस्तावना नहीं। इसकी पद्य भी खड़ी बोली में है। प्रसाद जी ने इसका उद्देश्य केवल हर्ष की बहिन राज्यश्री का चरित्रचित्रण ही वतलाया है। हर्ष तो केवल अन्तिम दो दृश्यों में ही दिखलाई देता है। इसमें राज्यश्री का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल एवं साहसपूर्ण है। राज्यश्री पति के भाग जाने पर मालवराज देवगुप्त के हाथों में पड़ जाती है। दस्यु उसे मुक्त करते हैं और दस्युओं से दिवाकर मित्र उसकी रक्षा करता है। यह दस्युदल शान्तिदेव का था जिसने सुरमा का त्याग कर राज्यश्री को बलात् ग्रहण करना चाहा। राज्यश्री जब जलने लगी तो हर्ष सहसा आ गया और वे प्रयाग चले गये। सुरमा भ्रष्ट हो

कर देवगुप्त की सहचरी बन गई परन्तु शान्तिदेव उसे पुनः भगा लाया और दोनों गायक हो गए। पुनः दोनों राज्यवर्धन की हत्या का कारण बन कर भागते हैं और प्रयाग में पकड़े जाते हैं। राज्यश्री उस पतिघाती को क्षमा कर देती है। नारी का जीवन-दर्शन इनके नाटकों में यहीं से प्रारम्भ होता है। इसमें सुरमा द्वारा गाए हुए गीत और अन्त में भरतवाक्य, गीतिकाव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसके पूर्व संस्करणों में तो प्रायः थियेट्रीकल प्रभाव था क्योंकि बात-बात में संगीतात्मकता दृष्टिगोचर होती थी।

'विशाख' सर्वप्रथम नाटक है जिसमें प्रसाद जी की काव्य-कला अपने मौलिक रूप में आविर्भूत हुई। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है और राजतरंगिणी से ली गई है। यह काय में भी बड़ा है जो अस्सी पृष्ठों में तीन अंकों में समाप्त हुआ है। यह इनका प्रथम सफल नाटक है, जिसमें मानव-जीवन का चित्रण सुन्दर रूप में हुआ है। इसके सम्भाषण छोटे और भाषा सरल है परन्तु गीत अधिक हैं जिनमें कुछ तो निम्न कोटि के हैं। इसमें चन्द्रलेखा और बौद्ध-भिक्षु प्रेमानन्द का चरित्र सुन्दर है। प्रेमानन्द ही इसमें एक काल्पनिक पात्र है। राजा नरदेव चन्द्रलेखा को उसके पति विशाख से छीन लेता है परन्तु प्रेमानन्द का सेवाभाव और जनता का विरोध उसकी रक्षा करता है। इस नाटक में नान्दी तो नहीं है परन्तु भरतवाक्य अवश्य है।

'अजातशत्रु' भी ऐतिहासिक नाटक है, जिसका सम्बन्ध आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व की कथा से है। इसमें हमें भगवान बुद्ध के समुज्ज्वल दर्शन होते हैं। बिम्बसार, पद्मावती और वासवी आदि बौद्ध मार्ग के संरक्षक थे और अजातशत्रु, देवदत्त और छलना इसके विध्वंसक। इसकी पृष्ठभूमि में यह विरोध भी एक आधार है।

इसके कथानक में तीन राज-परिवारों का सम्बन्ध है। मुख्य केन्द्र है मगध, जहाँ बिम्बसार के राज-त्याग करने पर अजातशत्रु की माँ छलना सूत्रधार बनी हुई है। वह बड़ी सपत्नी वासवी को पीछे हटाकर और राजमाता बनकर सबको अपने संकेत पर नचाना चाहती है। वासवी कोशलाधिपति प्रसेनजित की बहिन है। वासवी के अधिकार का प्रश्न कोशल को मगधराज अजातशत्रु के विरुद्ध खड़ा करता है। वासवी का सम्बन्ध मगध और कौशाम्बी से तो था ही, उसकी पुत्री पद्मावती का विवाह कौशाम्बी में हुआ था अतः उससे भी सम्बन्ध था। वासवी की सहायतार्थ कौशाम्बी नरेश उदयन भी अजातशत्रु का विरोधी बना। इस प्रकार मगध, कोशल और कौशाम्बी तीन राज-परिवार इस नाटक की कथा के आधार है। इसकी सहायतार्थ कुछ अवान्तर प्रसंग भी हैं

जिनके प्रधान पात्र हैं विरुद्धक, मागन्धी, गौतम एवं देवदत्त आदि ।

इस प्रकार कथानक का त्रिमुखी होना जटिलता का कारण हो गया है। परन्तु ये आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व नाटक की सफलता में भी कारण बने हैं। मानव-हृदय में विरोधी भावनाएँ हैं। इसमें हम उन भावनाओं के प्रतीकभूत पात्रों को द्वन्द्व करता हुआ देखते है। बिम्बसार, गौतम एवं वासवी सत्य और दया की सजीव प्रतिमा हैं तो अजातशत्रु, देवदत्त और छलना छल और निर्दयता की मूर्ति हैं।

नायक अजातशत्रु का व्यक्तित्व छलना ने दबा दिया है। वह उसके हाथ की कठपुतली है तथा नायक के दया-दाक्षिण्यादि गुण उसमें नहीं हैं वरन् वह क्रूर, छली और अकर्मण्य सा है। अपने विरक्त पिता के विरुद्ध भी षड्यंत्र करता है और मातृवत दुलार करने वाली सौतेली माँ वासवी के साथ उद्दण्डता का व्यवहार करता है। हाँ, नाटक के सम्पूर्ण कथानक का केन्द्र वही है अतएव नायक है।

बिम्बसार एक विरक्त व्यक्ति है अतः अकर्मण्य है। उसने राज्य का त्याग छलना के डर से कर दिया है। उसका जीवन पवित्र तो है पर अनुकरणीय नहीं।

इस नाटक में एक गतिशील पुरुष पात्र है कौशल का राजकुमार विरुद्धक परन्तु उसने मागन्धी (श्यामा) पर जो अत्याचार किया है वह अनीतिपूर्ण है।

स्त्रीपात्रों में वासवी का चरित्र परमोज्ज्वल है। वह सच्ची पतिव्रता, दयाशीला और वात्सल्यमयी नारी है। अजात को वह पुत्रवत् ही समझती रही और अन्त में छलना को भी उसके समक्ष सिर झुकाना पड़ा।

इस नाटक की भाषा कठिन है, सम्भवतः दार्शनिकता ने गम्भीरता ला दी है। संस्कृतबहुल होने से भी भाषा जन-साधारण के लिए दुरूह हो गई है। नाटक कुछ लम्बा भी है अतः अभिनेयता में बाधा पड़ती है। इसके गीतों में पर्याप्त माधुर्य एवं सौष्ठव है। इसमें वसन्तक का हास-परिहास बड़ा मनोरञ्जक एवं ऊँचा है।

यह एक सुखान्त नाटक है। सारा संघर्ष अन्त में समाप्त हो जाता है, और भगवान् बुद्ध आकर आशीर्वचन कहते है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' भी ऐतिहासिक नाटक है। तक्षक ने महाराज जनमेजय के पिता परीक्षित की हत्या की थी अतः जनमेजय ने नाग जाति से उसके प्रतिशोधार्थ उत्तंक की प्रेरणा से नाग-यज्ञ किया है। नागराज तक्षक

इसके प्रतिपक्ष में नागों की रक्षार्थ खड़े होते हैं। इसी द्वन्द्व का चित्रण इस नाटक में है। इसके इतिहास में पौराणिकता है।

यह नाटक भी व्यास जैसे तत्वज्ञानियों की दार्शनिकता से बोझिल है। भाषा भी गम्भीर है। परन्तु गीत उतने उत्कृष्ट नहीं जितने अजातशत्रु के हैं। इसके कथानक में जटिलता नहीं है।

इसमें वेद, व्यास एवं उत्तंक और वपुष्टमा आदि के चरित्र उज्ज्वल । पुरुष पात्रों में काश्यप और स्त्री पात्रों में दामिनी चरित्रहीन हैं। काश्यप लोभी और स्वार्थी है तथा दामिनी आचार्य वेद की पत्नी होती हुई भी दुश्चरित्रा है।

'कामना' एक प्रतीकात्मक रूपक है। इसकी कथा का सार यही है कि फूलों के द्वीप में तारा की सन्तान युगों से रहती आई थी। वहाँ सुख और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य था। किन्तु इस पुरातन संस्कृति में विदेशों से आई नवीन सभ्यता ने विष घोल दिया। सुरा और प्रमदा का प्राबल्य हो गया और वह सुखमय जीवन दुखमय हो गया।

इसमें प्राचीन आर्य संस्कृति के जिसका सुन्दरतम रूप सहस्रों वर्ष पूर्व नगरों से कोसों दूर ग्रामों में दीख पड़ा था, पाश्चात्य सभ्यता के द्वारा विनाश का मार्मिक चित्रण है। इसमें मनोभावों का जो मानवीकरण है वह उसी रूप में नहीं है वरन् सन्तोष-विवेक आदि सजीव पात्रों के रूप में चित्रित हुए है। सन्तोष, विवेक, करुणा, कामना आदि सभी पात्र सकलेवर अभिनय करते हैं और हमें अपने चरित्र में भुला देते हैं।

इसमें भाषा सरल एवं भाव मधुर हैं। सर्वत्र सुकोमलता छिटक रही है। नाटक प्रतीकात्मक होता हुआ भी प्रतीकात्मकता के भार से दबा नहीं है।

'स्कन्दगुप्त' का कथानक भी इतिहास पर आधारित है। यह पाँच अंकों में समाप्त होने वाला एक उच्च-कोटि का नाटक है। इसका नायक स्कन्दगुप्त है, जो राज्याधिकार के सुख से उदासीन है। उसका प्रतिपक्षी है उसका विमातृ-भ्राता पुरगुप्त जिसके षड्यंत्रों में उसकी माता अनन्तदेवी, प्रपञ्चबुद्धि और भटार्क आदि सहायता देते हैं। स्कन्दगुप्त पुरगुप्त के लिए सब कुछ त्याग करने की प्रतिज्ञा करता है और यहाँ तक कि आजीवन कुमार रहने का प्रण लेता है। स्कन्दगुप्त के नीरस जीवन में एक सरस धारा प्रवाहित करने वाली है मालव-कुमारी देवसेना। इस प्रकार इस नाटक के नायक-नायिका हैं स्कन्दगुप्त और देवसेना तथा प्रतिनायक है पुरगुप्त।

इसमें भी कथानक जटिल हो गया है यद्यपि उसमें अर्थप्रकृति एवं अवस्थाओं का समुचित विधान है। इस नाटक में कोई प्रस्तावना नहीं है परन्तु नाटक के प्रारम्भ में ही स्कन्दगुप्त के इस कथन में कि 'अधिकार सुख कितना मादक और सार-हीन है' नाटक का बीज एवं लक्ष्य अर्न्तानिहित है। अंक दृश्यों में विभक्त नहीं हैं वरन् दृश्य पट-परिवर्त्तन से ज्ञातव्य हैं। कहीं-कहीं पटपरिवर्त्तन भी नहीं लिखा है, प्रस्थान से ही दृश्य-परिवर्त्तन हुआ है। आधुनिक शैली पर लिखा गया यह नाटक श्रेष्ठतम नाटकों में से है। इसमें प्राचीन नियमों पर बल न देकर चरित्र-चित्रण पर ही बल दिया गया है।

इस नाटक की सर्वश्रेष्ठ विशेषता चरित्र-चित्रण ही है। पात्रों के चरित्र का जैसा सुन्दर चित्रण इसमें हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं। 'स्कन्दगुप्त' धीरोदात्त है। वह धैर्यशील, दृढ़संकल्पी, शूरवीर, चरित्रवान् एवं विनम्र है। वह महान् त्यागी और निःस्वार्थ है और इसी भावना के वशीभूत हुआ वह साम्राज्य का संगठन करता है परन्तु फिर भी स्वयं अधिकार-सुख से उदासीन है। विमातृ-भ्राता पुरगुप्त के लिए वह सर्वस्व का त्याग करने के लिए उद्यत है। नायिका 'देवसेना' तो इनकी अमर पात्री है। वह भी तदनुकूला उदार, एकमना, सहनशीला, साहसिक एवं त्यागमूर्त्ति राजकुमारी है। उसका प्रेम पावन मन्दाकिनी के प्रवाह के समान है। वह अनुपम सुन्दरी है—मन में औज्ज्वल्य है, वचन में संगीत का माधुर्य है और काय में विलक्षण लावण्य है। स्कन्दगुप्त के विजया के प्रति भूल से आकृष्ट हो जाने पर वह ईर्ष्या से जलती नहीं और न अपने प्रिय के पथ का रोड़ा ही बनती है।

'मातृगुप्त' एक भावुक कवि है। प्रथम वह साहित्य-सेवा के निमित्त राजाश्रय लेता है और पुनः अपने मित्र धातुसेन की प्रेरणा से राजनीति में पग रखता है। इसकी कविताओं में देशभक्ति गूँज रही है। यह सम्भवतः कालिदास ही है। मातृगुप्त का मित्र 'मुद्गल' इस नाटक में विदूषक का कार्य कर रहा है परन्तु उसका हास कुरूपनापूर्ण नहीं है वरन् सात्विक एवं आल्हादक है।

'पुरगुप्त' विमाता का पुत्र है अतः उसमें ईर्ष्या, जलन एवं वैर की पर्याप्त मात्रा स्वाभाविक है।

'भटार्क' एक स्वाभिमानी और स्वार्थपूर्ण व्यक्ति है। वह एक सच्चा सैनिक है अतः वीर है, पराक्रमी है। वह राजनीति से परिचित नहीं है अतः शीघ्र ही पर-प्रपञ्च में फँसकर दुर्गुणों से परिपूर्ण हो जाता है परन्तु सर्वथा चरित्रहीन नहीं होता। वह अनन्तदेवी को सहायता देता है। देवकी की हत्या के प्रयास में उसकी निर्दयता के दर्शन होते हैं परन्तु उसमें दया भी विद्यमान है।

महामन्त्री आदि के आत्महत्या कर लेने पर वह पश्चाताप करता है। यह वह पात्र है जिसमें मानव के सुन्दर-असुन्दर दोनों पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

'देवकी' पटरानी है परन्तु उपेक्षिता है तथापि वह उदार है और धर्म में संलग्न है। अनन्तदेवी उसे सताती है परन्तु वह अविचल है। उसका साहस और धैर्य अनुकरणीय है। 'अनन्तदेवी' में सपत्नीत्व अपने स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है।

'शर्वनाग' के चरित्र में पक्ष-विपक्ष की सहानुभूति के मध्य एक अच्छा द्वन्द्व दिखलाया है।

बन्धुवर्मा एवं धातुसेन आदि देश के सच्चे प्रेमी हैं।

इस प्रकार इसमें चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग पर है और प्रसंगानुकूल है। सैनिक एवं अधिकारियों का नाम कर्मानुसार प्राचीन परिपाटी पर ही रक्खा गया है। नामों के साथ उनके क्रिया-कलापों में भी गाम्भीर्य है। कहीं-कहीं कुछ अस्वाभाविक घटनाएँ भी दीख पड़ती हैं, यथा स्कन्दगुप्त के द्वारा देवकी की और मातृगुप्त द्वारा देवसेना की रक्षा कुछ ऐसी ही हैं।

इसमें भाषा का प्रयोग प्रसंगानुकूल है अतः गुण एवं वृत्तियों की योजना बड़ी मनोरम है। इसके गीत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। मातृगुप्त की निम्न पंक्तियों में एक कोमल विकलन तो देखिए—

मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अली-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरों में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने।
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।

उच्छृंखल प्रिय के प्रति विजया के आह्वाहन में कितनी विकलता है—

उमड़ चली भिगोने आज,
तुम्हारा निश्चल अंचल छोर।
नयन-जल-धारा रे प्रतिकूल!
देख ले तू फिर कर इस ओर!

× × ×

और विभोरावस्था में उसकी मादकता भी दर्शनीय है—

अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझीं हों इन अलकों से,
मादकता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घनमाला से,
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।

देवसेना के निम्न उद्गारों में हृदय के अन्तरतम की सूक्ष्म झाँकी कितनी गम्भीर किन्तु मनमोहक है।

सब जीवन बीता जाता है
धूप-छाँह के खेल-सदृश
× × ×
माझी ! साहस है खे लोगे !
जर्जर तरी भरी पथिकों से—
झड़ में क्या खोलोगे ?
अलस नील घन की छाया में—
जलजालों की छल-माया में—
अपना बल तोलोगे !

स्कन्दगुप्त के शब्दों में देशप्रेम की गूँज भी सुनिए—

बजा दो वेणु मनमोहन ! बजा दो।
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो
विमल स्वातन्त्र्य का बस मन्त्र फूँको।
हमें सब भीति-बन्धन से छुड़ादो।

इस प्रकार गीतों की मधुरतम एवं सुन्दरतम योजना इसमें हुई है। गीतों के अतिरिक्त सम्भाषण भी नाट्यकला के अनुसार श्रेष्ठ कोटि का है। मुद्गल का परिहास कहीं भी निम्न स्तर पर नहीं उतरा है।

इस नाटक में स्वगत का प्रयोग भी है परन्तु अस्वाभाविक नहीं। मनुष्यों की उपस्थिति में स्वगत का व्यवहार न कर लेखक ने बड़ी बुद्धिमत्ता का प्रमाण दिया है क्योंकि यह निपट अस्वाभाविक है कि लोग बैठे भी हों और सुनें भी नहीं।

रंगमंच पर युद्ध और हत्या इस नाटक में नवीन प्रभाव के परिणाम हैं। परन्तु हम इसे दोष नहीं कह सकते।

'एक घूंट' प्रतीकात्मक नाटक है। यह एक दृश्य का सर्वप्रथम एकांकी है। इसमें कुंज, लता, आनन्द, रसाल एवं मुकुल आदि सभी प्रतीक हैं। इसमें आनन्दवाद की स्थापना है।

'चन्द्रगुप्त' चार अंकों में समाप्त होने वाला एक बृहत्काय नाटक है। यह २१४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह नाटक भी प्राचीन परिपाटी को छोड़कर नवीन शैली पर लिखा गया है अतः इसमें नान्दी, प्रस्तावना एवं भरत-वाक्यादि

नहीं है। अन्त में सेल्यूकस द्वारा चन्द्रगुप्त एवं कार्नेलिया के हाथ मिला देने पर जो पुष्पवृष्टि और जयध्वनि होती है वह आशीर्वचन ही है। अंक भी दृश्यों में विभक्त नहीं हैं तथा दृश्य-परिवर्त्तन पट-परिवर्तन एवं प्रस्थान आदि से सूचित किए गए हैं।

इन्होंने सन् १६०७ में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक लेख लिखा था। इसी आधार पर 'कल्याणी-परिणय' नाम का नाटक लिखा जो आगे चन्द्रगुप्त के चतुर्थ अंक के रूप में परिवर्तित हो गया। चन्द्रगुप्त के विषय में यह लेख एक नवीन और गम्भीर खोज थी। अब तक इतिहास एवं विद्वान् चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा नामक नाइन से उत्पन्न होने के कारण मौर्य एवं वृषल कहते आए हैं परन्तु प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय सिद्ध किया है। ईसा से ८०० वर्ष पूर्व जैनतीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के समय में यज्ञ आदि कार्यों से खोई हुई अपनी धर्म-प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिए ब्राह्मणों ने अर्बुद-गिरि पर एक महान् यज्ञ किया। देश-देश के क्षत्रिय भी एकत्र हुए। वे ब्राह्मणों के इस यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभक्त हुए। इनका नाम अग्नि-कुल हुआ। इन चार जातियों में प्रमार जाति भी थी, जो आगे शनैः-शनैः बड़ उत्कर्ष को प्राप्त हुई। इसकी पैंतीस शाखा हुई परन्तु मौर्य नाम की शाखा विशेष प्रसिद्ध हुई। प्रसाद जी लिखते हैं कि बौद्धों के विवरण से ज्ञात होता है कि शैशुनाक वंशी महानन्द के संकर पुत्र महापद्म के पुत्र धननन्द से मगध का सिंहासन लेने वाला चन्द्रगुप्त मोरियों के नगर का राजकुमार था। यह मोरियों का नगर पिप्पली कानन था, और पिप्पली कानन के मौर्य नृपति लोग भी बुद्ध के शरीर-भस्म के भाग लेने वालों में एक थे। वास्तव में महापद्म और धननन्द के लिए जो बातें कही गईं वे भूल से यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त के लिए लिख दीं। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि ज़ैण्ड्रोमस (सैण्ड्रोकोटस) ने सिकन्दर से युद्ध किया और उन्होंने ज़ैण्ड्रोमस से चन्द्रगुप्त अर्थ लिया, जो वास्तव में नन्द के लिए था। चन्द्रगुप्त से सिकन्दर का युद्ध नहीं हुआ, हाँ तक्षशिला में वह एक बार उससे मिला अवश्य था। मौर्यों की पहली राजधानी पिप्पली कानन थी और चन्द्रगुप्त के समय से पाटलिपुत्र हुई जिसका वर्णन मेगस्थनीज ने किया है।

यह एक नई खोज थी। संस्कृत में विशाखदत्त ने जो मुद्राराक्षस लिखा था, उसमें चन्द्रगुप्त को मुरा-पुत्र ही माना है। एवं उसे चाणक्य के हाथ की कठपुतली बना दिया है। वास्तव में वह नाटक राजनीति एवं कूटनीति का अखाड़ा है जिसमें एक ओर नन्द का अभिभावक मंत्री राक्षस है और दूसरी

ओर नन्द का महाशत्रु एवं चन्द्रगुप्त का शुभचिन्तक चाणक्य । इन दो मल्लों का राजनैतिक दंगल जमा हुआ है जिसमें शेष लोग साधन हैं ।

इसके पश्चात् द्विजेन्द्रलाल राय ने बँगला में चन्द्रगुप्त लिखा जो इतिहास पर ही आधारित था और उसमें कोई नवीन खोज का आश्रय नहीं था। सन् १९१७ में इसका अनुवाद हिन्दी में भी हुआ । पुनः पं० बदरीनाथ भट्ट ने भी चन्द्रगुप्त नाटक लिखा ।

इन सभी में चन्द्रगुप्त को वृषल ही माना गया । पुनः प्रसाद जी ने यह नाटक उपर्युक्त खोज के आधार पर लिखा । इसमें चन्द्रगुप्त को मौर्य क्षत्रिय माना गया एवं नाटक में राजनैतिक दंगल के साथ-साथ शृंगार की सरस छटा भी छिटकाई गई । चन्द्रगुप्त भी केवल चाणक्य के हाथों में खेलने वाली कठ-पुतली न रह कर धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित हुआ है । द्विजेन्द्र बाबू ने भी इस विषय में मौलिकता वर्ती है । द्विजेन्द्र बाबू और प्रसाद जी दोनों ने वास्तव में चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के युद्ध में भारत और यूनान की सभ्यताओं को टकराया है जिसका मेल सेल्यूकस की पुत्री के साथ चन्द्रगुप्त के विवाह से होता है। द्विजेन्द्र बाबू ने उसका नाम हेलेन रक्खा है और प्रसाद जी ने कार्नेलिया । नन्द की हत्या दोनों ने शकटार से कराई है। प्रसाद जी केवल शकटार को ही उसकी मृत्यु का कारण बताते हैं परन्तु राय महोदय शकटार, चाणक्य और मुरा तीन को। शकटार और कात्यायन को उन्होंने एक ही माना है । प्रसाद जी ने वररुचि को कात्यायन माना है । द्विजेन्द्र बाबू ने नन्द के साथ उसके वंश की समाप्ति करा दी परन्तु प्रसाद जी ने उसकी पुत्री कल्याणी से पिता को मृत्यु पर आँसू बहाये हैं । उसने चन्द्रगुप्त से प्रेम भी किया था परन्तु अन्त में वह आत्म-हत्या कर लेती है ।

द्विजेन्द्र बाबू ने चाणक्य के हृदय में नन्द के प्रति प्रतिशोध की भावना में वह अपमान कारण लिखा है जो उसको पौरोहित्य के निमित्त बुलाये जाने पर नन्द के साले बाचाल ने किया था । प्रसाद जी लिखते हैं कि इनमें पुराना वैर था। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक की सम्पत्ति हर ली थी । पुनः तक्षशिला से लौटने पर नन्द ने भरी सभा में उसका अपमान किया था ।

सिकन्दर और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भी कुछ भेद है । द्विजेन्द्र बाबू भी चन्द्रगुप्त का सिकंदर से साक्षात्कार कराते हैं परन्तु चंद्रगुप्त को सहसा भगा देते हैं । प्रसाद जी चंद्रगुप्त से कठोर शब्द भी कहलाते हैं । द्विजेन्द्र बाबू ने सिकंदर को युद्ध में घायल भी नहीं बतलाया है। शेष कथा में कुछ सामंजस्य है ।

मुद्राराक्षस के वसंतोत्सव को इन दोनों नाटककारों ने विजयोत्सव में बदल दिया है। चाणक्य इसके रोकने की आज्ञा देता है, जिस पर चंद्रगुप्त उसे पकड़ने का आदेश देता है। यह प्रसाद जी की अपनी उद्भावना है। इसी समय मालविका के बलिदान से चंद्रगुप्त की रक्षा होती है, यह भी प्रसाद जी की मौलिकता है। राय महोदय ने भी छाया नाम की युवती का सृजन किया है परन्तु वे अन्त में हेलेन के साथ छाया को भी चंद्रगुप्त की सहधर्मिणी बना देते हैं।

मुद्राराक्षस की भाँति प्रसाद जी ने भी राक्षस की मुद्रा से काम लिया है परन्तु द्विजेन्द्र बाबू ने नहीं।

इस प्रकार इन दोनों नाटकों में पर्याप्त भेद है। अतः मुद्राराक्षस और चंद्रगुप्त के रहते हुए भी प्रसाद जी का यह नाटक नितान्त मौलिक है।

प्रसाद जी की यह बड़ी प्रौढ़ कृति है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्कन्दगुप्त को इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक लिखा है परन्तु हमारी सम्मति में चन्द्रगुप्त ही सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि इसमें स्कन्दगुप्त से कहीं वस्तु-जटिलता है तथा समय-संकलन की भी उपेक्षा की गई है, जिससे नाटक के वृहत्काय हो जाने से अभिनेयता में बाधा पड़ी है तथापि नाट्यकला की दृष्टि से शैथिल्य नहीं। भाषा भी काव्योचित है। हाँ, कहीं-कहीं चाणक्य आदि के सम्भाषण इतने लम्बे हो गए हैं जो अखरते हैं।

नाना पात्रों की कल्पना भी जटिलता का एक कारण है। प्रसाद जी क यह दोष कि कहीं-कहीं घटना के लिए पात्रों का निर्माण करना और पुन उसका गला घोंट देना यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। मालविका और कल्याणी आदि की हत्या इसी के परिणाम हैं।

इसकी शैली में कोई शैथिल्य नहीं और उद्देश्य भी महान् है—एक सुदृढ़ आर्य-शासन की स्थापना।

इस नाटक में चरित्र-चित्रण बड़ी उत्तम रीति से हुआ है और इसी इस नाटक को श्रेष्ठता प्रदान की है।

'चन्द्रगुप्त' इस नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह धीर-वीर, कृतज्ञ, निड एवं पराक्रमी है। वह गुरुभक्त, देशभक्त और जनता-भक्त भी है तथा सच्चा मि और प्रगाढ़ प्रेमी भी है। चाणक्य की बुद्धि एवं दूरदर्शिता तो उसकी पथप्रदर्शिक थी ही परन्तु उसकी कार्यपटुता, अदम्य उत्साह, दृढ़-संकल्प और घोर परा आदि गुण भी उसके उत्थान का कारण हुए। देशभक्ति उसमें पहले से ही थी आम्भीक को देश के प्रति कर्त्तव्य सुझाने का उसका प्रयत्न इसका द्योतक है

उसका पराक्रम इसी से विदित होता है कि अकेला ही नन्द के कारावास से चाणक्य को छुड़ा लेता है, फिलिप्स से द्वन्द्व-युद्ध कर उसे पराजित करता है, सिकन्दर भी उसके हाथों घायल होता है तथा सेल्यूकस पराजित होता है और यहाँ तक कि विजयोत्सव के रोक देने पर चाणक्य को भी पकड़ने का वह आदेश देता है।

उसका जीवन कर्त्तव्य, परिश्रम एवं संघर्ष का केन्द्र बना हुआ है। युद्ध पर युद्ध करता है परन्तु विचलित नहीं होता। चाणक्य की सहायता उसके लिए वरदान बनी हुई है और साथ ही साथ प्रेम-व्यापार भी उसे शुष्क एवं विरक्त नहीं होने देता। उसकी निर्भीकता से सिकन्दर, सेल्यूकस, दाण्ड्यायन आदि सभी प्रभावित हैं। साथ ही वह दयालु एवं उदार भी है। सेल्यूकस की व्याघ्र से रक्षा करना उसकी महान् उदारता का प्रमाण है।

चन्द्रगुप्त में माता, गुरु एव देश के प्रति प्रेम उच्च कोटि का है। उसके हृदय में युवती-प्रेम भी है। कार्नेलिया के प्रति उसका प्रेम खरा और मनोवैज्ञानिक है अतः उसमें क्रमिक विकास है।

वास्तव में चन्द्रगुप्त में सम्राट् बनने के समस्त गुण हमें दिखलाई देते है। वह गणराज्यों को एकीभूत कर दृढ़ साम्राज्य की स्थापना करता है।

'चाणक्य' इस नाटक का सब से जटिल चरित्र है क्योंकि वही तो सूत्रधार है। राजनैतिक अखाड़े का संचालक वही तो है। वह विद्वान्, विचक्षण, दूरदर्शी, अकिञ्चन किन्तु महान् राजनीतिज्ञ ब्राह्मण है। इतना साहस, राजनीति-पटुता और दृढ़ता अन्यत्र दुर्लभ है। चाणक्य की कूटनीति विश्व-प्रसिद्ध है।

चाणक्य ने यह स्पष्ट देख लिया था कि मगध का क्रूर राजा नन्द, पञ्चनद का अधिपति पर्वतेश्वर, गान्धार-नरेश आम्भीक एवं अन्य मालव, क्षुद्रक आदि गणतन्त्र अपने ही में लीन एवं परस्पर सहानुभूतिहीन थे अतः उसे भारत का भविष्य अन्धकारपूर्ण दृष्टिगोचर हुआ। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की रक्षा का आधार इसे सब का संगठन दीखा अतएव उसने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली और चन्द्रगुप्त को संघ-शासन का नेता स्वीकार किया। पहले वह नन्द के यहाँ बन्दी होता है पुनः मुक्त होकर चन्द्रगुप्त और सिंहरण से मालवों और क्षुद्रकों को संगठित कराता है। तदनन्तर सिकन्दर के विरुद्ध पर्वतेश्वर की सहायता करता है और अन्त में नन्द पर आक्रमण करने के लिए पर्वतेश्वर को लोभ देकर साथ लेता है परन्तु उसकी हत्या करा देता है। चन्द्रगुप्त की रक्षा में भी मालविका की हत्या उसी की कूटनीति का परिणाम था। इस प्रकार वह कठोर भी था परन्तु सब कुछ आर्य-साम्राज्य की स्थापना

के लिए ही था। उसने कभी स्वार्थ नहीं सोचा, जो कुछ किया वह देश एवं चन्द्रगुप्त के लिए। उसकी महत्वाकांक्षा अपनी महत्वाकांक्षा नहीं। स्थायी शांति के लिए वह कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का विवाह भी करा देता है। वास्तव में वह राजनीति का सर्वज्ञ था।

इस नाटक का नायक है चन्द्रगुप्त और राजनीति का सूत्रधार है चाणक्य। 'कार्नेलिया' को हम नायिका का स्थान देते हैं। वह ग्रीक होती हुई भी भारतीय हो गई है। चन्द्रगुप्त के प्रेम ने उसे सच्ची भारतीय नारी बना दिया है। दाण्ड्यायन के आश्रम में उसे सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त के दर्शन हुए तभी से वह यहाँ की भाषा, संगीत और रहन-सहन भी सीखती है।

उसका प्रेम सात्विक है, जिसका विकाश क्रमशः हुआ है। उसकी भावुकता और सहृदयता एक रमणी के उपयुक्त ही है।

इनके अतिरिक्त राक्षस, सिकन्दर, सेल्यूकस, पर्वतेश्वर, वररुचि, मालविका, कल्याणी एवं अलका आदि का चरित्र भी बड़े उज्ज्वल मनोवैज्ञानिक ढंग पर चित्रित हुआ है।

इस नाटक के गीत तो प्रसाद जी की अमूल्य रचनाएँ हैं। सुवासिनी की निम्न पंक्तियों में कोमल भाव की सूक्ष्मता तो देखिए—

हे लाज भरे सौंदर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

राक्षस भी इसके उत्तर में हँसी का शीत न लग जाय अतः दुर्बल आह बाहर निकलने से रोकता है—

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत।

कार्नेलिया के—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

आदि गीत में भारत की सुन्दर वसुन्धरा का कैसा मनोरम वर्णन है।

प्रेम के आवेश में गाया गया प्रत्येक गीत इस नाटक में मधु का प्याला ही है। देखिए पर्वतेश्वर के समक्ष गाती हुई अलका के गाने में मस्ती का कैसा आलम झूम रहा है—

समय-विहग के कृष्णपक्ष में रजत-चित्र-सी अंकित कौन—
तुम हो सुन्दरि तरल-तारिके ! बोलो कुछ, बैठो मत मौन !

मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान ?
रूप निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान !

अपने प्रिय के प्रेम में निमग्न कल्याणी की कुमुदबन्धु (चन्द्र) के प्रति विनय पर भी एक दृष्टि डालिए—

सुधा सीकर से नहला दो !
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने वश में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को—
बहला दो !

इसी प्रकार **'मधुप कब एक कली का है'** और **'सखे ! यह प्रेममयी रजनी'** आदि गीत भी अनुपम सौन्दर्य और सरसता से युक्त है।

वास्तव में यह नाटक अभिनेय हो या न हो परन्तु काव्य की दृष्टि से अनुपम रत्न है, राजनीति की मंजूषिका है और मधु का कोष है।

'ध्रुवस्वामिनी' यह नाटक तीन अंकों में समाप्त हुआ है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है। यह नाट्य-विधान पाश्चात्य ढंग पर है और केवल प्रयोगमात्र है। सम्भवतः इसकी शैली पर सिनेमा-शैली का प्रभाव है। निर्देश तो साक्षात् ऐसे ही हैं।

यह भी ऐतिहासिक नाटक है। मगधाधिपति चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त थे। उनकी पत्नी ध्रुवदेवी अनुपम सुन्दरी थीं। शकों ने मगध पर आक्रमण किया और रामगुप्त को षड्यन्त्र से सन्धि के लिए विवश किया, जिसके प्रस्ताव में ध्रुवदेवी का शकाधिपति को सौंपना भी था। चन्द्रगुप्त को यह बहुत बुरा लगा और ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण कर वह शकराज के पास गया और उसे मार डाला। इससे ध्रुवस्वामिनी की अनुरक्ति चन्द्रगुप्त पर हो गई, जिसका परिणाम हुआ दोनों भाइयों में वैमनस्य और रामगुप्त की हत्या। इसी पर इसका कथानक आधारित है।

इतिहास समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच किसी गुप्त राजा का नामोल्लेख नहीं करता परन्तु राजशेखर ने लिखा है—

दत्वारुद्धगति खसाधिपतये
देवीं ध्रुवस्वामिनीं।
यस्मात् खण्डित साहसी
निववृते श्रीरामगुप्तो नृपः।

ध्रुवस्वामिनी की मुक्ति बाणभट्ट की निम्न पंक्तियों से प्रतीत होती है।

'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशासयत्।'

पं० भाण्डारकर और जायसवाल जी ने भी रामगुप्त को ऐतिहासिक पुरुष माना है।

यह सब कुछ होते हुए भी इसकी ऐतिहासिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। देवर और भाभी का प्रेम-बन्धन भी उचित नहीं जँचता।

इस नाटक में ऐतिहासिकता की अपेक्षा समस्यामूलकता अधिक है। समस्या है मोक्ष अथवा तलाक की। सम्भवतः प्रसाद जी इसे उचित समझते थे। उनके समक्ष गृहसूत्रों का यह प्रमाण भी था—

नष्टे मृते प्रव्रजते, क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्च स्वपत्सु नारीणां, पतिरन्यो विधीयते॥

इन स्थितियों में से रामगुप्त क्लीव की स्थिति में था। पुरोहित रामगुप्त को क्लीव कहकर मोक्ष की आज्ञा भी देता है—"जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कोई संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।" परन्तु यह नहीं कह सकते कि रामगुप्त शरीरतः क्लीव था।

कुछ भी हो प्रसाद जी ने इस समस्या को इच्छा से या अनिच्छा से लोगों के समक्ष रक्खा है, ग्राह्य या अग्राह्य करना तो जनता-जनार्दन का ही काम है।

इसमें हिजड़े आदि से परिहास का वातावरण बड़ा मनोरंजक हो गया है। भाषा सरल है और सम्भाषण भी लघु हैं। इसमें कुछ गीत भी हैं जो बड़े सुन्दर हैं। यह नाटक भी प्रसाद के श्रेष्ठ नाटकों में से एक है।

प्रसाद की औपन्यासिक कला—

प्रसाद जी के तीन उपन्यास उपलब्ध हैं—कंकाल, तितली और इरावती (अपूर्ण)। 'कंकाल' सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ था और 'तितली' १९३४ में। यद्यपि 'तितली' का लिखना सन् १९३२ से आरम्भ हुआ था और जागरण में इसका धारावाहिक रूप से प्रकाशन हुआ था परन्तु जागरण के बन्द होने से इसका प्रकाशन रुक गया और सन् १९३४ में पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ। 'इरावती' जीवन के अन्तिम दिनों में लिखा गया परन्तु इसके पूर्ण

होने से पूर्व ही प्रसाद जी का स्वर्गवास हो गया अतः निधनोपरान्त इसका प्रकाशन हुआ।

प्रसाद जी नैसर्गिक कवि थे अतः नाटक, उपन्यास और यहाँ तक कि उनकी कहानी और निबन्धों में भी हम उनकी काव्य-कला की झाँकी पाते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में मानव-जीवन के सुन्दर और असुन्दर दोनों ही पक्षों का चित्रण किया है। इनका मानव-दर्शन पारदर्शक शीशे मे प्राप्त होने वाले लघु चित्र के पूर्ण एवं आकर्षक दर्शन के समान है। ये भारतीय संस्कृति के उपासक और अतीत के श्रद्धालु गायक हैं। अतः नवीन में भी उसकी योजना और स्थापना करते हैं। इन्होंने वर्त्तमान का चित्रण यथार्थ-प्रदर्शन के लिए ही किया है परन्तु आदर्श की स्थापना के लिये अतीत का ही सहारा लिया है अतः यथार्थवाद का पर्यवसान इन्होंने आदर्शवाद में ही किया है। मनुष्य राजनीति और समाजनीति से अनुचित लाभ उठा सकता है परन्तु वास्तविक कल्याण व्यक्तिगत साधना से ही होता है और उससे विश्व-कल्याण भी।

इनके उपन्यासों की कथावस्तु में दृढ़ बन्ध नहीं है। 'कंकाल' और 'तितली' दोनों ही उपन्यासों में आधिकारिक कथावस्तु के साथ एक प्रमुख प्रासंगिक कथावस्तु भी चलती है जो यद्यपि प्रमुख कथानक को आगे बढ़ाती है परन्तु कुछ स्वतंत्र रूप सा लिए हुए है। 'कंकाल' में देवनिरंजन और किशोरी की कथा के साथ-साथ मंगल और तारा की कथा भी चलती है। इसी प्रकार 'तितली' में मधुवन और तितली (बंजो) की आधिकारिक कथा के साथ इन्द्र-देव और शैला की प्रासंगिक कथा चलती है। 'कंकाल' में तीन उप-कथाएँ और भी हैं—(१) विजय और घण्टी की कथा, (२) बाथम और लतिका की कथा और (३) गाला-गूजर की। इसी प्रकार तितली में भी माधुरी और अनवरी आदि अंशतः उपकथाओं का सृजन करती हैं। परन्तु प्रसाद जी में एक विशेषता है कि वे कथानक के विकास में एक जान डालते हुए चलते हैं। यद्यपि दूर तक प्रमुख कथा चलती और पुनः प्रासंगिक कथावस्तु से दब सी जाती है परन्तु उससे बल पाती हुई पुनः उभरती है और विकसित होती है। इनके उपन्यासों की गति को हम आरोहावरोह युक्त कह सकते हैं।

'इरावती' ऐतिहासिक उपन्यास है परन्तु उसमें अनेक ऐतिहासिक भूलें हैं, यथा प्रसाद जी ने मौर्य सम्राट शतधनुष के पश्चात् बृहस्पतिमित्र को सिंहासनारूढ़ किया है जो असत्य है क्योंकि इतिहास के अनुसार उसके पश्चात् बृहद्रथ गद्दी पर बैठा था, जिसे उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर शुङ्ग वंश की नींव डाली थी। इसके अतिरिक्त शतधनुप के पश्चात् बृहस्पतिमित्र (इति-

हास सम्मत वृहद्रथ) के समय में डिमित एवं कलिंग-सम्राट् खारवेल का मगध पर आक्रमण भी इतिहास-विरुद्ध है क्योंकि खारवेल के शिला-लेख के अनुसार इसका एवं डिमित का समय १७५ ई० पूर्व है जबकि बृहस्पतिमित्र (इतिहास सम्मत वृहद्रथ) का समय १६२ ई० पूर्व था।

इनके उपन्यासों में नाटकीय तत्व भी मिलता है। 'कंकाल' और 'तितली' नाटक के दृश्यों की भाँति चार-चार खण्डों में विभक्त हैं। सम्भाषण में भी नाटकीय भाषा का सा आनन्द मिलता है। 'इरावती' भाषा और शैली की दृष्टि से चंद्रगुप्त और स्कंधगुप्त से अधिक मिलता है। कथनोपकथन का ढंग प्रायः नाटकीय ही है। परन्तु भाषा उनसे कहीं-कहीं कठिन हो गई है तथा ऐतिहासिकता में उनसे अधिक स्वच्छन्दता का प्रयोग किया गया है।

'कंकाल' घटनाप्रधान है, अतः उसमें यथार्थ की प्रधानता है, 'तितली' कथा-प्रधान है अतः उसमें यथार्थ की समाप्ति आदर्श में हुई है और 'इरावती' में ऐतिहासिकता प्रमुख है किन्तु यहाँ भी आदर्श की ओर झुकाव है। वास्तव में प्रसाद का अतीत-चित्रण आदर्श से रिक्त नहीं।

'कंकाल' की रचना उस समय हुई थी जब कि चन्द्रगुप्त जैसा प्रौढ़ नाटक प्रसाद जी ने लिख लिया था अतः इस उपन्यास में भी प्रौढ़ता है। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त में एक भारतीय गणराज्य-संघ स्थापित करने का ध्येय था, उसी प्रकार इसमें भी एक भारत-संघ की योजना का प्रयत्न है। इस संघ का उद्देश्य आर्य-संस्कृति का फैलाना है जिसमें जातीयता एवं साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर मानवता के ही महत्व का प्रचार है। मानव-समाज में पुरुष ही नहीं स्त्री का स्थान भी ऊँचा है और होना चाहिए, यह भी इसका ध्येय है।

यह एक सामाजिक उपन्यास है, जिसमें समाज के विकृत रूप का चित्रण है। इसमें पात्रों में ऊँचापन भर कर भी उनकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला गया है। प्राचीन कथानक में समाज के ऐसे विकलांग का दर्शन कराया है, जो कुरुचिपूर्ण एवं अनुपचार्य सा प्रतीत होता है। पात्र प्रायः दुराचारपूर्ण से चित्रित किए गए हैं। किशोरी व्यभिचारिणी है, तारा विधवा से उत्पन्न लड़की है जो गुह्य प्रेम का परिणाम है और युवती होने पर एक वेश्या के यहाँ रहती है तथा एक पुत्र को जन्म भी देती है, गाला हत्यारे की पुत्री है और घंटी एक चरित्रहीन बाल-विधवा है। पुरुषों में श्रीचन्द किशोरी को परित्यक्त सा कर देता है और स्वयं एक विलासी धनिक है। देवनिरञ्जन पहले तो साधु बनता और पुनः उसी वेश में किशोरी से व्यभिचार में लीन रहता है। तारा के गर्भ रहने पर मंगल उसे विवाह से पूर्व ही छोड़ जाता है और किशोरी का जारज पुत्र विजय तो

महान् दुराचारी है। बाथम भी एक धनलोलुप एवं बहाने से धर्म की आड़ में शिकार खेलने वाला ईसाई है।

इन सभी पात्रों के जीवन को दलदल में फँसाकर एक सुन्दर भूमि पर लाने का प्रयत्न इस उपन्यास में है। अन्त में उपर्युक्त भारतीय आर्य-संघ की स्थापना की गई है।

इसमें व्यंग्य की प्रधानता है। पात्रों में गुह्य दुराचार, साधु-मण्डली का दम्भ एवं तीर्थों में पापाचार आदि ऐसी बातें इसमें चित्रित हुई हैं जो वास्तव में गलितांग समाज पर व्यंग्य कसना ही है। इसी लिये इसमें यथार्थ का चित्रण हुआ है और दुःखान्त घटना में इसका पर्यवसान है।

इसमें कथावस्तु की प्रधानता नहीं है, घटनाओं को विशेष महत्व दिया गया है तथा चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता तो है परन्तु उन्हें घटनाओं के अनुसार ही ढाला गया है। उपर्युक्त पात्रों का चरित्र इस बात का प्रमाण है। इसमें एक-दो पात्र ही ऐसे हैं जो उच्च-कोटि के हैं यथा गोस्वामी। परन्तु प्रसाद जी का लक्ष्य शेष चरित्रों से भी आदर्श-संस्थापन की ओर ही रहा है। पुरुष स्त्री को उपभोग्य समझता है अतः उसकी इस भोगेच्छा के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों की क्या दुरवस्था होती है यही इसमें चित्रित है।

इसमें प्राचीन समाज में व्याप्त दम्भ, पापाचार एवं कुप्रथाओं का चित्रण तो है परन्तु वह आज के ही प्रकाश में। वास्तव में आज का ही कृत्रिम एवं विडम्बनापूर्ण जीवन इसमें अंकित हुआ है। किन्तु साथ ही प्रसाद जी की संस्कारवादिता भी सिद्ध होती है। किशोरी और देवनिरंजन का तीर्थों में संयोग दैववश ही हुआ है। इसी प्रकार मंगल तारा की सहायता को जाता है परन्तु वन में जाने पर दैव गाला से मिला देता है।

कंकाल की भाषा प्रौढ़ एवं संस्कृतगर्भित है। अनेक स्थलों पर भाषा में नाटकीय शैली भी दीख पड़ती है। कहीं-कहीं प्रसाद गद्य से ऊब कर गा भी पड़ते हैं। घण्टी गाती है—

पिया के हिया में परी है गाँठ मैं कवने जतन से खोलूँ।

और कहीं-कहीं तो गद्य में भी काव्य का आनन्द आता है—

"जूही की प्यालियों में मकरन्द-मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था।"

तितली

संक्षिप्त कथा—धामपुर के ज़मींदार इन्द्रदेव इंग्लैंड से लौटे हैं और अपने

साथ एक अंग्रेज युवती शैला भी लाए हैं। उनकी ज़मीदारी में बंजरिया में एक वृद्ध रामनाथ और बंजो उपनाम तितली रहते थे। मधुवन भी इन्हीं के पास रहता था। रामनाथ ग्रामीणों को पढ़ाया करता था। तितली रामनाथ की पुत्री नहीं थी वरन् उसके स्वामी देवनन्दन की पुत्री थी जो देवनन्दन की अवस्था बिगड़ जाने पर और वहाँ से चले जाने पर उसे एक स्टेशन पर भिखमंगों में मिली थी। मधुवन शेरकोट के ज़मीदार का पुत्र था परन्तु धामपुर के ज़मीदार से मुकद्दमे में हार जाने पर वह अपनी बहिन राजकुमारी से अलग रामनाथ के पास ही रहता था।

शैला इन्द्रदेव के परिवार में कलह का कारण हुई। इन्द्रदेव की माँ श्यामदुलारी को उसके आने से बड़ा दुख हुआ। इन्द्रदेव की बहिन माधुरी धामपुर में ही रहती थी क्योंकि उसके पति श्यामलाल शराबी और व्यभिचारी थे। माधुरी का पुत्र कृष्णमोहन पढ़ता था। माधुरी को चिंता थी कि यदि शैला से इन्द्रदेव का विवाह हो गया तो उसका और उसके पुत्र का क्या होगा।

नगर में अनवरी नाम की एक चरित्रहीन डाक्टरनी भी थी, जो शैला को मार्ग से हटाना चाहती थी अतः माधुरी से उसकी खूब पटती थी। अनवरी और माधुरी ने षडयंत्र से श्यामकुमारी को उसी घर में लाकर रक्खा, जहाँ गाँव में इन्द्रदेव और शैला रहते थे ताकि माँ उसे अछूत समझकर अपमानित करे।

वहाँ का तहसीलदार मधुवन की अकड़ से उससे चिड़ता था। जब कलक्टर साहब पधारे और उन्होंने ग्रामसुधार की योजना बनाई तो तहसीलदार के कहने से औषधालय आदि के लिए शेरकोट को ही उपयुक्त समझा गया। इन्द्रदेव ने ग्रामसुधार का काम शैला के सुपुर्द कर दिया। उसे जब तहसीलदार के षड्यंत्र का पता चला तो उसने शेरकोट के स्थान पर नीलकोठी को अच्छा समझा, जिसके स्वामी थे बर्टली साहब जो वास्तव में शैला का मामा था।

शैला विरोध से परिचित हो गई थी। उसने स्वतंत्र रूप से कार्य करना सोचा। वह रामनाथ से पढ़ती थी। उसने हिन्दू होने की इच्छा प्रकट की। रामनाथ ने मधुवन और तितली का विवाह और शैला की दीक्षा का दिन निश्चित कर दिया। उधर अनवरी और माधुरी चाहती थीं कि यदि तितली का विवाह इन्द्रदेव से हो जाय तो शैला मार्ग से हट जायगी। तितली से इन्द्रदेव और शैला का परिचय शिकार खेलते हुए हो भी चुका था अतः शैला का वहाँ आना-जाना और पढ़ना चल रहा था। माधुरी ने सुखदेव चौबे को राजकुमारी के पास मधुवन और तितली का विवाह रोकने के लिए भेजा। राजकुमारी सुखदेव से मन ही मन प्रेम करती थी अतः उसने उसकी बात मान ली। परन्तु

रामनाथ ने कोई चिन्ता न की और विरोध के होते हुए भी दोनों कार्य सम्पादित कर दिए ।

एक दिन श्यामलाल धामपुर आया । उसने शैला से अशिष्टता दिखाई । शैला ने इन्द्रदेव से कहा, जिससे वे बड़े दुखी हुए । इन्द्रदेव शैला से प्रेम करते थे अतः कलक्टर वाटसन के साथ शैला का खुला व्यवहार उन्हें खलता था । एक दिन उन्होंने श्यामलाल और अनवरी को अनाचार करते देख लिया जिससे वे क्षुब्ध होकर वहाँ से चले गए । श्यामलाल अपने साथ एक पहलवान भी लाया था । एक दिन दंगल हुआ, जिसमें मधुवन ने उस पहलवान को पछाड़ दिया । इससे तहसीलदार और भी जलने लगा । तदनन्तर श्यामलाल अनवरी को लेकर कलकत्ता चला गया । शैला ने माधुरी को सान्त्वना दी, जिससे माधुरी शैला को शुभचिन्तक समझने लगी । श्यामदुलारी ने जमींदारी का दानपत्र माधुरी के नाम लिखना चाहा और शैला से सलाह की । तदनन्तर श्यामदुलारी, शैला और माधुरी इस कार्य के लिए शहर गए ।

इधर गाँव में एक विवाह हुआ, जिसमें मैना वेश्या का नाच था । राजकुमारी भी शेरकोट से देखने आई । अधिक रात्रि होने से वह शेरकोट चलदी, मार्ग में चौबे जी मिल गए और दोनों पाप-लिप्त होकर शेरकोट चल दिए । उधर एक हाथी बिगड़कर मैना पर झपटा और मधुबन मैना को बचाकर शेरकोट की ओर भागा । मार्ग में चौबे को देखकर जल गया और उसे खूब मारा । चौबे ने तितली से मैना की बात कह दी जिससे तितली को मधुबन पर सन्देह हुआ ।

रामजस मधुबन का मित्र था । तहसीलदार और चौबे ने उसे भी बहुत सताया । जब उसने चौबे की ये करतूतें सुनीं तो और भी जल गया । एक दिन वह अपने नीलाम हुए खेत से होले खाने लगा और साथ में और भी लड़के थे । वहाँ फौजदारी हो गई, जिसमें रामजस के साथ मधुबन ने भी भाग लिया । मधुबन पर मुकद्दमा चला । लड़ने के लिए रुपये न थे अतः वह रात्रि में राजकुमारी को लेकर महंत के पास गया । वहाँ दुष्ट ने राजकुमारी को बुरी इच्छा से पकड़ लिया । वह चिल्लाई, मधुबन ने महन्त का गला घोंटकर मूर्च्छित कर दिया और रुपये लेकर भाग गया । भागकर वह मैना के यहाँ पहुचा और प्रातः ही वहाँ से बनारस भाग गया ।

इन्द्रदेव धामपुर से बनारस ही चले आए थे और वकालत करते थे । वे जिस परिवार में ठहरे थे, रजिस्ट्री के लिए गई हुई श्यामदुलारी भी वहीं ठहरी । इन्द्रदेव ने शैला से सारी बात जानकर माँ के नाम रजिस्ट्री

कर दी। वहीं वकील करने के लिए तितली भी पहुँच गई परन्तु इन्द्रदेव का नाम सुनकर वह वहाँ से चली गई। परिवार की मालकिन नन्दरानी के प्रयत्न से इन्द्रदेव का विवाह शैला से हो गया।

मधुबन गाँव के ही एक लड़के रामदीन के साथ, जो रिफार्मेटरी स्कूल से अभी आया था, कलकत्ते चला गया। यहाँ पहले कुलीगीरी की पुनः बीरू नामक एक गिरोहपति के प्रयत्न से रिक्शा हाँकने लगा। एक दिन नशे में चूर श्यामलाल और मैना रिक्शा में सवार हुए। श्यामलाल बार-बार शीघ्र चलने के लिए कहता था। मधुबन को क्रोध आ गया और उसने दोनों को पटक दिया और मारा भी। इसी समय पुलिस भी आ गई और दोनों को थाने ले गई। वहाँ मैना ने मधुबन को पहचान लिया। मधुबन पर पिछले अभियोग भी चले और उसे दस वर्ष की सजा हुई।

इधर तितली ने मन को धैर्य दिया और एक स्कूल चलाया। शैला ने भी सहायता दी। श्यामदुलारी बीमार पड़ गई थी। अब उसका मन भी द्रवित हो गया था और माधुरी भी पिघल गई थी। परिवार में प्रेम बढ़ने लगा और शीघ्र ही सुखमय वातावरण हो गया।

उधर मधुबन ने जेल में अच्छा व्यवहार दिखाया जिससे अवधि से दो वर्ष पूर्व ही वह छोड़ दिया गया। वह वहाँ से कलकत्ते के पुराने साथी मनीगोपाल के साथ हरिहर क्षेत्र के मेले में चला गया। वहाँ चौकीदारी कर ली। वहाँ उसने एक दिन मैना के गाने की आवाज़ सुनी और पास के तम्बुओं में चौबे और तहसीलदार को बातें करते हुए सुना। वे दोनों गाँव से निकाल दिए गये थे और महन्त के साथ इस मेले में आये थे। इस बातचीत से उसे यह भी पता चला कि तितली के पुत्र उत्पन्न हुआ था। उसे सन्देह हुआ और मनीगोपाल से गाँव जाने की सलाह की। रात को एक हाथी बिगड़ गया, जिसने चौबे, तहसीलदार और मैना को कुचल दिया और महंत भी आहत हुआ। प्रातः मधुबन घर चल दिया।

धामपुर स्वर्ग बन गया था। तितली का पुत्र मोहन चौदह वर्ष का हो गया था। रामजस के साथ वह प्रायः रहता था। रामजस ने उससे पिछली सारी घटनाएँ कह दी थीं। एक दिन रात के अँधेरे में आते हुए मधुबन को भूत समझकर वह दौड़ा आया और उसे बुखार हो गया। किवाड़ बन्द कर माता ने उसे सुला लिया और वह सोचने लगी कि मोहन बड़ा होकर मुझे कलंकिनी समझेगा। उद्विग्न होकर वह गंगा में डूबने के लिए चली परन्तु ज्यों ही दरवाज़ा खोला, उसे मधुबन खड़ा दिखाई दिया।

तितली की समीक्षा—तितली एक कथा-प्रधान उपन्यास है और इसमें आदर्शवाद की प्रधानता है अतएव इसका अन्त सुखमय है। इसमें मानव-जीवन के विविध रूप बड़े सुन्दर और स्वाभाविक रूप में चित्रित हुए हैं। इसमें दो समस्याएँ उलझती-सुलझती चलती हैं—एक तो ग्रामीण-जीवन की समस्या और दूसरी पारिवारिक समस्या। प्रथम समस्या अंग्रेजी शासन के अनाचारपूर्ण व्यवहार से जटिल थी, जिसमें अन्नदाता किसान अधिकारियों, ज़मीदारों एवं कारिन्दों का शिकार होता था तथा उसका धन-मान आदि सभी कुछ लुटता था और दूसरी जिसमें भारत के धनिक परिवारों के षड्यन्त्र, कलह एवं उखाड़-पछाड़ और विलास के चित्र हैं।

इन दोनों समस्याओं का यथार्थ चित्रण है परन्तु प्रत्येक चरित्र के चित्रण से आदर्श उपस्थित किया है। तितली, मधुवन, इन्द्रदेव एवं शैला सभी आदर्श चरित्र हैं। कंकाल में यथार्थवाद की प्रधानता है, जबकि इसमें आदर्श-वाद की। वह घटना-प्रधान है और यह चरित्र-प्रधान। नाटकीय शैली एवं काव्य का रसास्वादन दोनों में मिलता है। तितली की भाषा कंकाल से अपेक्षा-कृत सरल है। तितली में भी कंकाल की भाँति कवि लेखक गा उठा है—

मदमाती कोइलिया बोले डार-डार।

प्रसाद भाग्यवादी थे अतः कंकाल की भाँति इस उपन्यास में भी नियति का खेल दिखाई देता है। शेरकोट का उत्तराधिकारी रामनाथ के पास रहता है, तितली से उसका विवाह होता है, भागा-भागा फिरता है, जेल जाता है और लन्दन की भिखारिन शैला यहाँ के ज़मीदार इन्द्रदेव की गृहिणी बनती है तथा चौबे, तहसीलदार और मैना कलकत्ते में हाथी के पैरों कुचले जाते हैं; ये सब नियति के ही खेल हैं।

कंकाल में भी दो कथाएँ हैं और इसमें भी दो हैं—एक तितली और मधुवन की दूसरी शैला और इन्द्रदेव की। परन्तु दोनों में सामंजस्य है। प्रधान-कथा तितली और मधुवन की है, उसमें द्वितीय कथा ने योग ही दिया है और वह भी रोचकता से।

इस उपन्यास में भी प्रेमचन्द के सेवासदन एवं प्रेमाश्रम की भाँति प्रारम्भ में रामनाथ का एवं अन्त में तितली का विद्यालय स्थापित हुआ है। धामपुर भी प्रेमाश्रम के लखनपुर की भाँति अन्त में स्वर्ग बन गया है।

इसकी कथावस्तु कंकाल की अपेक्षा आधुनिकता अधिक लिए हुए है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास उससे कहीं श्रेष्ठ है। इसमें कंकाल की

वहाँ की किशोरी आदि इनके पासंग में भी नहीं। तितली तो आर्य नारी का पूर्ण आदर्श है। उसका साहस, धैर्य और कार्यपटुता आदि गुण श्रद्धा के उद्‌भावक हैं। रामनाथ के चरित्र में हम एक गान्धी जी के भक्त को देखते हैं। इन्द्रदेव और मधुवन दोनों में परिस्थिति-भेद तो है परन्तु स्वभाव प्रायः सम स्तर का है। राजकुमारी साधारण कोटि की विधवा, अनवरी एक अविवाहित डाक्टरनी, माधुरी एक परित्यक्ता एवं श्यामदुलारी एक राजमाता के वास्तविक नमूने हैं। चौबे, तहसीलदार एवं महंत भी अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसमें नगर और ग्राम का वास्तविक रूप हमारे सामने उपस्थित होता है, वहाँ के जीवन के प्रत्येक रूप पर प्रकाश डाला गया है। ग्राम के किसान भी हैं, खेती भी है, झगड़े भी हैं; अधिकारियों से भिड़न्त भी है और मर्यादित प्रेम भी है तथा नगर का विलासमय जीवन भी है, षड्‌यत्र भी है, कलह भी है, दम्भ भी है और उच्छृंखलता भी है।

वास्तव में यह उपन्यास प्रसाद जी की अमर कृति है।

प्रसाद की कहानी कला—

प्रसाद जी ने सर्वप्रथम 'चित्राधार' में दो कथाएँ प्रकाशित कीं—ब्रह्मर्षि और पंचायत। ये दोनों पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखती हैं अतः दोनों धार्मिक हैं। 'ब्रह्मर्षि' में राजर्षि विश्वामित्र का ब्रह्मर्षि बनने के लिए वशिष्ठ से द्वन्द्व-युद्ध है। 'पंचायत' में स्कन्द और गणेश में कौन बड़ा है इसका समाधान है।

ये दोनों ही कथाएँ उच्च-कोटि की नहीं। भाषा और भाव की दृष्टि से ये प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ होने की स्पष्ट ही सूचना देती हैं। 'सभी ने' के स्थान पर 'सभों ने' का प्रयोग इन पर ब्रजभाषा के प्रभाव की उद्‌घोषणा करता है। उस समय ये कविता तो ब्रजभाषा में लिखते ही थे।

इनका सर्वप्रथम मौलिक कहानियों का संग्रह था 'छाया' जिसमें पाँच कहानियाँ संग्रहीत थीं। यही हिन्दी का प्रथम मौलिक कहानी-संग्रह है। इसकी 'ग्राम' नामक कहानी प्रसाद की सर्वप्रथम कहानी थी, जो इन्दु में सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। छोटी-छोटी आख्यायिकाओं में घटनाओं का पूर्ण चित्र न होने और केवल उनकी छाया रहने के कारण ही इस संग्रह का नाम 'छाया' रखा था। इसके सन् १९१८ के द्वितीय संस्करण में छः कहानियाँ और बढ़ा दी गईं।

'छाया' की कहानियों में द्विवेदी युग की स्थूलता है। भाषा में भी पूर्ण निखार नहीं और न अबाध गति है। कथानक का विकास प्रायः मन्द है और कथनोपकथन भी शैथिल्यपूर्ण है। इनमें से अशोक, जहाँनारा आदि जो ऐति-

हासिक कहानियाँ हैं, वे भी कला की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं।

सन् १९२६ में इनका 'प्रतिध्वनि' नामक कहानी-संग्रह निकला, जिसमें १५ कहानियाँ संग्रहीत हैं। ये सभी कहानियाँ छोटी हैं परन्तु 'छाया' की कहानियों से उत्तम हैं। उनकी अपेक्षा इनमें सूक्ष्मता है। जहाँ उनमें यथार्थ एवं आदर्श का चित्रण था, इनमें हृदयहारिता के साथ प्रभाव-स्थायिता भी है। इन में कवि प्रसाद की मधुर उद्भावनाएँ देखने को मिलती हैं, जो मन को मोहती हैं, मस्तिष्क को शान्ति देती हैं और आत्मा में समुज्ज्वलता लाती हैं।

ये कहानियाँ कवि-कृति हैं अतः कहानी में कविता का आनन्द मिलता है। इनमें 'प्रलय' रहस्यात्मक कहानी है।

'गूदड़ साईं', 'पाप की पराजय' एवं 'प्रतिमा' में मनोभावों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण हुआ है। 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' में ऐतिहासिकता की झलक है और 'कलावती की शिक्षा' में समाज की कुत्सा का चित्र है।

ये कहानियाँ छोटी हैं अतः इनमें भी चरित्र-चित्रण उचित ढंग से नहीं हुआ। इन सब में 'गूदड़ साईं' और 'पाप की पराजय' श्रेष्ठ कहानियाँ हैं क्योंकि इनमें भावों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

इसके पश्चात् सन् १९२९ में इनकी दो संग्रह-रचनाएँ प्रकाशित हुई— (१) आकाशदीप और (२) आँधी। 'आकाशदीप' में १९ और 'आँधी' में ११ कहानियाँ हैं।

'आकाशदीप' की कहानियाँ इनकी कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। 'प्रतिध्वनि' की भाँति इसमें भी 'हिमालय का पथिक' और 'बैरागी' आदि छोटी कहानियाँ हैं, जिनमें गद्य-गीत का आनन्द मिलता है। इन सब में 'आकाशदीप' ही सर्व-श्रेष्ठ है, जो जावा आदि द्वीपों में भारतीय उपनिवेश की याद दिलाती है। इसे हम ऐतिहासिक कहानी कह सकते हैं। इस संग्रह की ऐतिहासिक कहानियों में 'स्वर्ग के खण्डहर में' नामक कहानी बडी सुन्दर है। ये दोनों कहानियाँ कथानक की दृष्टि से साधारण व्यक्ति के लिए बड़ी जटिल हैं।

इस संग्रह की कहानियों में भाषा परिमार्जित है और शैली में प्रवाह एवं माधुर्य है तथा प्रसाद की काव्य-प्रियता और दार्शनिक गम्भीरता स्पष्ट झलकती है। इन कहानियों को ही पढ़कर एक व्यक्ति कह सकता है कि यह लेखक कवि होना चाहिये और वह भी छायावादी।

'आँधी' की कहानियों में हम एक विशेषता देखते हैं और वह यह है कि उनमें मानव जीवन का वास्तविक चित्रण है। 'मधुआ' इसकी सर्व-श्रेष्ठ कहानी है। इसमें 'दासी', 'व्रतभंग' और 'पुरस्कार' ऐतिहासिक हैं।

वहाँ की किशोरी आदि इनके पासंग में भी नहीं। तितली तो आर्य नारी का पूर्ण आदर्श है। उसका साहस, धैर्य और कार्यपटुता आदि गुण श्रद्धा के उद्भावक हैं। रामनाथ के चरित्र में हम एक गान्धी जी के भक्त को देखते हैं। इन्द्रदेव और मधुवन दोनों में परिस्थिति-भेद तो है परन्तु स्वभाव प्रायः सम स्तर का है। राजकुमारी साधारण कोटि की विधवा, अनवरी एक अविवाहित डाक्टरनी, माधुरी एक परित्यक्ता एवं श्यामदुलारी एक राजमाता के वास्तविक नमूने हैं। चौबे, तहसीलदार एवं महंत भी अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसमें नगर और ग्राम का वास्तविक रूप हमारे सामने उपस्थित होता है, वहाँ के जीवन के प्रत्येक रूप पर प्रकाश डाला गया है। ग्राम के किसान भी हैं, खेती भी है, झगड़े भी हैं; अधिकारियों से भिड़न्त भी है और मर्यादित प्रेम भी है तथा नगर का विलासमय जीवन भी है, षड्यन्त्र भी है, कलह भी है, दम्भ भी है और उच्छृंखलता भी है।

वास्तव में यह उपन्यास प्रसाद जी की अमर कृति है।

प्रसाद की कहानी कला—

प्रसाद जी ने सर्वप्रथम 'चित्राधार' में दो कथाएँ प्रकाशित कीं—ब्रह्मर्षि और पंचायत। ये दोनों पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखती हैं अतः दोनों धार्मिक हैं। 'ब्रह्मर्षि' में राजर्षि विश्वामित्र का ब्रह्मर्षि बनने के लिए वशिष्ठ से द्वन्द्व-युद्ध है। 'पंचायत' में स्कन्द और गणेश में कौन बड़ा है इसका समाधान है।

ये दोनों ही कथाएँ उच्च-कोटि की नहीं। भाषा और भाव की दृष्टि से ये प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ होने की स्पष्ट ही सूचना देती हैं। 'सभी ने' के स्थान पर 'सभों ने' का प्रयोग इन पर ब्रजभाषा के प्रभाव की उद्घोषणा करता है। उस समय ये कविता तो ब्रजभाषा में लिखते ही थे।

इनका सर्वप्रथम मौलिक कहानियों का संग्रह था 'छाया' जिसमें पाँच कहानियाँ संग्रहीत थीं। यही हिन्दी का प्रथम मौलिक कहानी-संग्रह है। इसकी 'ग्राम' नामक कहानी प्रसाद की सर्वप्रथम कहानी थी, जो इन्दु में सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। छोटी-छोटी आख्यायिकाओं में घटनाओं का पूर्ण चित्र न होने और केवल उनकी छाया रहने के कारण ही इस संग्रह का नाम 'छाया' रखा था। इसके सन् १९१८ के द्वितीय संस्करण में छः कहानियाँ और बढ़ा दी गईं।

'छाया' की कहानियों में द्विवेदी युग की स्थूलता है। भाषा में भी पूर्ण निखार नहीं और न अबाध गति है। कथानक का विकास प्रायः मन्द है और कथनोपकथन भी शैथिल्यपूर्ण है। इनमें से अशोक, जहाँनारा आदि जो ऐति-

हासिक कहानियाँ हैं, वे भी कला की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं।

सन् १६२६ में इनका 'प्रतिध्वनि' नामक कहानी-संग्रह निकला, जिसमें १५ कहानियाँ संग्रहीत हैं। ये सभी कहानियाँ छोटी हैं परन्तु 'छाया' की कहानियों से उत्तम हैं। उनकी अपेक्षा इनमें सूक्ष्मता है। जहाँ उनमें यथार्थ एवं आदर्श का चित्रण था, इनमें हृदयहारिता के साथ प्रभाव-स्थायिता भी है। इन में कवि प्रसाद की मधुर उद्भावनाएँ देखने को मिलती हैं, जो मन को मोहती हैं, मस्तिष्क को शान्ति देती हैं और आत्मा में समुज्ज्वलता लाती हैं।

ये कहानियाँ कवि-कृति हैं अतः कहानी में कविता का आनन्द मिलता है। इनमें 'प्रलय' रहस्यात्मक कहानी है।

'गूदड़ साईं', 'पाप की पराजय' एवं 'प्रतिमा' में मनोभावों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण हुआ है। 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' में ऐतिहासिकता की झलक है और 'कलावती की शिक्षा' में समाज की कुत्सा का चित्र है।

ये कहानियाँ छोटी हैं अतः इनमें भी चरित्र-चित्रण उचित ढंग से नहीं हुआ। इन सब में 'गूदड़ साईं' और 'पाप की पराजय' श्रेष्ठ कहानियाँ हैं क्योंकि इनमें भावों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

इसके पश्चात् सन् १६२६ में इनकी दो संग्रह-रचनाएँ प्रकाशित हुईं—(१) आकाशदीप और (२) आँधी। 'आकाशदीप' में १६ और 'आँधी' में ११ कहानियाँ हैं।

'आकाशदीप' की कहानियाँ इनकी कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। 'प्रतिध्वनि' की भाँति इसमें भी 'हिमालय का पथिक' और 'बैरागी' आदि छोटी कहानियाँ हैं, जिनमें गद्य-गीत का आनन्द मिलता है। इन सब में 'आकाशदीप' ही सर्व-श्रेष्ठ है, जो जावा आदि द्वीपों में भारतीय उपनिवेश की याद दिलाती है। इसे हम ऐतिहासिक कहानी कह सकते हैं। इस संग्रह की ऐतिहासिक कहानियों में 'स्वर्ग के खण्डहर में' नामक कहानी बड़ी सुन्दर है। ये दोनों कहानियाँ कथानक की दृष्टि से साधारण व्यक्ति के लिए बड़ी जटिल हैं।

इस संग्रह की कहानियों में भाषा परिमार्जित है और शैली में प्रवाह एवं माधुर्य है तथा प्रसाद की काव्य-प्रियता और दार्शनिक गम्भीरता स्पष्ट झलकती है। इन कहानियों को ही पढ़कर एक व्यक्ति कह सकता है कि यह लेखक कवि होना चाहिये और वह भी छायावादी।

'आँधी' की कहानियों में हम एक विशेषता देखते हैं और वह यह है कि उनमें मानव जीवन का वास्तविक चित्रण है। 'मधुआ' इसकी सर्व-श्रेष्ठ कहानी है। इसमें 'दासी', 'व्रतभंग' और 'पुरस्कार' ऐतिहासिक हैं।

इनका अन्तिम संग्रह है 'इन्द्रजाल'। इसमें १४ कहानियाँ हैं। इसकी सभी कहानियाँ कहानी-कला के उत्तम नमूने हैं। 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'गुंडा' और 'सालवती' तो हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठतम कहानियों में से हैं। 'सालवती' इस संग्रह की सभी ऐतिहासिक कहानियों में जटिल होते हुए भी सुन्दर है। इन कहानियों में भी मानव-जीवन का ही विविध रूप से चित्रण है। भावों की सूक्ष्मता एवं भाषा की परिष्कृति तथा चरित्र-चित्रण की चारुता इन कहानियों की विशेषताएँ हैं।

प्रसाद जी की कहानियों का विभाजन स्थूल रूप में हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

ऐतिहासिक—तानसेन, शरणागत, सिकन्दर की शपथ, चित्तौर-उद्धार, अशोक, जहाँनारा, खंडहर की लिपि, चक्रवर्ती का स्तम्भ, आकाशदीप, ममता, स्वर्ग के खंडहर में, व्रतभंग, नूरी, गुंडा, विराम चिन्ह और सालवती आदि।

नग्न-प्रेम-संबन्धी—रसिया बालम और प्रणय-चिन्ह आदि।

मनोवैज्ञानिक—प्रतिमा और परिवर्तन आदि।

रहस्यात्मक—प्रलय और समुद्र-संतरण आदि।

सामाजिक—विजया (विधवा-विवाह-सम्बन्धी) और विराम-चिन्ह (हरिजन-सम्बन्धी) आदि।

इनकी अधिकांश कहानियों में प्रेम-तत्व की व्याप्ति तथा कल्पना की कोमल उड़ान है अतः अभिव्यंजनात्मक शैली की छाप है। इन कहानी-संग्रहों में कला-विकास क्रमशः हुआ है यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद जी प्रेमचन्द जी की भाँति कहानी-सम्राट तो नहीं परन्तु इस क्षेत्र में ऊँचे स्थान पर समासीन हैं।

प्रसाद की निबन्ध-कला—

प्रसाद जी ने अपने जीवन में लगभग बीस निबन्ध लिखे, जिनमें कुछ प्रारम्भिक साधारण निबन्ध हैं, कुछ ऐतिहासिक और कुछ साहित्यिक। इनकी तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है—

प्रारम्भिक विविध-विषयक—प्रकृति-सौंदर्य, भक्ति, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, चम्पू, कवि और कविता, कविता रसास्वाद, मौर्यों का राज्य-परिवर्तन, सरोज और हिन्दी-कविता का विकास।

ऐतिहासिक—चन्द्रगुप्त मौर्य और आर्यावर्त का प्रथम सम्राट्।

इनके अतिरिक्त राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और कामायनी की भूमिकाएँ भी ऐतिहा-

सिक निबन्ध ही हैं। परन्तु इनका निबन्ध के रूप में पृथक् प्रकाशन नहीं हुआ।

साहित्यिक निबन्ध—काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रंगमंच, आरम्भिक पाठ्य काव्य एवं यथार्थवाद और छायावाद।

प्रारम्भिक निबन्ध कालक्रम से इन्दु में प्रकाशित हुए थे। 'प्रकृति सौन्दर्य' 'भक्ति' और 'सरोज' ये तीन निबन्ध चित्राधार में संग्रहीत हुए और 'चम्पू' उर्वशी की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ था। शेष पुस्तकाकार में कभी संकलित नहीं हुए।

ये सभी निबन्ध साधारण कोटि के हैं। भाषा संस्कृतगर्भित है और शैली भी समस्त-सी है परन्तु वे परिष्कृत नहीं। उनमें गद्य-काव्य का सा आनन्द आता है। इनमें कवि प्रसाद की कल्पना, छायावादिता, काव्यानुराग और संस्कृत-प्रियता स्पष्ट झलकती है। 'सरोज' एवं 'चम्पू' आदि निबन्धों में संस्कृत के ग्रन्थों से उद्धरण दे देकर अपनी बात को पुष्ट करने की शैली अपनाई गई है। ये इनके प्रारम्भिक निबन्ध होने के साथ-साथ इस क्षेत्र में इनके प्रारम्भिक प्रयत्न को ही उद्घोषित करते हैं। इनमें शैली की विविधता तो दीख पड़ती है परन्तु भाषा का एक रूप ही है।

ऐतिहासिक निबन्ध प्राय: सभी नाटकों की भूमिका के रूप में ही लिखे गये। कामायनी का आमुख भी ऐतिहासिकता लिए हुए है। केवल 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट्' पृथक् प्रकाशित हुए थे। प्रथम पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था और पुन: 'चित्राधार' में संकलित हुआ। द्वितीय पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ और पुन: 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' में संग्रहीत हुआ।

ये सभी निबन्ध उच्च-कोटि के गवेषणात्मक निबन्ध हैं। इनसे प्रसाद जी के अगाध पाण्डित्य का पता चलता है और ज्ञात होता है कि पुराणों, बौद्ध-ग्रंथों एवं अन्य प्राचीन शास्त्रों का उन्होंने कितना अनुशीलन किया था। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' निबन्ध में चन्द्रगुप्त का मुरा नाइन से उत्पन्न बृषल के स्थान पर पिप्पली कानन का मोरिय क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए उन्होंने जिन युक्ति-प्रत्युक्ति एवं प्रमाणों का प्रयोग किया है, वे उनके प्रकाण्ड ऐतिहासिक ज्ञान, तार्किक बुद्धि एवं गवेषणात्मक मननशीलता का परिचय देते हैं। कामायनी के आमुख से भी उनका गम्भीर वैदिक साहित्य का अध्ययन विदित होता है। उनके प्रौढ़ साहित्यिक निबन्ध 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में संग्रहीत होकर प्रकाशित हुए। ये विश्लेषणात्मक निबन्ध हैं और इनमें पर्याप्त मौलिकता

है। इन्होंने काव्य की व्याख्या बड़े अनूठे ढंग से की है। नाटकों के विवेचन में 'भाँडों के अनुकरण को' संस्कृत के 'भाण' से प्रसूत हुआ और 'नौटंकी' को 'नाटकी' का अपभ्रंश मानते है। ये निबन्ध पूर्व-निबन्धों से उसी प्रकार प्रौढ़ हैं जसे पूर्व काव्य-ग्रन्थों से आँसू और कामायनी। प्रसाद छायावादी एवं रहस्य-वादी कवि थे और थे उच्च-कोटि के नाटककार एवं कथाकार अतः उन्होंने इन निबन्धों में साहित्य के विविध अंगों एवं वादों के सम्बन्ध में बड़ा गम्भीर विवेचन किया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

दार्शनिक कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी का जन्म मेदनीपुर, बंगाल में सन् १८९६ (सं० १९५३) में हुआ था। इनके पिता पं० रामसहाय जी मूलतः उन्नाव जिलान्तर्गत गढ़ाकोला गाँव के निवासी थे किन्तु बंगाल की महिषादल रियासत में नौकर होने के कारण मेदनीपुर में आ बसे थे। यहाँ सूर्यकान्त जी का जन्म हुआ। बंगाल में उत्पन्न होने और जन्मतः वहीं रहने के कारण बंगला इनकी मातृभाषा हो गई। मेदनीपुर में ही इनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। इनकी प्रतिभा बाल्यकाल से ही प्रखर थी अतः बँगला में पद्य-रचना ये सातवीं-आठवीं कक्षा से ही करने लगे थे। १६-१७ वर्ष को अवस्था में इन्होंने वहीं के राजकीय स्कूल से दशम कक्षा पास की किन्तु इसके पश्चात् ही इनके जीवन में विषमता प्रारम्भ हो गई और आगे शिक्षा न हो सकी। अध्ययन-काल में इन्हें संगीत की शिक्षा भी मिली थी। तेरह वर्ष की अवस्था में ही इनका विवाह हो गया था। पत्नी का नाम मनोहरादेवी था, जिससे दो सन्तान हुईं—एक पुत्र और एक पुत्री।

जब इनकी अवस्था २० वर्ष की ही थी, इनके पिता का देहान्त हो गया और इन्हें रियासत में एक छोटी नौकरी करनी पड़ी। दैवी प्रकोप भड़क रहा था, इन पर दुर्भाग्य आघात पर आघात करने लगा। साल डेढ़ सालके पश्चात् ही इनफ्लुएंजा की महामारी बड़े विकराल रूप से फैली और इनकी पत्नी काल के कराल गाल में चली गई। इन्हें तार से उनकी बीमारी का समाचार मिला था परन्तु इनके पहुँचने से पूर्व ही वे जीवन-लीला समाप्त कर चुकी थीं। शीघ्र ही ये घर पहुँचे परन्तु केवल दो दिन में ही इनके ज्येष्ठ भ्राता, भाभी, भतीजा और दादा भी इस संसार को त्याग कर परलोक सिधारे। इनका हृदय—दार्शनिक हृदय—इन आघातों को सहन कर सृष्टि के अलक्ष्य विधान पर विचार करने लगा। परिवार तो समाप्तप्राय था, अब केवल उसमें इनके अतिरिक्त छः प्राणी थे, जिनमें दो

इनकी संतान और चार इनके दादा के पुत्र थे। आर्थिक स्थिति बड़ी विषम थी, आजीविका का कोई विशेष साधन न था और पैतृक सम्पत्ति भी कोई विशेष नहीं थी और उस पर भी छः प्राणियों के पालन-पोषण का भार था अतः जीवन भी विषम चाल से चलने लगा।

इस महामारी की ऐसी गहरी छाप इनके हृदय पर लगी कि इन्होंने अपने 'अलका' नामक उपन्यास की पृष्ठभूमि इसी पर आधारित की। इस उपन्यास का नायक विजय और नायिका शोभा के परिवार के सभी व्यक्ति महामारी से कालकवलित हो जाते हैं। वास्तव में यह इन्हीं के जीवन की एक झाँकी है।

कर्त्तव्यशील युवक ने विपत्तियों से प्रेम करना प्रारम्भ किया। इष्ट मित्रों ने पुनः विवाह-बन्धन में बँध जाने का अनुरोध किया परन्तु इन्होंने स्वीकृत न किया और दैवादेश को आज्ञाकारी की भाँति शिरोधार्य किया। द्वितीय बार पाणि-ग्रहण न करने में एक कारण यह भी था कि इनकी पत्नी इनके अनुकूल ही थी अतः उससे अत्यधिक प्रेम था और इसीलिए उसकी स्मृति इनके हृदय-पटल पर अंकित हो गई थी। वह एक विदुषी नारी थी और हिन्दी से अत्यधिक प्रेम रखती थी। हिन्दी के प्रति प्रेरणा इन्हें पत्नी से ही मिली थी। इन्होंने 'कुल्लीघाट' में लिखा है कि मेरी पत्नी हिन्दी की विदुषी थी और मैं उससे नितान्त अपरिचित था अतः जब मैंने उससे हिन्दी की प्रशंसा सुनी तो मैं भी हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ। वास्तव में इस प्रेरणा के पश्चात् ही इन्होंने हिन्दी का अध्ययन प्रारम्भ किया परन्तु आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी न होने के कारण अध्यापक न लगा सके। 'सरस्वती' और 'मर्यादा' नामक पत्रिकाओं को मँगाने लगे और उन्हीं के स्वाध्याय से ज्ञानार्जन करने लगे। अटूट उत्साह और सतत प्रयत्न से वे सफल हुए और शीघ्र ही कुशल हो गए। 'गीतिका' नामक कविता-ग्रन्थ को अपनी पत्नी मनोहरा देवी को समर्पित करते हुए इन्होंने इस आभार को स्वीकार किया है।

बँगला का इन्हें पर्याप्त ज्ञान था ही, हिन्दी का ज्ञान भी परिवृद्ध हो चुका था और अंग्रेज़ी से भी ये बहुत कुछ परिचित थे। इन्होंने इन भाषाओं के मान्य लेखकों की कृतियों का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही रवीन्द्रनाथ, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और चण्डीदास आदि की रचनाओं को पढ़ डाला, जिनका इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इनकी दार्शनिकता पर विवेकानन्द का बड़ा प्रभाव था।

साहित्य-सेवा—

पहले कहा जा चुका है कि इनमें कवि-प्रतिभा बाल्यकाल से ही थी।

बँगला में तो कविता ७-८ वर्ष की अवस्था से ही करने लगे थे, हिन्दी में भी २० वर्ष की अवस्था से कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। इनकी हिन्दी की सर्वप्रथम रचना 'जुही की कली' है। पुनः रवि बाबू की अनेक बँगला कविताओं का हिन्दी-अनुवाद किया, जो 'रवीन्द्र-कविता-कानन' में संग्रहीत हैं। पुनः १६१६ ई० में इन्होंने 'हिन्दी-बँगला का तुलनात्मक व्याकरण' लिखा जो सरस्वती में प्रकाशित हुआ।

इनका वास्तविक साहित्यिक जीवन इनके 'समन्वय' के सम्पादन-काल से प्रारम्भ हुआ। राज्य की नौकरी छोड़ने के पश्चात् इनका परिचय सन् १६२० में महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुआ। कानपुर की 'प्रभा' पत्रिका में प्रकाशित निराला जी की एक कविता 'अध्यात्म फल' को पढ़कर द्विवेदी जी बड़े प्रसन्न हुए थे अत. उन्होंने इनकी नौकरी के लिए बड़ा प्रयत्न किया। जब रामकृष्ण मिशन, अल्मोड़ा के अध्यक्ष स्वामी माधवानन्द ने नवीन पत्र निकालना चाहा और उसके सम्पादन के लिए द्विवेदी जी से पूछा तो उन्होंने इन्हीं का नाम निर्दिष्ट किया परन्तु उन्हें एक अधिक अनुभवी व्यक्ति मिल जाने के कारण इनका कार्य न हो सका। तदनन्तर सन् १६२२ में इन्होंने 'समन्वय' नामक पत्र में 'युगावतार श्री रामकृष्ण' नामक एक लेख दिया, जिससे प्रसन्न होकर पत्र के प्रबन्धक आत्मबोधानन्द ने इन्हें कलकत्ते बुला लिया और पत्र का सम्पादन-कार्य इनको सौंप दिया। इस काल में उन्होंने अनेक लेख एवं कविताएँ लिखीं। उन कविताओं में अद्वैत की भावना प्रस्फुटित हो रही है। सन् १६२३ में उनकी कविताओं का एक संग्रह 'अनामिका' नाम से निकला।

समन्वय का सम्पादन करते हुए ये अन्य पत्र-पत्रिकाओं को भी कविता एवं कहानियाँ आदि भेजते थे परन्तु वे समादृत नहीं होती थीं, जिससे हतोत्साह होते जा रहे थे। इनके अनादर में इनका मुक्त-छन्द भी एक कारण था। यदि कोई आश्वासन का आश्रय था तो वे थे 'मतवाला' के सम्पादक महादेव बाबू। इन्होंने उस समय 'सुकुल की बीवी' नामक एक कहानी लिखी थी, उसके प्रारम्भ में वे लिखते हैं—"बहुत दिनों की बात है, तब मैं लगातार साहित्य-समुद्र-मन्थन कर रहा था। पर निकल रहा था केवल गरल—पान करने वाले अकेले महादेव बाबू, मतवाला सम्पादक जो शीघ्र रत्न और रम्भा के निकलने की आशा से अविराम मुझे मथते जाने की सलाह दे रहे थे।"

अन्त में युवक कवि को अत्यन्त निराश देखकर सन् १६२४ में महादेव बाबू ने इन्हें 'मतवाला' के सम्पादन-विभाग में ले लिया और शीघ्र ही प्रमुख सम्पादक बना दिया। यहीं से इनका साहित्यिक मूल्य हुआ। इन्होंने अपना

उपनाम 'निराला' 'मतवाला' के ही अनुप्रास पर रक्खा। अब तो इनकी कविताएँ मतवाला के मुखपृष्ठ पर निकलने लगीं, इनके मुक्त-छन्द का बड़ा विरोध हुआ, पत्रों में आलोचनाएँ निकलीं। गोष्ठियों में निन्दा की गई परन्तु क्रान्तिकारी निराला उस विरोध से विचलित नहीं हुए और 'स्वच्छन्दाः कवयः' के अनुसार स्वच्छन्द रूप से कविता-कुमारी की उपासना में लगे रहे। अब तक जो कविताएँ लिखी थीं, उनका एक संग्रह 'अनामिका' नाम से महादेव बाबू ने प्रकाशित किया। तदनन्तर 'परिमल' नाम का एक संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें अनामिका की अच्छी कविताएँ ले ली गई और अधूरी छोड़ दी गई। आगे अनामिका का द्वितीय संस्करण निकला, जिसमें बड़ा परिवर्त्तन कर दिया गया।

ये साहित्यिक क्षेत्र में एक क्रान्ति ला देना चाहते थे अतः केवल छन्द के विषय में ही ये स्वच्छन्द न थे, भावों में भी क्रान्ति के पक्षपाती थे। इन्होंने सामाजिक क्षेत्र में दूसरों के कन्धों पर बन्दूक रखकर नहीं चलाई, जो भी सुधार चाहा उसे पहले अपने यहाँ से ही प्रारम्भ किया। 'पर-उपदेश कुशल बहुतेरे' के अनुसार लोग दूसरों को उपदेश तो करते हैं परन्तु स्वयं उस पर नहीं चलते। निराला जी में यह बात नहीं थी। जब इन्होंने अपने पुत्र का विवाह किया तो एक स्थान से पर्याप्त दहेज का वचन दिए जाने पर भी एक निर्धन परिवार में किया और इसी प्रकार अपनी कन्या का विवाह भी किसी धूमधाम से न कर केवल कुछ इष्ट-मित्रों के बीच एक योग्य वर के साथ कर दिया।

इन्होंने 'मतवाला' का सम्पादन दो-ढाई वर्ष तक किया। पुनः अपने जामाता शिवशेखर द्विवेदी के प्रबन्धकत्व में निकलने वाले 'रंगीला' नामक पत्र का सम्पादन-कार्य संभाला परन्तु अस्वस्थतावश कलकत्ते से काशी चले आये। यह घटना सन् १९२७ की है। दो वर्ष तक ये अस्वस्थ रहे। इसी बीच इन्होंने 'गंगा-पुस्तकमाला' का सम्पादन अपने हाथों में ले लिया। इसी कार्यालय से 'सुधा' नामक पत्रिका निकलती थी, जिसका सम्पादन ये ही करते थे।

उपरिलिखित विवेचन से ज्ञात होता है कि निराला जी को लगभग आठ वर्ष में चार पत्रों का सम्पादक बनना पड़ा। संभवतः आर्थिक संकट ही इसमें कारण था। आय की कमी और व्यय का भार इन्हें इसके लिए बाध्य करता था। ये जो कुछ भी लिखते थे, वह धनोपार्जन के लिए ही। इस काल में इन्होंने कहानी-संग्रह 'लिली', 'चतुरी चमार', 'सुकुल की बीवी' और 'सखी' एवं 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा' ये चार उपन्यास लिखे। आगे चल कर इन्होंने दो उपन्यास और लिखे—'काले कारनामे' और 'चोटी की पकड़'। ये सभी आजीविका के लिये ही लिखे थे अतः इनमें जनसाधारण की रुचि का

विशेष ध्यान रखा गया है। इसी लिए इन पुस्तकों में नाट्य एवं औपन्यासिक कला का प्रदर्शन उच्च कोटि का नहीं है और साधारण रुचि की होने के कारण साधारण कोटि की ही रह गई है। 'प्रबन्ध-पद्म' नामक निबन्ध-संग्रह इसी काल में लिखा गया था।

निराला जी की विकट आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव उनके कथा-साहित्य पर ही पड़ा, कविता के क्षेत्र पर उसके चरण न पड़ सके इसलिये इन की कविता में इनका सच्चा आत्म-दर्शन मिलता है। 'गीतिका' इनकी ऐसी ही काव्य-रचनाओं में से है, जिसमें मुक्त-छन्द में भावों का प्रकाशन हुआ है। नाम से ही विदित होता है कि यह एक गीति-संग्रह है, जिसमें प्रायः परम्परागत गीति नहीं हैं तथापि संगीत का पूरा-पूरा बंधान है।

गीतिका के पश्चात् इनकी रचनाओं में निखार आया और तपे हुए हृदय से वे भी खरी निकलीं। 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज-स्मृति' और 'तुलसीदास' आदि ऐसी ही इनकी प्रौढ़ रचनायें हे।

तदनन्तर हम इनकी रचनाओं में एक मोड़ देखते हैं। देश में राजनैतिक आन्दोलन प्रबल हो रहा था अतः राजनैतिक नेताओं का अत्यधिक सम्मान होता था। इससे उनमें अभिमान की मात्रा वर्धित हो गई थी और वे साहित्यिक व्यक्तियों को तनिक भी मूल्य नहीं देते थे और न हिन्दी का विशेष महत्व स्वीकार करते थे। यहाँ तक कि महात्मा गाँधी भी हिन्दी के साहित्य एवं साहित्यकारों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। साहित्य-सम्मेलनों में भी श्रेष्ठ साहित्य-कारों की अपेक्षा राजनैतिक नेताओं को ही विशेष महत्व दिया जाता था। यह बात निराला जी को विशेष अखरती थी। इन्होंने फैजाबाद के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में भी इसका घोरतम विरोध किया। 'प्रबन्ध-प्रतिमा' नामक निबन्ध-संग्रह में इन्होंने ऐसे प्रसंगों को बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से लिखा है। तदनन्तर इन्होंने अनेक निबन्ध एवं व्यंग्यात्मक रचनाएँ लिखीं, जिनमें ऐसे व्यक्तियों पर ताने कसे गये थे। 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि ऐसी हीं रचनाएँ हैं तथा 'चाबुक' नामक निबन्ध-संग्रह भी ऐसी ही कृति है।

इन उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त इन्होंने बंकिम-चन्द्र के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया तथा रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के व्याख्यानों का सम्पादन किया और अनेक रस-अलंकार एवं कामसूत्र सम्बन्धी स्फुट ग्रन्थ लिखे। रामायण की टीका भी इन्होंने की। एक 'समाज और शकुन्तला' नामक नाटक भी लिखा जो प्रकाशित न हो सका।

निराला जी का जीवन शशवकाल से ही संकटपूर्ण रहा। इष्टजनों के

वियोग, परिवार के विनाश, सहयोग के अभाव और जीविकोपार्जन में बाधाओं ने इन्हें उद्विग्न बना दिया। इनमें शुष्कता बढ़ती गई, जिससे इनका हृदय दार्शनिक होता गया। प्रकाशकों ने इन्हें समुचित प्रतिदान न दिया। नौकरी के ये विरोधी थे परन्तु करनी पड़ती थी तथा निम्न स्तर की रचनाएँ इनका उच्च दार्शनिक कवि-हृदय सह न सकता था पर लिखनी पड़ती थीं। इन सब बातों ने साहित्यिक-पथ के गामी निराला को विजित श्रान्त पथिक की भाँति बना दिया जिसके परिणाम-स्वरूप इन्हें अपना जीवन निष्फल सा दीख पड़ा। इस समय की रचनाओं में ये भाव स्पष्ट अंकित हैं। 'अणिमा' में संग्रहीत कविताओं में विषाद की रेखा हमें दृष्टिगोचर होती है। गजल और कजलियों के संग्रह 'बेला' और 'नए पत्ते' भी उनकी इस मानसिक स्थिति को व्यक्त करते हैं।

इस साहित्य-स्रजन के पर्यालोचन से हमें विदित होता है कि निराला जी ने कविता के साथ-साथ उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध और आलोचना सभी कुछ लिखा परन्तु वास्तव में वे कवि ही थे। न वे यथार्थ में उपन्यासकार बन सके और न कहानीकार, न नाटककार प्रसिद्ध हुए और न निबन्धकार, वे केवल कवि ही बन सके और कवि रूप में ही विख्यात हुए।

क व्यगत विचार-धारा—

निराला इस युग के एक क्रान्तिप्रिय छायावादी कवि हैं। उन्हें कभी भी काव्य में छन्द, कल्पना एवं भावाभिव्यंजना का तथा समाज में परम्परागत प्रथाओं का बन्धन सह्य नहीं हुआ है। शैशव से ही विषम पारिवारिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितिय से वेष्टित होने के कारण युवावस्था में ही वे जरठ दार्शनिक की भाँति हृदय से शुष्कप्राय हो गये थे। हृदय को सरस और तरल रखने वाली वामाङ्गी वाम विधाता ने छीन ली थी अतः अर्द्धाङ्ग-ग्रसित की भाँति उनकी साधना में सदैव स्वच्छन्दता रही। यही कारण है कि सामाजिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों में वे क्रान्तिप्रिय रहे।

काव्य में उनकी मूल स्वच्छन्दता हमें छन्द के विषय में दीख पड़ती है। उन्होंने इस आग्रह से सहमत न होकर कि कविता के लिए मात्रिक या वर्णिक छन्द नितान्त आवश्यक हैं, **स्वच्छन्द** एवं **मुक्त छन्दों** का प्रयोग किया। स्वच्छन्द छन्द से तात्पर्य उन मात्रा-वृत्तों से है, जिनके पदों में भावाभिव्यक्ति के अनुसार मात्राओं का न्यूनाधिक रूप में चयन होता है और मुक्त-छन्द से अभिप्राय उन वर्णवृत्तों से है, जिनके चरणों में मात्राओं की पूर्ण स्वतन्त्रता है। स्वच्छन्द और मुक्त छन्दों में इस आधार पर एक स्थूल भेद यह भी होता है कि स्वच्छन्द छन्द गेय होते हैं और मुक्त छन्दों में यह गेयता अनिवार्य नहीं है।

यदि हम संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि उनमें पिगल का विशेष अभिनिवेश है। गीतिकाव्य मे संगीत की अनेक राग-रागिनियों का भी आग्रह रहा है। संस्कृत में जयदेव का गीतगोविन्द और हिन्दी में विद्यापति की पदावली तथा सूर-तुलसी आदि के पद ऐसे ही संगीतमय काव्य हैं। यद्यपि पदों में मात्रा-वर्णों की अपेक्षा सुर-ताल का विशेष ध्यान रहता है तथापि उनमें मात्रा-वर्णों का दीर्घ व्यतिक्रम एवं व्यभिचार नहीं रहता। इससे पूर्व वैदिक साहित्य में भी छन्द का महत्व माना गया है क्योंकि छन्द को वेद के उपाङ्गों में गिना गया है। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने तो 'छन्दस्' शब्द से वेद ही अर्थ लिया है, यथा—

'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्', 'छन्दसि परेऽपि' इत्यादि।

हाँ, यजुर्वेद मे कहीं-कहीं छन्द का महत्व दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि अनेक ऋचाओं में छन्द-विभिन्नता है और मात्रा एवं वर्ण का भेद भी अधिक है, यथा—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः॥

सम्भवतः यह वैदिक साहित्य में पद्य से गद्य की ओर प्रगति का पूर्व रूप है, जिसका सुस्पष्ट रूप हमें उपनिषदों में मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में छन्द का विशेष माहात्म्य रहते हुए भी कुछ सीमा तक व्यतिक्रम रहा है।

काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद करके छन्दोबद्ध रचना के अतिरिक्त आख्यायिका एवं नाटक आदि को भी काव्यान्तर्गत ही परिगणित किया गया है अतः निर्दोष, सगुण एवं सालंकार चमत्कारोत्पादक रसात्मक वाक्यों से पूर्ण गद्य भी काव्य माना गया है। इस दृष्टि से काव्य और कविता में इतना अन्तर है कि कविता कवि की वह संगीतमय एवं छन्दोबद्ध कृति है जो काव्य के व्यापक क्षेत्र में केवल मुक्तक एवं प्रबन्ध-विभाग में अन्तर्निहित होती है। भावाभिव्यक्ति में यह विकासक्रम हमें उत्तरोत्तर स्वतन्त्रता का परिचय देता है।

संसार के अनेक विद्वान् इसीलिए भावाभिव्यंजना के लिए छन्दबद्धता को शृंखला मानते है और कविता के लिए पिंगल ही नहीं, संगीत को भी पूर्णतः अनिवार्य नहीं मानते। अमेरिका के प्रसिद्ध कवि वाल्ट ह्विटमैन ने ऐसी ही अपनी प्रथम रचना 'लीव्ज़ ऑफ् ग्रास' (घास की पत्तियाँ) सन् १८५५ में प्रकाशित की। यद्यपि वहाँ के लोगों ने उसकी ऐसी रचनाओं को विशेष महत्व

नहीं दिया, जिनमें छन्द एवं तुक की व्यवस्था नहीं थी, तथापि यह प्रथा बल पकड़ती गई और शनैः शनैः पाश्चात्य देशों में इसका प्रचार हो गया। वहाँ के कलाकारों ने बन्धान-यंत्र पर चढ़ा कर कविता के अनेक ढंग निकाले, जिनका अनुकरण भारत में सर्वप्रथम बंगाल में हुआ और जो वहाँ से हिन्दी में प्रचलित हुए। इसके अतिरिक्त वस्तुविधान और भावाभिव्यंजना की भी अनेक सरणियाँ प्रसारित हुईं। बँगला के अमित्र छन्द के आधार पर जयशंकरप्रसाद, रूपनारायण पाण्डेय और मैथिलीशरण गुप्त ने भी ऐसे छन्दों का प्रयोग किया। परन्तु छायावादी कवियों ने इनमें और भी परिवर्तन किए। पन्त और निराला ने तो भावों के अनुकूल मात्राओं का न्यूनाधिक चयन यथेष्ट मात्रा में किया है और निराला तो इस विषय में निराले ही हैं क्योंकि उनके मुक्त छन्द एवं स्वच्छन्द छन्द पर्याप्त विरोध एवं विवाद के विषय रहे हैं।

'परिमल' की भूमिका में निराला जी ने लिखा है "मनुष्यों की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।"

ऐसी कविता को वे मानव के लिए कल्याण का मूल मानते हैं—"मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिये अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।"

वे वेदों में भी इस प्रवृत्ति को देखते हैं और अपने आलोचकों से कहते हैं कि जब वेदों में भी स्वयं परमात्मा रबड़-छिन्द और केंचुआ-छन्द लिख सकते हैं तो मैंने कौनसा अपराध कर डाला।

वास्तव में निराला जी इस प्रवृत्ति को बड़ी श्रेयस्कर मानते हैं। 'अनामिका' की कविता 'प्रगल्भ-प्रेम' में उन्होंने लिखा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह।
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण कंटकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार।

इस प्रकार निराला जी ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए बन्धन-हीन मार्ग को ही अपनाया। इनकी रचनाओं में हम इनके विचारों को अनेक रूप में व्यक्त हुआ देखते हैं। कुछ रचनाएँ छायावाद और रहस्यवाद की हैं, कुछ सामाजिक हैं, कुछ राष्ट्र-हित सम्बन्धी हैं, कुछ शृंगार की हैं, कुछ प्रकृति

से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ में शुभ कामनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ व्यंग्यात्मक भी हैं।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में कवि का सिद्धान्त अद्वैत ही है, जैसा कि निम्न पद्यांशों से प्रतीत होगा—

तुम तुंग हिमालय-शृंग और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास और मैं कान्त-कामिनी-कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरा-पान-घन अन्धकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
[तुम और मैं—परिमल]

आगे चलकर इसी पुस्तक के द्वितीय खण्ड में 'कण' नामक कविता में इस ऐक्य की भावना को हम रहस्यात्मक ढंग से व्यक्त हुआ देखते हैं—

तुम हो अखिल विश्व में
या अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुम में भेद अनेक ?

रहस्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त निराला जी ने **सामाजिक** विषयों पर भी लेखनी चलाई है। भारत में विधवा की दुरवस्था प्रारम्भ से ही रही है। यह मूक प्राणी भारतीय गृह-कारागारों में कितने उलाहने-ताने सहता है, अशन-वसनादि की कितनी कमियों का अनुभव करता है तथा कितनी यंत्रणाएँ झेलता है और वह भी साथी से हीन एकाकी, पर इसे कौन देखता है। निराला जी ने उसकी दिव्य-मूर्ति और पूत प्रकृति को देखा और अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में दी—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।
षट् ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में नीरव-पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है। [विधवा—परिमल]

कितना मार्मिक चित्रण है। अन्तिम दो पंक्तियाँ तो तथ्य को साकार बना रही हैं। वह (विधवा) व्यथा की भी भूली हुई कथा है अथवा उसका एक स्वप्न है। उसकी जीवन-पथ की निस्तब्ध यात्रा का कैसा करुण चित्र है, कैसा गम्भीर किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण है।

इसी प्रकार एक भिक्षुक का चित्र भी हमें 'परिमल' में देखने को मिलता है—

> वह आता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
> चल रहा लकुटिया टेक,
> मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
> मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

निराला जी के इन सामाजिक चित्रों में हम एक विशेषता देखते हैं कि उनमें केवल स्वभावोक्तियाँ ही नहीं और न बाह्य वाग्जाल ही है वरन् उनमें भावाभिव्यंजना की एक विलक्षण शैली की योजना है जिसके द्वारा चित्रण नवीन उद्भावनाओं से दिव्य तरंगों में लहराता दीखता है। दार्शनिकता का पुट इन चित्रों में भी स्पष्ट है।

पराधीन देश की व्यथा भी निराला जी को सदा व्यथित करती रही है। पूत-भावनाओं को इतनी प्रखरता और ओजस्वी वाणी में रखने वाले बिरले ही कवि हुए हैं। देशवासियों को जगाते हुए उन्होंने एक बार लिखा था—

> जागो फिर एक बार!
> पशु नहीं, वीर तुम,
> समर-शूर, क्रूर नहीं,
> काल-चक्र में हो दबे
> आज तुम राजकुंवर! समर-सरताज!
> पर, क्या है,
> सब माया है—माया है,
> मुक्त हो सदा ही तुम,
> बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
> डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।

महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूंका हुआ—
"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार !

[परिमल]

निराला जी नवीनता के पक्षपाती तो हैं ही अतः वे सदा सर्वत्र नूतनता ही चाहते है। भारत की परतन्त्रता का अन्त भी वे इसीलिए चाहते है कि यह नूतनता का अन्त कर देती है और कलुषता लाकर मनुष्य को पीछे की ओर घसीटती है। वे 'गीतिका' में सरस्वती से भारत की स्वतन्त्रता के साथ नवता का ही वरदान माँगते हैं—

वर दे, वीणावादिनि ! वर दे।
प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव
भारत में भर दे।
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।
नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर नव स्वर दे।

संसार में बहुत कम ही कवि होंगे जिन्होंने प्रकृति का चित्रण न किया हो। कवि को अधिकांश साधन प्रकृति से ही मिलते हैं अतः वह उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना रह नहीं सकता। विरक्त कवि की रहस्य-गुत्थियाँ भी प्रकृति में ही खुलती हैं और शृंगारी कवि की उद्दीपन सामग्री भी प्रकृति ही देती है। निराला जी प्रकृति से दार्शनिक हैं अतः उन्होंने प्रकृति का विशेषतः चित्रण नहीं किया किन्तु जहाँ भी किया है वे चित्र बड़े सुन्दर बन पड़े है। संध्यासुन्दरी का एक मधुरतम चित्र देखिए—

दिवसावसान का समय

वह सन्ध्या-सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु गम्भीर, नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालों में,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

[परिमल]

गीतिका में भी इन्होंने सन्ध्या का एक कोमल चित्र खींचा है।

प्रकृति-चित्रण में भी कवि अपने दर्शन-प्रेम को नहीं त्याग सका है। उपर्युक्त संध्या-सुन्दरी के मधुर रूपांकन में बढ़ती निस्तब्धता में गम्भीरता की कैसी सुन्दर अभिव्यजना है। 'वासन्ती', 'तरंगों के प्रति', एवं 'जलद के प्रति' आदि कविताओं में एक रहस्यात्मकतापूर्ण नवीनता की चाहना का हमें आभास मिलता है। वसन्त से कवि विनय करता है—

प्रिय, नील-गगन-सागर-तिर,
चिर, काट तिमिर के बन्धन,
उतरो जग में, उतरो फिर,
भरदो, पग-पग नव स्पन्दन।

[वासन्ती—परिमल]

इसी प्रकार तरंगों से पूछता हुआ कवि हमें एक रहस्य की खोज में लीन-सा दृष्टिगोचर होता है—

किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिला कर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?

[तरंगों के प्रति—परिमल]

नूतन जलद को 'जीवनद' ही मान कर सर्वत्र नूतनता का ही संचार उन्हें दीख पड़ता है—

जलद नहीं,—जीवनद, जिलाया
जबकि जगज्जीवनमृत को।

तपन-ताप सन्तप्त तृषातुर
तरुण-तमाल-तलाश्रित को।
पय-पीयूष-पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव घन ! न्याय निराला है।।

उपरिलिखित उद्धरणों से हमें विदित होता है कि निराला जी प्रधानतः एक विचारक एवं चिन्तनशील कवि हैं, जिनकी बात-बात में गाम्भीर्य है, नवीन कल्पनाएँ हैं और नूतन उद्भावनाएँ हैं। परन्तु इस विरक्त कवि के हृदय में भी हम एक सरस कोना देखते हैं जहाँ से प्रसंगवश मधुर और सरस पंक्तियाँ निसृत हुई है। सामान्यतः निराला जी को शृंगार प्रिय नहीं परन्तु जहाँ भी शृंगारिक प्रसंग आया है, वहाँ उक्तियाँ अत्यधिक मधुर हो गई हैं। 'पंचवटी-प्रसंग' में वर्णित शूर्पणखा के नख-शिख का सौन्दर्य दर्शनीय है—

हारे हैं सारे नेत्र नेत्रों को हेर हेर,
विश्वभर को मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हीं दोनों नेत्रों में।
मीन-मद फाँसने की वंशी-सी विचित्र नासा—
फूलदल तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल,
चिबुक चारु और हँसी बिजली सी,
योजन-गन्ध-पुष्प जैसा प्यारा यह मुख-मण्डल—
फैलते पराग दिङ्मण्डल आमोदित कर—
खिंच आते भौंरे प्यारे।
देख यह कपोत-कंठ—
बाहुबल्ली कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन, क्षीण कटि
नितम्ब-भार चरण सुकुमार
गति मन्द मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का,
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।

[परिमल]

इस नख-शिख-वर्णन में हम प्राचीन परम्परा का अनुसरण नहीं देखते। नासिका को मीन फाँसने वंशी और मुखमण्डल को योजन गन्ध के पुष्प जैसा

कह कर नितान्त नवीन उपमाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

नायिका के अनुभावों और संचारी भावों का एक चल-चित्र भी कितना मनोरम है—

चुम्बन चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल,
कभी हाथ, फिर त्रास, साँस बल
उर सरिता उमगी।

[गीतिका]

शृंगार और शान्त दोनों रस धूप-छाया की भाँति विरुद्ध होते हैं अत: हम इन शृंगारिक वर्णनों में दार्शनिकता का पुट नहीं देखते।

निराला जी ने कुछ व्यंग्य-काव्य भी लिखे। समाज में नामधारी पूँजीपति, नेता एवं धर्मध्वज उन्हें खलते थे, जिससे उनमें प्रतिक्रिया हुई। उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने ये व्यंग्य-चित्र खीचे। 'कुकुर-मुत्ता' और 'गर्म-पकौड़ी' ऐसी ही कविताएँ हैं। एक नवाब साहब के आराम में एक फारसी सुन्दर गुलाब के प्रति एक कुकुरमुत्ते की उक्ति (अन्योक्ति) में पूँजीपतियों के प्रति कितना व्यंग्य है—

अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट।

[अनामिका]

आगे इसी कविता में उसे 'हरामी' कह कर अपनी घृणा भी प्रदर्शित की है। इस प्रकार हम उनमें **साम्यवादी भावना** भी देखते हैं। साम्यवादी भावना से युक्त होते हुए भी निराला जी ने 'मास्को डायलाग्ज़' नामक कविता में अपूर्ण ज्ञान से युक्त साम्यवादियों का उपहास किया है, जिससे उनकी यथार्थवादिता पर प्रकाश पड़ता है।

विषमताओं से भरा हुआ निराला जी का जीवन जब पर्याप्त तप चुका तो उनमें **विषाद** ने आसन जमाना प्रारम्भ किया। अब उनकी बौद्धिक ग्रन्थियाँ शिथिल हो गईं और मानस-पटल धूमिल होने लगा। इस समय के उद्‌गार विषाद की मुद्रा से अंकित हैं। देखिए जीवन-यात्रा से थके हुए निराला-पथिक की निम्न उक्ति कितनी कातर है—

मैं अकेला,
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।
पके आधे बाल मेरे.
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती जा रही
हट रहा मेला।

निराला जी ने कुछ फारसी ढंग पर गजल एवं कजलियाँ भी लिखीं जो 'बेला' और 'नए पत्ते' में संग्रहीत है। इनमें सामयिक विषयों पर बड़ी मीठी चुटकियाँ ली गई है। एक विनोदपूर्ण पद्यांश देखिए—

क़ैद पासपोर्ट की, नहीं तो कभी,
देश आधा खाली हो गया होता,
देविकारानी और उदयशंकर के
पीछे लगे लोग चले गए होते।
[खुशखबरी—नए पत्ते]

निराला जी ने प्रायः सभी रचनाएँ मुक्तक ही लिखीं परन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी है, जिनमें प्रबन्धात्मकता है। 'राम की शक्ति पूजा' का कथानक प्रबन्धात्मक ही है। इसमें पौराणिक कथा को अलौकिकता से दूर रखकर मनो-विज्ञान के साँचे में ढाला गया है। योगी-साधना का प्रभाव इस पर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है क्योंकि शक्ति-पूजा में दत्तचित्त राम भी योगियों की भाँति मनसा चक्रों को पार करते हुए सहस्रार में पहुँचते हैं। 'सरोज की स्मृति' एक प्रबन्ध गीति है, जिसमें अपनी दिवंगत पुत्री सरोज की स्मृति में कवि ने आँसू बहाये है। निराला जी ने उसे आर्थिक संकट होने पर भी अपने प्राणों के रस से पालित किया होगा, दुलार की मृदुल छाया की होगी परन्तु फिर भी निधनो-परान्त उन्हें अतीत के दिवस याद आए और लिखा—

अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम,
कर नहीं सका पोषण उत्तम।

इन शब्दों में मातृहीन पुत्री के प्रति ममता का कैसा उभार है और है कैसी विवशता!

पुत्री की मृत्यु हो जाने पर निराला का रोम-रोम रो पड़ा और बोले—

दुःख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।

सारा जीवन दुखी ही रहा परन्तु उस मनस्वी ने कभी किसी से न कहा।

इनका प्रबन्धात्मक प्रौढ़ काव्य है **'तुलसीदास'**। यह भी गेय है। इसका कथानक किंवदन्ती के आधार पर ही आश्रित है। इसके प्रारम्भ में मुस्लिम शासन से नष्टप्राय हुई संस्कृति का वर्णन है, पुनः तुलसीदास की चित्रकूट यात्रा है, जिसमें वे प्रकृति से भारत में जाग्रति लाने का पाठ सीखते हैं, परन्तु इसमें कृतकृत्य नहीं होते हैं और तदनन्तर वही स्त्री का पितृगृह जाने का प्रसिद्ध प्रसंग है, जिसमें इन्हें श्वसुराल पहुँचने पर भर्त्सना मिलती है और जो इनके अध्यात्मोन्नति का कारण बनती है।

इस प्रबन्ध-काव्य में एक कथानक होते हुए भी चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। काव्य के प्रारम्भ में ही मुसलमानों के अत्याचार से हुई देश की दुर्दशा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

भारत के नभ का प्रभासूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे-तमस्तूर्य दिङ्मंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान ;
है उर्म्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।

भारतीय संस्कृति का सूर्य मुसलमानों के शासन से अस्त हो गया। समस्त देश इस शासन के भार से कराह रहा था। एक दिन जब तुलसीदास अपने मित्रों के साथ चित्रकूट पहुँचते हैं तो वहाँ भी प्रकृति से देश की दुर्दशा और संस्कृति के विनाश की स्मृति हो आती है। देश को जगाने के लिए उन्हें प्रेरणा मिलती है और वे संकल्प करते हैं—

करना होगा यह तिमिर पार,
देखना सत्य का मिहिर द्वार,
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय।

परन्तु उसी समय उन्हें अपनी प्रिया रत्नावली की छवि दीख पड़ी। जो प्रकृति आत्म-बोध दे रही थी, वही अब उद्दीपन का कार्य करने लगी। उन्नत विचारों के नन्दन वन में विचरता हुआ मनस्वी इस पृथ्वी की हरियाली में आ गिरा। शनैः-शनैः सारी प्रकृति प्रियारूप में ही दीखने लगी, प्रकृति का सारा सौन्दर्य उसी का सौन्दर्य दीख पड़ा, वही मुक्ति का साधन भासित हुई और दाम्पत्य बन्धन की मूलभूत रति सम्पूर्ण सुख का सार जान पड़ी—

बन्ध के बिना, वह कहाँ प्रगति ?
गतिहीन जीव को कहाँ सुरति ?
रति रहित कहाँ सुख ? केवल क्षति केवल क्षति ।

वे अनेक तर्कों से इसे सिद्ध करते हैं । वे घर लौट आते हैं और प्रिया के प्रेम में मग्न हो जाते हैं । एक दिन रत्नावली भाई के साथ मायके चली जाती है । तुलसीदास भी वहाँ पहुँचते हैं, लोग उपहास करते हैं जिससे व्यथित हो रत्नावली रात्रि के समय इन्हें धिक्कारती है—

धिक् ! धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत,
राम के नहीं काम के सूत कहलाए ।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ हाड़, चाम,
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए !

इन वाग्-बाणों से बिद्ध हो तुलसीदास की मोह-निद्रा टूट गई, उन्हें एक चपेट-सी लगी और वे पुनः धरातल से स्वर्ग की उन्नत भूमि का स्पर्श करने लगे ।

इस प्रकार इस काव्य में बाह्य-कथा के साथ तुलसीदास के मानसिक जगत् का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है । भारत की दुरवस्था सर्वप्रथम उन्हें जाग्रत करती है, पुनः प्रकृति के रंगस्थल चित्रकूट की पावन छटा उनके हृदय में पूत भावनाएँ उद्भूत करती है तदनन्तर वही प्रकृति प्रियारूप हो रति को जगाती है किन्तु साथ ही विराट् और मुक्ति का स्मरण कराती है । पुनः प्रियतमा का एक ही रूखा वचन ऊर्ध्वगमन का कारण होता है । भारतीय दर्शन के अनुसार विरति ही आत्मदर्शन का मूल कारण है । तुलसीदास की उत्तरोत्तर मानसिक प्रगति अन्त में विरति की सीमा तक पहुँच गई, तभी उन्हें आत्म-दर्शन हो सका । तुलसीदास की यह प्रगति बाह्य-दर्शन से आत्मदर्शन तक इन्द्रिय से मन और मन से आत्मा तक हुई है ।

निराला जी का यह श्रेष्ठतम काव्य है, जिसमें उक्तियों की रम्यता, नवीन उद्भावनाओं की योजना और मानसिक जगत् की विश्लेषण-विचित्रता उत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं । भाषा की क्लिष्टता अवश्य हो गई है और कहीं-कहीं विचित्र लाक्षणिक प्रयोग भी हैं परन्तु दार्शनिक कवि निराला की कृति में यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि चिन्तनप्रधान विवेचन में गाम्भीर्य अनिवार्य हो जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि निराला जी की रचनाओं में मुख्यतः चिन्तन की प्रधानता और गूढ़ दार्शनिकता है। सामाजिक, साम्यवादी, राष्ट्र-सम्बन्धी, प्रकृति-विषयक, शृंगारिक एवं जीवन-दर्शन-सम्बन्धी आदि अनेक प्रकार की कविताएँ इन्होंने लिखीं परन्तु उनमें भी भावों की उदात्तता, वर्णन में विलक्षण उद्भावनाएँ और चित्रण में अन्तर्जगत् के धरातल का उन्नत स्पर्श अत्यन्त प्रशंसनीय है। सर्वत्र इनकी सहानुभूति का गहरा रस तो मानो इनकी कृतियों के प्राण ही हैं।

काव्य-कला—

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि निराला जी की रचनाएँ स्वानुभूति की आधारशिला पर निर्मित हुई हैं। विषण्णता-जन्य दार्शनिकता सर्वत्र अखण्ड रूप से व्याप्त है। कवि बाह्य-पर्यवेक्षण से सहसा ऊपर उठता है और भावलोक को स्पर्श करता हुआ चेतना-जगत् की उस समतल भूमि पर पहुँचता है, जहाँ विषमता समता में लीन हो जाती है, बुद्धि हृदय को आत्मसमर्पण कर देती है और हृदय आत्म-तत्व का अनुचर-सा दीख पड़ता है।

अमूर्त्त वस्तुओं का चित्रण भी वे सजीव-सा करते हैं। जड़-चेतन, मूर्त्त-अमूर्त्त सभी पदार्थों एवं विविध घटनाओं के चित्रण में नवीन उद्भावनाओं का योग इनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। इनकी श्रेष्ठतम नयन पर एक उद्भावना का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

> **मद-भरे ये नलिन नयन मलीन हैं;**
> **अल्प-जल में या विकल लघु मीन है?**
> **या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी**
> **बीत जाने पर हुए ये दीन है?**

नीचे तरंगों का एक चल भाव-चित्र भी देखिए—

> **तैर तिमिर-तल भुज-मृणाल से सलिल काटती,**
> **आपस में ही करती हो परिहास,**
> **हो मरोरती गला शिला का कभी डाँटती,**
> **कभी दिखाती जगतीतल को त्रास,**
> **गन्ध-मन्दगति कभी पवन का मौन-भंग उच्छ्वास,**
> **छाया-शीतल तट-तल में आ तकती कभी उदास,**
> **क्यों तुम भाव बदलती हो—**
> **हँसती हो, कर मलती हो?**

इस प्रकार सैकड़ों ही सुन्दर उद्भावनाओं से पूर्ण रम्य चित्र एवं वर्णन हमें इनकी रचनाओं में मिलते हैं।

इनकी भाषा संस्कृत-बहुला एवं समास-प्रधान है। समस्त पदों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है, यथा—हरित-हृत-पल्लव-नव शृंगार, उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि प्रबल में, अन्ध-र [illegible] आदि।

कुछ लाक्षणिक प्रयोग भी इन्होंने किए हैं, जिनसे कहीं-कहीं दुरूहता आ गई है परन्तु पन्त की भाँति प्रचुरमात्रा मे नहीं किए हैं।

इनके गीतों में बन्धान की योजना बडी सुन्दर हुई है। गीतों में एक विराट् भाव गुँथा रहता है। महादेवी की भाँति इन्होंने व्यष्टि को प्रधानता नहीं दी। मुक्त एवं स्वच्छन्द छन्दों में भी एक लय रहती है और उनमें भावों के अनुसार ही मात्रा एवं वर्णों की न्यूनाधिक योजना हुई है।

ये क्रान्तिकारी तो प्रारम्भ से ही थे अतः परम्परा के पक्षपाती नहीं रहे हैं। नवीन से नवीन और सुन्दर से सुन्दर उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा आदि अलंकार हमें इनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—

उपमा—

> वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
> वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव में लीन
> वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी
> वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
> दलित भारत की ही विधवा है।
>
> × × ×
>
> मीन-मद फाँसने की वंशी-सी विचित्र नासा
> फूलदल तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल,
> चिबुक चारु और हँसी बिजली-सी
> योजन-गन्ध-पुष्प जैसा प्यारा यह मुख-मण्डल।

रूपक—

> भारति, जय, विजय करे!
> कनक शस्य कमलधरे।
> लंका पदतल शतदल
> गर्जितोर्मि सागर-जल
> धोता शुचि चरण युगल
> स्तवकर बहु अर्थ-भरे।

तरु-तृण वनलता-वसन
अंचल में खचित सुमन,
गंगा-ज्योनिर्जल - कण
धवल-धार-हार गले ।

उत्प्रेक्षा—

दूत, अलि ऋतुपति के आए ।
फूट हरित पत्रों के उर से
स्वर-सप्तक छाए ।

उल्लेख—

तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं वेणी काल-नागिनी,
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार,
मैं व्याकुल विरह-रागिनी ।
तुम पथ हो, मैं हू रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु ।

प्रतीप—

बीच-बीच पुष्प-गुँथे किन्तु तो भी बन्धहीन
लहराते केश-जाल जलद-श्याम से क्या कभी
समता कर सकती है
नील नभ-तड़ित्तारिकाओं का चित्र ले
क्षिप्र गति चलती अभिसारिका यह गोदावरी है ?

भाषा में कहीं-कहीं उर्दू-फारसी के शब्दों का व्यवहार भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है । ग़ज़ल और कजलियाँ फारसी ढंग पर ही हैं जिनमें व्यंग्य और चुटकियों की योजना बड़ी मनोरम है । 'बेला' में मुहावरों का प्रयोग भी खूब किया है । एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

किसकी तलाश में हो उतावले से
दुनियाँ ने मुँह चुराया सायास बावले से ।

इनकी रचनाओं में प्रसाद गुण अपने उत्कृष्ट रूप में व्यवहृत हुआ है ।

इस समस्त पर्यालोचन के आधार पर हम इस परिणाम पर आते हैं कि निराला जी का आधुनिक हिन्दी-साहित्य में एक निराला स्थान है । उनके भाषा और भाव अपने ही हैं तथा ऊर्जस्विता अनुपम है ।

सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सं० १९५७ (१९००) में अल्मोड़े से ३२ मील दूर कौसानी ग्राम में हुआ था। इनके पिता पं० गंगादत्त पन्त उस गाँव के चाय-बागों के प्रबन्धक और लकड़ी के बड़े व्यापारी थे। जन्मोपरान्त ही मां से सदैव के लिये वियुक्त हो जाने पर ये मां की सुखद गोद का कोमल स्पर्श न पा सके अतः शैशव से ही इन्हें प्रकृति-माता की अंक का आश्रय मिला और वह थी भी सुलभ।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अल्मोड़े के सरकारी हाई स्कूल में हुई। नवीं कक्षा पास करके ये काशी चले गये और वहाँ जयनारायण हाई स्कूल से दशवीं कक्षा पास की। पुनः म्युअर-सेंट्रल कॉलेज, प्रयाग में प्रविष्ट हुए। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। महात्मा गाँधी प्रयाग पधारे और उन्होंने एक भाषण दिया, जिसका प्रभाव पन्त जी पर अत्यधिक मात्रा में पड़ा और उन्होंने उच्च शिक्षा को समाप्त कर दिया। कॉलेज-परित्याग के अनन्तर भी तीन वर्ष पर्यन्त इन्होंने अंग्रेजी का अनवरत अध्ययन किया।

इन्हें कविता की प्रेरणा अपने भाई हरदत्त से प्राप्त हुई थी। प्रेरणा तो मिली परन्तु आत्मा में प्रसुप्त कवि-प्रतिभा की जागरण-बेला सुरम्य प्रकृति के अञ्चल में ही प्रस्फुटित हुई। प्रकृति का सहज सौंदर्य-सागर अपने यौवन में उनकी अक्षियों के समक्ष छलछलाता था। गगनचुम्बी शैलशिखर श्वेत हिम-हीरक-शिरोपा पहने सगर्व वहाँ खड़े थे; झर-झर कलरव करते हुए उद्धत प्रपात भंगिम गति से पछाड़ खाते हुए कहीं चले जा रहे थे; रक्त-हरित, पीत-पाटल एवं श्वेत-श्याम आदि विविध साज-सज्जा से सजी प्रकृति-रमणी मानो अंग-अंग से मन्द-मन्द हँस रही थी, रोम-रोम से मुखर थी। प्रातः बालरवि अपनी स्वर्णिम किरणों से सर्वत्र केशर छिड़क देता था, रात्रि को अमृत का ताल कटोरा सुधा उँडेल कर एक मोहिनी डाल देता था, काली रातों में प्रकृतिवधू मानो निशाचरों

के भय से श्यामाम्बर में मुँह छिपाये निस्तब्ध पड़ी रहती थी और तारे यह सब कुछ देखकर मुस्कराते थे। ऐसी रम्य प्रकृति में विहग-विहगियों को चंचल केलि करते हुए हमारा किशोर कवि शान्त भाव से वहीं कहीं बैठा देखा करता था। प्रकृति के इसी मंजुल, मधुरतम और सुकोमल रूप ने मातृहीन उसके निस्नेह हृदय में तरलता और पेशलता भर दी। उसका कवि-मानस कल्लोलित हो उठा और लेखनी के सम्पुट में भर कर भावों को साकार बनाने के लिए मचल पड़ा। पन्त जी ने स्वयं लिखा है—

"जब मैंने पहले लिखना प्रारम्भ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियाँ तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी × × ×।

मेरी प्रारम्भिक रचनायें 'वीणा' नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धर कर चपल, मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्य-पट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरें आदि जैसे मेरे बाल-कल्पना के छाया-वन में मिलकर वाद्य-तरंग बजाते रहे है।"

इस प्रकार प्रकृति से प्रभावित हो वे १५ वर्ष की अवस्था से ही कविता करने लगे थे। सन् १९१६ में इनकी पहली कविता 'अल्मोड़ा-अखबार' में छपी थी। प्रारंभिक कवितायें 'सिगरेट के धूएँ' और 'कागज के कुसुम' तक ही सीमित रहीं। १५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'हार' नाम का उपन्यास भी लिखा था जो महत्वपूर्ण तो नहीं परन्तु बाल-प्रतिभा का परिचायक अवश्य था। इनकी सर्वप्रथम महत्त्व-पूर्ण कविता 'स्वप्न' थी, जिसने इनको ख्याति दी। इनकी प्रारंभिक रचनाएँ वीणा में संग्रहीत हुई, जो प्रकृति से प्रभावित हैं। पन्त जी उपर्युक्त कथन से आगे लिखते हैं—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना,
कहो कहाँ हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना।"

अथवा

आओ सुकुमारि विहग बाले,
निज कोमल कलरव में भरकर अपने छवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन-वन, घर-घर, नाचे तृण तरु पात।

आदि गीत आपको 'वीणा' में मिलेंगे, जिनके भीतर से प्रकृति गाती है।

इन्होंने अध्ययन काल में बँगला भी पढ़ी। इनका अध्ययन विस्तृत होने लगा। हरिऔध जी का प्रियप्रवास इन्हें रुचिकर लगा, प्रसाद जी का 'झरना' भी पढ़ डाला। अंग्रेजी के प्रकृति-प्रिय कवि कीट्स और शैली का भी काव्य-दर्शन किया। अंग्रेजी के काव्य का मनन उन्होंने शिवाधार पांडेय के सम्पर्क में आकर किया था। इनकी रचना 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' की अधिकांश कविताएँ सन् १९१८ से १९२४ के बीच लिखी गई। 'ग्रन्थि' का निर्माण सन् १९२० में कौसानी में हुआ और 'पल्लव' की रचनाएँ प्रायः प्रयाग में लिखी गईं। सन् १९२२ में 'उच्छ्वास' लिखा और अजमेर में उसका प्रकाशन हुआ। 'सरस्वती' के सम्पादक बख्शी ने इसको शब्दाडम्बर कहकर कटु आलोचना की परन्तु इसी वर्ष उनकी 'बादल' कविता को सुनकर वे बड़े मुग्ध हुए और 'सरस्वती' में उनकी कविताओं को स्थान देने लगे।

यह कवि का वह जीवन-काल था जब हम उसे जीवन के गम्भीर रहस्य की ओर मुड़ता देखते है। उन्होंने देशी-विदेशी, दर्शन-शास्त्रियों के ग्रंथों को पढ़ा, जिससे दुखमय संसार का भयावह रूप उनकी आँखों के सामने नाचने लगा। परन्तु सन् १९२४ में पूरनचन्द्र जोशी से सम्पर्क होने पर वे मार्क्सवाद की ओर मुड़े। गांधीवाद उनमें घर कर चुका था परन्तु इस नूतन दृष्टिकोण ने उन्हें कुछ नूतनता प्रदान की। सन् १९२७ में उनके पिता का देहान्त हो गया, जिससे इनका मनस्ताप और भी बढ़ गया। दो-तीन वर्ष ये बड़े दुखी रहे परन्तु इसी बीच इन्होंने 'मधुज्वाल' के रूप में उमर ख़ैय्याम की रुबाइयों का हिन्दी में अनुवाद किया। भरतपुर में डा० जोशी के पास स्वास्थ्य-लाभ करके ये सन् ३० में अपनी चचेरी बहन के पास बिजनौर चले गये और वहाँ इन्होंने कुछ कहानियाँ लिखीं जो 'मधुवन' के नाम से प्रकाशित हुईं।

इसी वर्ष ये अल्मोड़ा चले गये और वहाँ कालाकाँकर के राजा अवधेशसिंह के छोटे भाई सुरेशसिंह से परिचय हुआ, जो इन्हें कालाकाँकर ले गये। दो-तीन वर्ष वे यहीं रहे। 'गुंजन' में संकलित कविताएँ इसी काल की हैं। इसी बीच उन्होंने 'ज्योत्स्ना' नाटिका लिखी। पुनः अल्मोड़ा चले आये और 'युगान्त' का निर्माण किया। सन् १९३६ में 'पांच कहानियाँ' लिखीं। तदनन्तर सन् १९३७ से ३९ के बीच 'युगवाणी' और पुनः ४० तक 'ग्राम्या' की रचना की। गुंजन के पश्चात् अब तक की रचनाओं में साम्यवाद की छाप विशेष रूप से रही।

इसके अनन्तर इनकी लेखनी ने शान्त शय्या का आश्रय लिया और कुछ

काल तक मौन रही। इन्हें एक रोग ने आक्रान्त किया और उससे बड़ी कठिनाई से प्राण बचे। प्रकृति के इस घातक प्रहार ने उनको सुप्त चेतना को पुनः जाग्रत कर दिया और वे अध्यात्म जगत् में विचरने लगे। सन् १९४७ में प्रकाशित 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में संग्रहीत कविताएँ ऐसी ही अध्यात्म लोक एवं अलक्ष्य-जगत् से सम्बन्ध रखतीं एवं उनका रहस्य निरूपित करती हैं। सन् १९४८ में 'युगपथ' और ४९ में 'उत्तरा' का निर्माण किया। ये दोनों काव्य-ग्रन्थ भी उनके आध्यात्मिक विचारों को प्रकाशित करते हैं। इसके पश्चात् इनकी और भी अनेक कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं तथा आकाशवाणी से विस्तारित की जा चुकी हैं। इन्होंने 'छाया', 'परिणीता', 'साधना' और 'स्वप्नभंग' आदि नाटक भी लिखे परन्तु वे इन्हें नाटककार न बना सके। वास्तव में ये नाटककार न थे, ये थे कवि और आज भी कवि ही हैं।

पन्त जी का भाव-विकास-क्रम :—

पन्त जी की रचनाओं पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् ही अनायास यह निश्चित किया जा सकता है कि उनकी मनः प्रवृत्तियाँ चार रूपों में परिवर्त्तित हुई हैं—

(१) प्रथम प्रवृत्ति प्रकृति से प्रभावित अतएव अबोध बालिका के समान परिपूत है। 'वीणा' में संग्रहीत कविताएँ इसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं।

(२) द्वितीय प्रकार की प्रवृत्ति उस समय से सम्बन्ध रखती है, जिस समय कवि का सम्बन्ध प्रकृति से छूट जाता है और वह तीर्थराज प्रयाग की गोदी में जा बैठता है। कवि का हृदय प्रकृति के रमणीय रूप को विस्मृत नहीं करता है, उसे प्रकृति का बाह्य रूप तो चर्मचक्षुओं से नहीं दीखता परन्तु वह अपनी उद्बुद्ध-चेतना से प्रकृति के अन्तःपटल के सौन्दर्य में एक रहस्य देखता है जिससे उसे स्थूल जगत् से अदृश्य सूक्ष्म जगत अधिक मनमोहक प्रतीत होता है किन्तु साथ ही विस्मय का भाव भी रहता है। इसी काल में युवक कवि का मानस प्रकृति के लावण्य से मुग्ध हो पार्थिव रमणीयता पर मुग्ध होता है और उसका व्यापक सौन्दर्य किसी स्थान पर केन्द्रित-सा दीख पड़ता है। ज्ञात होता है कि कवि पृथ्वी से उठकर पुनः ऐन्द्रिय आनन्द-सूत्र से आकृष्ट होकर नारी-लोक में विहार करता है। इस प्रकार प्रकृति और नारी का रम्य आकर्षण कवि की मनः-प्रदक्षिणा का दो रूपों में एक प्रधान केन्द्र बन जाता है। छायावाद की प्रवृत्ति भी यहीं से अपने शैशव में पोषित होती है। 'पल्लव' से 'ज्योत्स्ना' तक की रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।

(३) तृतीय प्रवृत्ति देश की जागृति एवं मार्क्सवाद से परिचालित है।

यहाँ कवि सांसारिक विषमता से विक्षुब्ध हुआ अत्याचारियों, शोषकों एवं सत्ताधीशों के विरुद्ध घृणा प्रदर्शित करता है एवं साम्यवाद और गांधीवाद का प्रचार चाहता है। इस समय वह प्रगतिवाद की तप्त भूमि में झुलसता हुआ आगे बढ़ता है। इस प्रवृत्ति से प्रभावित जितनी कविताएँ लिखी गई वे 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में संकलित हैं।

(४) कवि के उदात्त हृदय में तृतीय प्रवृत्ति एक विक्षोभ ही कही जा सकती है। इससे कवि को आत्म-सन्तोष एवं अविचल शान्ति नहीं मिली अतः उसकी अन्तरात्मा पुनः सूक्ष्म जगत् में रहस्योद्घाटन के लिए मुड़ी और वहीं रमती रही। प्रौढ़ावस्था में एक विषम रोग ने भी कवि को इस ओर चलने की अन्तः-प्रेरणा दी। यह कवि का स्वर्णकाल है। इस काल की रचनाएँ हैं—'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'युगपथ' और 'उत्तरा'।

अब हम प्रवृत्ति के अनुसार पन्त जी की रचनाओं का सूक्ष्मतः आलोचन करते हैं।

वीणा—पंतजी पार्वतीय प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। प्रकृति के रम्य अंचल में बैठकर ही उन्होंने अपने जीवन का उषाकाल ज्ञान-भानु की रश्मियों से आलोकित किया था। प्रकृति एक रहस्यमयी किन्तु व्यक्त रमणी थी जिसने एक मनोरम रंगीन जगत अपने ही रूप में उनके चारों ओर फैला रक्खा था। हिमाच्छादित पर्वत-शिखर सम्मुख ही खड़े थे, जिन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणें घन-पटलों में पल-पल नूतन पट-परिवर्त्तन के साथ चलचित्र-सा दिखाती रहती थीं और झर-झर करते हुए निर्झर गलबहियाँ डाले जिनके वक्षस्थल पर चाञ्चल्य से अठखेलियाँ खेलते रहते थे। कभी उन्हें परियों के बच्चे के समान पर्जन्य-शिशु नभःसरोवर में तैरते से दीखते तो कभी सतरंगी इन्द्रधनुष पुष्पधन्वा सा गुदगुदाता जान पड़ता था। वनस्पति की हरीतिमा, पक्षियों की मञ्जु मुखरता, झिल्लियों की झंकार, जुगनुओं की क्षणिक चमक और प्रपातों के ध्वनित पात ने निसर्गतः शान्त प्रकृति को भी मुखर बना दिया था।

प्रकृति के इस उज्ज्वल रूप ने पन्त जी को अत्यधिक प्रभावित किया था। उन्होंने प्रकृति के भव्य विविध अंगों को अपनी कविता में चित्रित कर डाला। वे कविताएँ 'वीणा' में संग्रहीत हुईं। पंत जी ने स्वयं अपने 'मेरा रचना-काल' लेख में लिखा है—

"सन् १९१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। वीणा-काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रंगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। फूल-पत्ते

और चिड़ियाँ, बादल, इन्द्रधनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-संध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।"

इस रचना में पन्त जी पर कवि रवीन्द्र की गीताञ्जलि एवं महाकवि कालिदास के मेघदूत का भी प्रभाव है। समूची प्रकृति एक जादूगरनी है, जिसकी पिटारी का एक-एक पदार्थ विस्मयकारक है, जो जादू के साथ सम्मोहन भी करती है और कल्पना लोक में अपार्थिव रंगीन मनश्चित्रों से साथ विहार कराती है और साथ ही जो कौतूहल, हास-विलास, भय-विस्मय और सुखोल्लास भी भरती है। उस समय पन्त जी के हृदय को लुभाने वाला प्रकृति का रूप हमें उनकी निम्न पंक्तियों में दीख पड़ता है—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ !
सजा हृदय की थाली में
क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
मोद-मधुरिमा हास-विलास
लीलाविस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !

इस रचना में छाया, अन्धकार, सरिता, निर्झर एवं उषा आदि पर छोटी-छोटी कविताएँ हैं। प्रकृति के ये सभी रूप कवि के लिए विचित्र हैं— सजीव हैं।

पन्त जी के हृदय में प्रथम प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हुआ पुनः वही तन्मयता का कारण बना, जिसने पंत और प्रकृति में तादात्म्य स्थापित कर दिया। पूर्व कवि प्रकृति को उद्दीपन के रूप में चित्रित करते थे परन्तु पंत जी ने उसे आलम्बन के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने उसे सजीव और मुखर देखा और उसी रूप में अंकित किया। प्रकृति में तन्मयता ने ही पंत जी के हृदय में रहस्यात्मक भाव को जाग्रत किया अतः इन प्रकृति-विषयक कविताओं में हम दार्शनिक पुट भी देखते हैं। निम्न पंक्तियों में कवि की दार्शनिकता दर्शनीय है—

मां ! वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगा,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पन में।

इसमें प्रतिबिम्बवाद की कैसी सुन्दर झलक है।

वीणा में वर्णित प्रकृति ने पन्त जी के हृदय में उदात्तता भरदी जिसने उनको अन्तर्दृष्टि दी और उन्होंने प्रकृति के पारदर्शक पटल में से उसकी अन्तरात्मा को देखा जिससे वे इतने प्रभावित हुए कि आगे की रचनाओं में उन्होंने अन्त:रहस्यों को उद्घाटित किया।

ग्रन्थि—ग्रन्थि एक गीतात्मक खण्डकाव्य है, जिसमें दो प्रेमियों की प्रणय-कथा है। कथा का सार इस प्रकार है—

गन्ध से मुग्ध होकर झूमते हुए मधुपों से युक्त मधुर मधुमास में तरुण रसाल रसिक पिकों के स्वर से सरस हो रहे थे और वसुन्धरा की निखिल कोमल कामनाएँ मृदुल सुमनों के रूप में खिल पड़ी थीं। सर्वत्र मादकता से व्याप्त एक सन्ध्या को एक युवक किसी सरोवर में अपनी तरणी खे रहा था। युवक नौसिखिया था अत: तरल तरंगों की चपेटों को न सह सका और निराश हो उनकी गोद में निमग्न हो गया। कोई बाला यह दृश्य देख रही थी, वह उसे निकाल लाई। युवक मूर्च्छित था अत: उस बाला ने उसका सिर अपनी कोमल जंघा पर रख कर लिटा दिया। युवक ने सचेत हो जब पलक खोले तो देखा कि व्यग्रता की मलिनता से युक्त एक चन्द्रोपहासी मुख उसे निर्निमेष देख रहा था। बाला प्रसन्न हुई परन्तु ज्यों ही युवक की कृतज्ञ दृष्टि ने उसकी आँखों का स्निग्धता से स्पर्श किया, बाला के अंग में एक चपला-सी कौंध गई, वह सलज्ज नतानना ठगी-सी रह गई। युवक का मन-मानस बाँध तोड़ गया और प्रणय-याचना कर वैठा। बाला ने कुछ उत्तर न दिया, केवल 'नाथ !' कह कर चली गई। युवक और युवती दोनों ही विकल रहने लगे। युवक के हृदय में इस बात से समवेदना और भी बढ़ी कि वह भी उसी की भाँति मातृ-पितृ-विहीना है। यह प्रेम-व्यापार अधिक न चल सका क्योंकि युवक के देखते ही देखते युवती का ग्रन्थि-बन्धन किसी अन्य पुरुष से हो गया। युवक का हृदय खण्ड-खण्ड हो गया, रोकर रह गया—करता भी क्या !

यह एक वर्णन-प्रधान विप्रलम्भ शृंगार की कहानी है। यह कथा प्रथमपुरुष में लिखी गई है अत: कोई-कोई इस आत्म-कथा में पन्त जी की किसी गुह्य प्रणयलीला का आभास देखते हैं परन्तु यह बात नहीं है। यह कथा केवल कल्पना के आधार पर लिखी गई है। पन्त जी स्वयं इसे कल्पना-प्रसूत ही मानते हैं। हाँ, उच्छ्वास और आँसू में वे अवश्य कुछ अंश तक आत्म-कथा का आभास बतलाते हैं।

इस काव्य के विरह-वर्णन में युवक की कुछ उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं।

नायिका का अपर पुरुष से पाणिग्रहण हो गया, इस पर नायक की निम्न उक्ति में अवसाद की मात्रा देखिए—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि-बन्धन हो गया, वह नव कुसुम
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया !

इन शब्दों में कितना विषाद है, कितना विक्षोभ है और है कितनी विवशता ! हृदय मुँह को आ रहा है ! इसमें एक बात ज्ञातव्य है कि कवि ने मुस्लिम कवियों के अनुसार अपनी प्रेयसी को पुल्लिंग में उपमित किया है। नायक का अधिक विरह-वर्णन भी इस काव्य की विशेषता है।

युवक अत्यन्त विकल है, पर कर क्या सकता है। समाजमर्यादा ने उसकी प्रेयसी को उससे कोसों दूर कर दिया है, वह एक भित्ति है जिसका उल्लंघन करना उसके लिए दुष्कर है। वह उसका स्मरण करता है, गुण-कीर्तन करता है और प्रलाप-विलाप भी करता है। नायिका भी तड़पती है परन्तु वाम विधाता तनिक भी दया नहीं करता। विधाता पर किसका वश ! प्रेमी तो प्रेम को देखता है, वही उसका राजा है, देवता है अतः युवक प्रेम से ही दो-दो बातें करता है—

'और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वह,
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।'

प्रेम में उन्माद और उत्ताप के अतिरिक्त है ही क्या ! उन्मत्त एवं संतप्त हृदय में भी कितनी कोमल और मृदुल भाव-तरंगें उठती हैं, उसको प्रेमी ही जानता है परन्तु क्यों उठती हैं, कैसे उठती हैं, इन प्रश्नों का उत्तर वह नहीं दे सकता क्योंकि उनका मस्तिष्क से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

इस उक्ति के समान और भी अनेक उक्तियों में विषय-प्रतिपादन का साफल्य तो है परन्तु सर्वत्र विरह-वर्णन में उतनी मार्मिकता नहीं जिससे विरही के साथ पाठक भी रो पड़े। इसका मुख्य कारण यह है कि भाषा सालंकार एवं परिमार्जित होती हुई भी शैली में सहजता नहीं, कुछ घुमाव है और भाव-प्रकाशन में अन्वय-सारल्य नहीं है।

यदि इस कृति के विषय में एक ही वाक्य में कहा जाय तो ऐसा कह सकते हैं कि 'ग्रन्थि प्रकृति के अंक में प्रसूत एक प्रेम-प्रसून है,जिसमें गन्ध है परन्तु तरंग नहीं ।'

पल्लव—पल्लव पन्त जी की प्रौढ़ कृति है। इसकी अधिकांश कविताएँ प्रयाग में लिखी गईं अतः प्रकृति से दूर उनका सृजन हुआ। इसकी प्रथम दो कविताएँ **'उच्छ्वास'** और **'आँसू'** पन्त जी की अपनी प्रणय-कथा का आभास देती हैं। कवि किसी के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाता है परन्तु नायिका उससे बलात् वियुक्त हो जाती है। इससे कवि को महान् क्लेश हुआ और उसका वह हृदय-वंचित दुख मुख और आँखों के मार्ग से उच्छ्वास और आँसू के रूप में निकला। उच्छ्वास में बालिका की विवशता की करुण कहानी है और आँसू में प्रेमी का रोना है। 'ग्रन्थि' में अधिकांशतः कल्पना का सहारा लिया था परन्तु इन दोनों प्रेम-कथाओं में कल्पना का विशेष आश्रय नहीं लिया है।

इनके अतिरिक्त पल्लव की अवशिष्ट कविताएँ प्रकृति के रहस्योद्घाटन एवं तत्व-चिन्तन से सम्बन्ध रखती हैं। कवि का हृदय स्थूल प्रेम का मधुर रस पी न सका अतः मूक कोकिल के समान उसका मादक गान तन-मन-बन्धनहीन होकर बह गया। उसमें इतना निखार और उभार आया कि उनकी कविता-लता के पल्लवों की पुलकित डाल रोओं-सी खिल पड़ी—

हृदय के प्रणय-कुञ्ज में लीन,
मूक-कोकिल का मादक गान।
बहा जब तन-मन-बन्धन-हीन,
मधुरता से अपनी अनजान।
खिल उठी रोओं-सी तत्काल,
पल्लवों की वह पुलकित डाल।

'वीणा' की कविताएँ प्रकृति के बीच लिखी गई थीं परन्तु 'पल्लव' की प्रकृति से दूर अतः इसकी प्रकृति से सम्बन्धित कविताओं में भी प्रकृति का स्मरण-सा है। पन्त जी लिखते हैं कि इन रचनाओं में विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान है, उनके प्रति हृदय की ममता ज्यों की त्यों बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक-भर रह गए हैं। उनके शब्दों में कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं।

प्राञ्जल रूप में हुई है परन्तु प्रकृति-रहस्य की जिज्ञासा बढ़ गई है। 'वीणा' में इतिवृत्तात्मकता का प्राबल्य था, जब कि 'पल्लव' में अभिव्यंजना का। उसमें वर्णन-स्वाभाविकता है, पल्लव में कला का सुन्दर प्रदर्शन है। प्रकृति के मांसल रूप के अभाव में उसका दूरस्थित, अलक्ष्य और सूक्ष्म रूप दृष्टिगोचर होता है जो रहस्य की जिज्ञासा और उसके विवेचन के लिए प्रेरणा देता है अतः अब कवि के लिए सारी प्रकृति का कल्पना-लोक उसी के छाया-चित्रों से सुसज्जित हो गया। यथा दृष्ट-इष्ट पदार्थ रह-रह कर स्मृति-पटल पर अपनी चित्रशाला सजाते रहते हैं उसी प्रकार प्रयाग-स्थित पन्त जी के हृदय-पटल पर पार्वतीय प्रदेश की प्राकृतिक छटा भी बिजली की भाँति कौंध जाती थी। जो प्रकृति पन्त जी ने सजीव देखी थी वह अब चित्रों के रूप में भी मुखर थी। अतः 'पल्लव' की रचनाएँ प्रकृति के सुन्दर सजीव चित्रों से मण्डित हैं। इसीलिए पन्त जी ने पल्लव की सीमाओं को छायावाद की अभिव्यंजना की सीमा कहा है। ऐसा एक चित्र देखिए—

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार
न जाने ढलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

कवि ने संसार की विषमताओं से अवसन्न एवं विषण्ण होकर विश्व में परिवर्त्तन चाहा अतः '**परिवर्त्तन**' नामक कविता लिखी। यह भी पल्लव-संग्रह का एक अंग है। यह कविता वास्तव में इस ग्रन्थ की प्रतिनिधि रचना है, जिसमें विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष और परिवर्त्तन के प्रति आग्रह की भावना है। इसमें शैली की प्रखरता, भाषा की परिपुष्टता और उद्दाम भावों का सवेग प्रकाशन अनुपम है। इसमें कवि-हृदय अपने पूर्ण यौवन पर है।

पल्लव की रचनाओं में कल्पना और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। अनुभूत विषयों का कल्पना के सहारे चित्रण बड़ा मर्मस्पर्शी हुआ है। पल्लव की कुछ कविता कल्पना-प्रधान हैं, कुछ भाव-प्रधान और कुछ में दोनों का समन्वय। 'वीथि-विलास', 'विश्व-वेणु', 'निर्झर-गान', 'निर्झरी' और 'नक्षत्र' आदि कविताएँ कल्पना-प्रधान हैं; 'मोह,' 'याचना', 'विसर्जन', 'मधुकरी', 'मुस्कान' और 'सोने का गान' आदि भाव-प्रधान हैं और 'मौन-निमन्त्रण', 'बालापन', 'छाया,' 'बादल' 'अनंग' और 'स्वप्न' आदि उभय-प्रधान हैं। जिन कविताओं में कल्पना और भाव

का समुचित सम्मिश्रण है, वे ही वास्तव में सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं ।

पल्लव की रचनाओं में हमें उत्तरोत्तर वास्तविकता की खोज का प्रयत्न दीख पड़ता है, जिसका वस्तुतः प्रारम्भ 'परिवर्त्तन' रचना से होता है । पन्त जी स्वयं लिखते हैं—"इस कविता-जगत् में नित्य-जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्त्तन' के रचना-काल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्त्तन' उस अनुसन्धान का केवल प्रतीक मात्र है ।" नित्य-जगत् की वास्तविकता पर पन्त जी का दृढ़ विश्वास 'गुंजन' काल की रचनाओं में प्रतिष्ठित-प्राय सा दीख पड़ता है ।

'पल्लव' की सब से बड़ी विशेषता है इसके विलक्षण लाक्षणिक प्रयोग, यथा—शीतलता के लिए 'चाँदनी', शिशु के लिए 'अतुल अरूप' और असुन्दर वस्तुओं के लिए 'धूल की ढेरी' और सुन्दर वस्तुओं के लिए 'मधुमय गान' का प्रयोग ।

गुंजन—पल्लव के पश्चात् पन्त जी की श्रेष्ठ रचना 'गुंजन' के दर्शन हुए । पन्त जी ने इसे स्वयं अपनी आत्मा का उन्मन गुंजन कहा है । 'पल्लव' के अन्त में हम जीवन की वास्तविकताओं की खोज का प्रयत्न देखते हैं, परन्तु इसमें कवि का यह प्रयत्न मूर्त्तिमान् होकर सफल हो गया है । वीणा में कवि ने चर्मचक्षुओं से प्रकृति का सौन्दर्य निहारा था, पल्लव में उसे हृदय की आंखों से देखा और इसमें प्रकृति का क्षेत्र व्यापक हो गया, मानव भी उसका एक अंग हो गया अतः गुंजन मे प्रकृति के अंगभूत मानव-जीवन के दर्शन की लालसा उत्कट हो गई है । इस प्रकार पन्त जी के विचार सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते गए हैं । उनमें मांसल-भाव कम होता गया है, सूक्ष्मता आती गई है, बाह्य पर्यवेक्षण और विश्लेषण कम होता गया है और कल्पना एवं भावव्यंजना बढ़ती गई है तथा दैहिक एवं ऐहिक प्रतिपादन न्यून होता गया है और अपार्थिव एवं नित्य अध्यात्म जगत् का चिन्तन, मनन और निरूपण बढ़ते गए हैं ।

कवि पर दैहिक और आधिभौतिक आपत्तियाँ आईं, जिनसे उसे बड़ी कठिनता से मुक्ति मिली । इस परिवर्त्तन ने उसके मानस में निराशा के स्थान पर आशा का संचार किया । उसने विषाद की मनहूस निशा के पश्चात् आशा का उज्ज्वल उषा-काल देखा, उसे जीवन में प्रकाश दीख पड़ा और दुख का अन्धकार सुख के परम आलोक में डूबता प्रतीत हुआ । इसीलिये कवि पन्त के विचारों में इस समय हम एक भारी परिवर्त्तन देखते हैं । पन्त जी द्वारा विश्लेषित मानव-जीवन का सुन्दरतम चित्र हम नीचे देते हैं ।

पन्त जी मानव को दिव्य ज्योति का एक चिरन्तन स्फुलिंग मानते हैं—

मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन ।

इस मानव का कार्य शाश्वत जीवन-नौका-विहार करना है। यह मानव-जीवन सुख-दुख का एक संगम है, जिसे कवि ने **'साँझ-उषा का आँगन'**, **'विरह-मिलन का आलिंगन'** और **'चिर हास-अश्रुमय आनन'** कहा है—

यह सांझ-उषा का आँगन
आलिंगन विरह-मिलन का
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का ।

जग-जीवन में सुख-दुख तादात्म्य रूप से रहे हुए हैं। सुख-दुख के जोड़े को जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता—

जग-जीवन में है सुख-दुख,
सुख-दुख में है जग-जीवन ।

इन शब्दों में हम कवि कालिदास के निम्न शब्दों की प्रतिध्वनि सुनते हैं—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छति उपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

परन्तु कवि न तो चिर सुख चाहता है और न चिर दुख चाहता है—

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख ।

क्योंकि चिर-सुख भी एक उत्पीड़न है और चिर-दुख भी—

अविरत सुख है उत्पीड़न
अविरत दुख है उत्पीड़न ।

सुख-दुख के मिलन में ही माधुर्य रहा हुआ है। इसलिए कवि नितान्त एक को नहीं चाहता, दोनों को ही चाहता है जिससे सुख दुख से और दुख सुख से बँट जाय—

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण;
मानव जग में बँट जावे,
दुख सुख से और सुख दुख से ।

कवि विश्व-वेदना में प्रतिपल तपने के लिए मन को प्रेरित करता है क्योंकि खरे होने का यही एकमात्र उपाय है—सोना तप कर ही खरा होता है—

तप रे मधुर-मधुर मन
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन।
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्त्ति पूर्णतम।

जीवन की पूर्णतम मूर्त्ति ही परम सुन्दर है और कवि को सुन्दरतम जीवन अधिक प्रिय है—

सुन्दर से अति सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे! सुन्दर सुन्दर जग जीवन।

पन्त जी के उपर्युक्त शब्दों में जीवन की कैसी सुन्दर व्याख्या है। इस प्रकार के जीवन-सम्बन्धी अनेक सुन्दर भाव हम गुंजन में देखते हैं।

गुंजन में पन्त जी की दार्शनिकता खिल पड़ी है। भारतीय जीवन के दिव्य दर्शन हमें इस काव्य में होते हैं। यहाँ एक सयति है, मर्यादा है, विकास है, आशा है, हर्ष है, उल्लास है और है प्रतिपल नूतनता का उन्मेष। 'तप रे मधुर-मधुर मन', 'मानव' एवं 'नौका-विहार' आदि कविताओं में जीवन का दार्शनिक चित्र है।

इसके अतिरिक्त हम इस काव्य में नारी-सौन्दर्य को भी देखते हैं परन्तु उस सौन्दर्य में विश्व-सौन्दर्य भरा हुआ है। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में काल्पनिक पत्नी का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, जिसमें कवि विश्व-सौन्दर्य की ही झलक पाता है। नारी में विश्व की मृदुलता, मंजुलता, मधुरता और मनोहारिता भरी हुई है। पन्त जी प्रकृति में नारी-सौन्दर्य को भरते हुए बड़े सुन्दर चित्र खींचते हैं। लजीली दुलहिन उषा का एक चित्र देखिए—

दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि—निभृत शयन पर
वह छवि की छुई-मुई-सी,
मृदु मधुर लाज से भर-भर।

इनके नारी-चित्रों में एक उदात्तता, सदाशयता और विशद व्यापकता रहती है, उनमें ऐन्द्रियता नहीं और न है कलुषता, यथा—

तारिका सी तुम दिव्याकार,
चन्द्रिका की झंकार !
प्रेम-पंखों में उड़ अनिवार,
अप्सरी सी लघु भार,
स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार,
प्रणय-हंसिनि सुकुमार ?
हृदय-सर में करने अभिसार,
रजत-रति, स्वर्ण-विहार !

ज्योत्स्ना—पन्त जी का प्रकृति-प्रेम शनैः-शनैः मानव-प्रकृति और मानव-जीवन सम्बन्धी खोजों के प्रति मुड़ने लगा था, यह बात कही जा चुकी है। 'पल्लव' से 'गुंजन' में जीवन-दर्शन अधिक मिलता है। 'ज्योत्स्ना' में भी मानव-जीवन की वास्तविकता का ही विवेचन है। पन्त जी लिखते हैं कि "ज्योत्स्ना में नवीन जीवन तथा युग-परिवर्त्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। पल्लव-कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे निखर कर ज्योत्स्ना का जगत् जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है।"

यह एक छोटा सा रूपक है या रूपनाटिका है जिसमें अमूर्त्त भावनाओं को मूर्त्त-पात्रों का रूप देकर मानव जीवन को प्रेम और औज्ज्वल्य के उच्चाशयों से समन्वित कर संसार को स्वर्ग बनाने का विधान है। इसकी कथा पाँच अंकों में विभक्त है जिसका सार यह है—'संसार की विषमता को देखकर इन्दु ज्योत्स्ना को मर्त्यलोक का शासन सौंप देता है। वह पवन, सुरभि, कल्पना और स्वप्न की सहायता से प्रेम की सरिता बहा कर इस लोक को स्वर्ग बना देती है। दया, सत्य, भक्ति और अनुराग भी इस निर्माण-कार्य में सहयोग देते हैं।'

इसमें पन्त जी ने उच्च मानव-जीवन की प्रतिष्ठा तो की है परन्तु नाटिका इतनी सफल नहीं है क्योंकि कवि नाटककार न बनकर कवि ही रहा है। उसका कथा-संगठन प्रतीकों के भार से दब गया है, चरित्र-चित्रण में भी घूम कर नाक पकड़ने की सी बात हो गई है तथा कथनोपकथन, भाषा और शैली भी नाटकीय-कला के अनुरूप नहीं है। कल्पना द्वारा समस्थल पर स्थित मानव-जीवन की स्थापना अमूर्त्त पात्रों द्वारा नाटिका में संगत नहीं। उद्देश्य बहुत ऊँचा है तथा संगीत में दार्शनिक भाव भी कोमल हो गया है, यही इस

नाटिका की सफलता है अन्यथा नाट्य-कला की कसौटी पर यह खरी नहीं उतरती।

युगान्त—'गुंजन' में कवि मानव-जीवन का आदर्श उपस्थित करता है, 'ज्योत्स्ना' में वह उसे सामाजिक रूप देकर विश्व की मंगल-कामना करता है और 'युगान्त' में संसार में एक नूतनता चाहता है। इसमें वह बाह्य दिशा में भी सक्रिय है और विकास का भी प्रतिपक्षी है तथा नित्य सत्य की खोज के प्रति आकर्षण में मानवता को नवीन रूप में देखने का अभिलाषी है। वह जीवन में ही नवीन-चेतना नहीं चाहता, सारे विश्व को नवीन चेतना से युक्त देखना चाहता है। एक ओर वह कोकिल से विश्व में मधुर राग न भर कर अग्नि-कण वर्षाने की प्रार्थना करता है जिससे जीर्ण-पुरातन नष्ट-भ्रष्ट हो जाय और दूसरी ओर तारों से कण-कण मे प्रकाश भर कर अन्धकार को नष्ट करने की अभ्यर्थना करता है। कोकिल से कहता है—

गा, कोकिल बरसा पावक कण !
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन
ध्वंश-भ्रंश जग के जड़-बन्धन
पावक-पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।

'नवल मानवपन पल्लवित हो' इसमें कवि का भावुक-पन व्यक्त नहीं हो रहा है वरन् उसकी व्यग्रता झलक रही है। कवि को बाहर सौंदर्य, स्नेह और उल्लास न मिल सका अतः वह अन्तर्जगत् मे नवीन परिवर्त्तन चाहता है—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास, मुझे
मिल सका नहीं जग में बाहर।

पल्लव की 'परिवर्त्तन' कविता में यह परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ था और 'गुंजन' में उसका पूर्ण विकास हुआ, साथ ही प्रकृति-सौन्दर्य-का दर्पण एक समुचित रूप दिखाता रहा अतः वह काल छायावाद की रचनाओं का रहा। इस प्रकार 'वीणा' से 'गुंजन' तक छायावाद का शैशव प्रौढ़ावस्था तक पहुँचता है। पुनः कवि को सांसारिक विषमता में शासक-शासित, शोषक-शोषित और उत्पीड़क-उत्पीड़ित का वैषम्य-समन्वित सम्बन्ध अप्राकृतिक दृष्टिगोचर हुआ जिससे उसकी आत्मा तिलमिला उठी। साम्यवाद और गान्धीवाद ने इस नवीन

दृष्टिकोण को उद्दीप्त किया और कवि प्रगति का हामी हो गया। वास्तव में पन्त जी को हम 'युगान्त' में प्रगतिवाद की सीढ़ी पर चढ़ता देखते हैं, इसके उच्च धरातल पर तो वे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पहुँचे हैं।

युगान्त से पूर्व पन्त जी ने मानव-जीवन का एक आदर्श उपस्थित किया था अतः उनकी रचनाओं में दार्शनिकता का बड़ा भव्य पुट था। जब नवीन काल में नवीन प्रगति का समय आया तो वे भी परिवर्त्तित हुए परन्तु अपनी उस दार्शनिकता को न छोड़ सके अतः युगान्त में हम कवि को शीघ्रता से मुड़ता तो देखते हैं परन्तु चिन्तन के साथ। निम्न पंक्तियों में उनकी दार्शनिकता से मढ़ी प्रगतिवादिता दर्शनीय है—

सुख-दुख की लहरों के शिर पर
पग धर पार करो भव-सागर!
बढ़ो-बढ़ो विश्वास चरण-धर!

कवि आगे बढ़ रहा है परन्तु तत्व-दृष्टि से देखता हुआ। युगान्त की दार्शनिकता में बड़ी कोमलता है, उसमें दर्शन का शुष्क कंकाल नहीं।

इस संग्रह में 'बापू के प्रति' कविता बड़ी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, जिस से ऐसा प्रतीत होता है कि एक महान् श्रद्धालु भक्त अपने भगवान् पर मुग्ध हुआ उसके जन-हित-कारक कार्यकलाप पर पुष्प चढ़ा रहा है। पन्त जी उस उदार-चेता के प्रति कहते हैं—

सदियों का दैन्य तमिस्र तूम
धुन तुमने कात प्रकाश सूत,
हे नग्न! नग्न पशुता ढक दी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत।

इस काव्य में आदर्श मानव-जीवन की झाँकी है, कोमल दार्शनिक चिन्तन है, वैषम्य का उन्मूलन और साम्य का प्रतिस्थापन है परन्तु कवि प्रकृति का मोह नहीं छोड़ सका है। यदि यह कहें कि और सब कुछ कलेवर है, प्रकृति ही प्राण है तो अनुचित न होगा। 'बसन्त', 'तितली', 'संध्या', 'छाया' और 'बाँसों का झुरमुट' आदि कविताएँ प्रकृति से सम्बन्ध रखती हैं परन्तु इनमें प्रकृति का स्थूल चित्रण नहीं है।

युगवाणी—'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के प्रति '**मैं** और मेरी कला' नामक लेख में पन्त जी लिखते हैं कि—"युगवाणी तथा ग्राम्या में मेरी क्रान्ति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है।

भूतवाद उस स्वर्ग के लिये है केवल सोपान,
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।"

इसमें उन्होंने सामन्तवादी मध्य युग की पाखण्डपूर्ण नैतिकता का भंडा फोड़ दिया है तथा प्राचीन पोपलीला, मिथ्याचारों एवं मृतादर्शों के प्रति मानव-मोह को दूर कर उसे नवीन जीवन-दर्शन कराने का प्रयत्न किया है, जिसका निर्माण साम्याधार पर हो। 'युगवाणी' नाम से ही विदित होता है कि यह इस युग की वाणी है, पन्त जी की शाश्वत उदात्तता की गूँज नहीं। संसार में वैषम्य देखा—जनता-जनार्दन किन्तु प्रस्वेद-प्रच्छन्न कृषक का दुर्बल और शुष्क कलेवर, महत्परिश्रमी किन्तु शोषित श्रमिक और साथ ही इनके शोषण और दोहन से सुरा-सुधा की प्यालियों को होंटों से चुचकारते, कामिनियों से किलोलें करते और अपार वैभव के टीलों से दैहिक खुजली का सुख लेते मस्त धन-लोलुप एवं अधिकार-परक पुच्छविषाणहीन वृषभों को भी देखा—और कवि तिलमिला उठा। अतः यह पन्त जी का एक बौद्धिक कर्षण ही कहा जायगा क्योंकि सन् ४२ की क्रान्ति में जो पाशविक अत्याचार और नृशंसता का तांडव नृत्य हुआ उससे उनकी आत्मा विकम्पित हो गई, हिंसात्मक बाह्य क्रान्ति के प्रति उनका सारा उत्साह विलीन हो गया और उन्होंने धारणा बनाई कि नवीन सामाजिक संगठन राजनैतिक और आर्थिक आधार पर होना चाहिए : इसके परिणामस्वरूप 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में हम उन्हें अध्यात्म की ओर मुड़ता देखते हैं।

इस काव्य-संग्रह में हम कवि पन्त की आत्म-प्रकृति को नहीं देखते, केवल उसकी सामयिक विकृति को ही देखते हैं। मध्ययुग से मनुष्य श्रेणी-वर्ग में विभाजित था और श्रमिक-वर्ग धनबल से शोषित था अतः कवि नवीन-युग की कल्पना करता है—

श्रेणि में मानव नहीं विभाजित
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।

इसमें कवि की दार्शनिकता लुप्तप्राय सी हो गई है और उसके समक्ष एक समस्या दीख पड़ती है और वह है वैषम्य-निष्कासन। साम्यवाद के गहरे रंग ने पन्त जी को इतना उत्तेजित किया कि वे हिंसक क्रान्ति तक पहुँच गए परन्तु गांधीवाद की सुकोमल मार्जनी ने उसे रगड़ कर हलका कर दिया। इन भावों का बड़ा सुन्दर समन्वय है।

इन विषयों के अतिरिक्त प्रकृति भी कुछ कविताओं का विषय रही है परन्तु वह विजित हुई मानव-कृति के रूप में ही हमें दीखती है। देखिए मानव प्रकृति की कैसी सुन्दर कृति-योजना है—

हार गई तुम
प्रकृति !
रच निरुपम
मानव कृति !
निखिल रूप, रेखा, स्वर
हुए निछावर
मानव के तन, मन पर।
धातु, वर्ण, रस, सार,
बने अस्थि, त्वच, रक्त-धार,
कुसुमित अंग-उभार
सुन्दरता उल्लास
छाया, गंध, प्रकाश,
बने रूप-लावण्य विकास,
नव यौवन-मधुमास,
जीवन रण में प्रतिक्षण
कर सर्वस्व समर्पण,
पूर्ण हुई तुम, प्रकृति !
आज बन मानव की कृति !

युगवाणी पर अँग्रेजी कविता का प्रभाव है। इसकी शैली, भाषा और भाव-व्यंजना स्पष्ट ही उस प्रभाव की उद्घोषिका है। युगान्त में जो प्रगति-वाद पलकर खड़ा हुआ था, वह यहाँ और ग्राम्या में पुष्ट हुआ है।

ग्राम्या—ग्राम्या में न तो 'पल्लव' की मर्मराहट है और न 'गुंजन' का मधु गुंजन है, केवल अतृप्त हृदय का रोदन ही जीवन का संगीत बना हुआ है—

यहाँ न पल्लव बन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा,
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन।

वास्तव में इस काव्य में कोई नवीन सन्देश नहीं है, युगवाणी का ही सन्देश प्रस्फुटित हुआ है। ग्राम्य-समस्या इसका प्रधान विषय है क्योंकि दुर्व्यवस्थित एवं दुर्दशा को प्राप्त ग्राम पन्त जी की सहानुभूति का केन्द्र बन गए हैं। उनके शब्दों में ग्राम का वास्तविक रूप इस प्रकार है—

यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम-सभ्यता संस्कृति से निर्वासित !
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गृह-गृह में कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।
प्रकृति धाय यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित।
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवनमृत !

इस काव्य में ग्रामवासी, ग्रामवधू, वृद्ध और कृषक एवं श्रमिकों के बड़े सुन्दर चित्र हमें मिलते हैं और ग्राम-संस्कृति के दर्शन भी होते हैं तथा साथ ही धोबी, चमार एवं कहारों के स्वाँग भी दृष्टिगोचर होते हैं। ग्राम-नारी का शालीनतापूर्ण एक सुन्दर चित्र देखिए—

सर से आँचल खिसका है—धूल भरा जूड़ा—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती बतलाती सहोदरा सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।
निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल, जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रही तुम काम-काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जन के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार।

और साथ ही आधुनिका का एक नग्न चित्र भी निहारिए—

लहरी सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल-फूल पर मँडराती मधु क्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग-प्रणय, धन पद मद, आत्म-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी !

इस काव्य मे ग्राम के साथ प्रकृति का चित्रण भी बड़े रम्य रूप में किया गया है, यह पन्त जी के प्रकृति-प्रेम का ही परिणाम है।

इसके पश्चात् कवि एक ऐसे भाव-लोक में प्रविष्ट होता है जहाँ सामा-

जिक चेतना अपना रूप निखारे बैठी है और अध्यात्म की मैनाएँ अपना मधुरतम राग अलापती हैं, जहाँ अनुभूति का शीशा मँज कर पारदर्शक हो गया है और अन्त:विकास ने उन्निद्रा को झकझोर दिया है। कवि के इस लोक की कृतियाँ हैं—'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि'।

स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि—पहले कहा जा चुका है कि पन्त जी 'वीणा' से 'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुंजन' में क्रमश. तन से मन और मन से आत्मचिन्तन की ओर बढ़े हैं। पुन: 'युगान्त' से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे संसार-दुख, विषमता एवं उत्पीड़न का नृत्य देखते रहे हैं। इसे हम उनकी शान्त सचेतन विचार-लहरी में भरी विषम चट्टान का गदका ही कह सकते हैं। भला अहिंसक को हिंसा कैसे प्रिय हो सकती थी, शान्त को अशान्ति और प्रेमी को घृणा कैसे भा सकती थी, स्वर्ग के नन्दन कानन में विचरने वाले आत्मभोजी को नारकीय तप्त वायु भला कब सुखस्पर्श दे सकती थी और भला अध्यात्म-सुधा पीने वाला भौतिक गरल कब तक निगल सकता था। शान्त, गम्भीर और उच्चादर्श-विहार के विहारी पन्त कब इस गलघोटक वातावरण में श्वास लेते। वे ऊब गए और पुन: अध्यात्म की ओर मुड़े। यही छायावाद से प्रगतिवाद और प्रगतिवाद से अध्यात्मवाद की ओर इनकी विचारधारा का प्रवहन है।

'स्वर्णकिरण' में प्रकृति और जीवन का सुन्दर चित्रण है परन्तु उनके प्रति भौतिक आकर्षण नहीं है। यहाँ नवमानवतावाद का चारुतम रूप कवि की आँखों में नाच रहा है। उसका चिन्तन मांसल न होकर सूक्ष्मतम हो गया है। यह प्रकृति को निहारता है परन्तु मानव ही याद आता है, देखिए 'प्रभात के चाँद' में मानव का सकरुण मुखमण्डल ही दीख रहा है—

> **नील पंक में धँसा अंश जिसका उस श्वेत कमल सा शोभन**
> **नभोनीलिमा में प्रभात का चाँद उनींदा हरता लोचन!**
> **इसमें वह न निशा की आभा, दुग्ध फेन सा यह नव कोमल,**
> **मानवीय लगता नयनों को स्नेह पक्व सकरुण मुखमण्डल!**

'स्वर्णकिरण' की रचनाओं में उपनिषदों का बड़ा प्रभाव है जो श्री अरविन्द के सम्पर्क का प्रतिफल प्रतीत होता है। इसमें 'अरविन्द के प्रति', 'हिमाद्रि और समुद्र', 'मत्स्यगन्धाएँ', 'कौवे के प्रति' और 'प्रभात का चाँद' आदि बड़ी सुन्दर और भावपूर्ण कविताएँ हैं।

'स्वर्णधूलि' में प्रकृति की कविताएँ कम हैं। जो हैं वे आत्मवाद से परिपूर्ण हैं। इसमें सामाजिक उत्थान-सम्बन्धी रचनाएँ भी हैं। 'पतिता',

'मर्मव्यथा', 'सावन', 'चाँदनी', 'स्वत्वबन्धन' और 'क्रोटन की टहनी' आदि कविताएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' पन्त जी की इस धारणा की अभिव्यक्ति-मात्र है कि सामाजिक संगठन राजनैतिक और आर्थिक आधार पर होना चाहिए। इससे उन्हें एक नवीन युग के प्रभात का स्वर्णिम प्रकाश दीख पड़ा, जिसके आलोक में उन्हें निश्चय हो गया कि नवीन सांस्कृतिक आरोहण नूतन चेतना के मार्ग से ही सम्भव है, जो मनुष्य की मानसिक चेतना को उच्चतम धरातल पर ले जावेगी अतः अब राजनैतिक एवं आर्थिक क्रान्ति ही नहीं होगी वरन् आध्यात्मिक क्रान्ति भी होनी चाहिए क्योंकि आत्म-बवण्डर को शान्त कर चेतना के पूर्ण विकास के लिए बाह्य रगड़न की अपेक्षा अन्तर्मार्जन की अधिक आवश्यकता है। यही धारणा हमें सन्देश के रूप में इन काव्यों में मिलती है। इनमें व्यष्टि और समष्टि का तथा बाह्य और अतःप्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर समन्वय है।

युगपथ और उत्तरा—इन दोनों काव्यों में कवि अध्यात्म की उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ता गया है। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में जो आत्म-दर्शन हुआ वह इन संग्रहों में अधिक मनमोहक हो गया। इनमें औपनिषदिक दार्शनिकता कूट-कूटकर भरी हुई है। जिस मानववाद की स्थापना का प्रयत्न हम पन्त जी के प्रारम्भिक काव्यों से देखते आए है, उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा का कार्य यहाँ समाप्त हुआ है।

यदि हम 'वीणा' से लेकर 'उत्तरा' तक की काव्यगत पन्त जी की भावना का समाहार करें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि उन्होंने प्रकृति से आकृष्ट हो उसी के माध्यम द्वारा नर को नारायण का रूप समझकर समुज्ज्वल सम जीवन का विधान किया है जिस प्रकार वैदिक काल में ऋषियों ने प्रकृति से प्रभावित हो उपनिषदों में जीव और ब्रह्म का भेद हटाकर समरूपता का विधान किया था।

पन्त जी की काव्य-कला—

अनुभूत पदार्थों की सौंदर्याभिव्यक्ति ही कला है। पन्त जी एक उच्च-कोटि के कलाकार हैं। 'वीणा' से लेकर 'उत्तरा' तक जितना भी काव्य-कोष है, उसमें उन्होंने अमूल्य रत्नों का संग्रह किया है। वे सभी रत्न चित्र-रत्न हैं। उन्हें प्रकृति से प्रेरणा मिली थी और प्रकृति उनकी आँखों में होकर हृदय में उतर गई थी अतः वे उसे कभी न भूल सके। विश्व-छाया, प्रगति एवं मानव-जीवन-दर्शन कहीं भी वे प्रकृति को त्याग न सके वरन् उसी के माध्यम से ही विषय का प्रतिपादन किया। प्रकृति के रंगीन मूक चित्र उनकी मानसी प्रयोग-

शाला की चित्रपटी पर अंकित हो गये थे अतः मनोद्गत विचारों का चित्रांकन उनके लिए उतना ही सुगम रहा है जितना किसी सिद्धहस्त चित्रकार को तूलिका से चित्र के खाके में रंग भरना। वे चित्र भी ऐसे हैं जिनमें जान है, स्पन्दन है और है एक आकर्षण। इन चित्रों में वस्तु-व्यंजना एवं भाव-व्यंजना की सरणी बड़ी मनोहारिणी है। पयोधर को 'चातक के प्रिय जीवनधर!' कह कर पुकारना, तरंग को 'अरी वारि की परी किशोर!' या 'सरिता की चंचल दृग-कोर!' सम्बोधित करना, नक्षत्र को 'नव प्रभात के अस्फुट अंकुर!' या 'अनन्त के हृत्कम्पन!' कहना और छाया के लिये 'ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि!' का प्रयोग करना कितना सुन्दर और प्यारा लगता है यद्यपि शब्दों से लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ ही लक्षित एवं ध्वनित हो रहे हैं।

चित्रों में कैसे रंग और साधन चाहिए, पन्त जी इसे अच्छी तरह जानते थे अतः इनके काव्य-चित्रों में शब्द-चयन कांचन में मणि-खचन सा हुआ है। प्रकृति-चित्रों में यह रंग अपने रूप में है और भाव-चित्रों में कल्पना के रूप में किन्तु वह अवर्ण वर्ण भी सरूप सा हो गया है। दोनों प्रकार के चित्रों का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। नीलाम्बर के प्रतिबिम्ब से युक्त चंचल लहरों वाली शुभ्रजला गंगा का वर्णन नीली साड़ी से परिवेष्टित गौरवर्णा सुन्दरी के रूप में देखिए—

गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।

इसी प्रकार संध्या का एक प्रश्न-गर्भित चित्र भी अवलोकिए—

कहो तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केशकलाप
मधुर, मंथर, मृदु, मौन!

इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सर्वत्र अक्षत-प्रकृति की शान्ति और गम्भीरता हमें मिलती है। [illegible] या छाया-चित्र, प्रगति-निरूपण हो या भाव-चित्र अथवा तत्व-चिन्तन हो या सज्जीवत्त-दर्शन, सर्वत्र ऊँचापन है, उज्ज्वलता है और है विशद नवीनता। कवि ने यथार्थ में काव्य-पुरुष का निर्माण किया है, जिसमें शरीर से हृदय और हृदय से आत्मा के विश्लेषण का प्राधान्य है अर्थात् कवि की दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली गई है। 'वीणा' में कवि वीणा पकड़ना सीखता है, 'पल्लव'

में उसने तार छेड़े हैं और 'गुंजन' में वह तंत्री गूँज पड़ी है। इस समय तंत्री-नाद में मग्न कवि विश्व के कोलाहल से चौंक पड़ता है और व्यग्रतावश उस कोलाहल का कारण जानकर उसके समाधान में व्यस्त हो जाता है किन्तु विजित सज्जन की भाँति विवश हो पुनः उसी राग को छेड़ता है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ऐसा ही व्यग्र संक्रमण है किन्तु 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'युगपथ' और 'उत्तरा' में फिर उससे मुड़कर प्रकृतिस्थ हो जीवन-दर्शन की सुन्दर से सुन्दरतर और सुन्दरतर से सुन्दरतम झाँकी लेने के लिए तंत्री-स्वरों में डूब जाता है।

पन्त जी प्रकृति-प्रिय हैं। उनके छाया-चित्रों में भी प्रकृति का भाग अधिक है। उसे वे सजीव देखते हैं अतः वे छायावादी कवि हैं। विश्व में व्याप्त विराट् सत्ता के वे बड़े पक्षपाती हैं अतः उनका समूचा काव्य एक चेतना से अनुप्राणित है। मानव प्रकृति का अंग है और प्रकृति विश्वात्मा का अतः इनमें एक गूढ़ तादात्म्य है इसीलिए वे इसी विश्व में प्रकृति के बीच नर को नारायण के रूप में देखना चाहते हैं, स्वर्ग या अपवर्ग में नहीं।

पन्त जी नारी-सौंदर्य के बड़े प्रेमी रहे हैं अतः उसके (नारी के) माता एव पत्नी के रूप में चित्र बड़े मनोहारी हैं। प्रकृति के नारी-प्रतीक भी इनके काव्य में बड़े विचित्र हैं। इस दृष्टि से ये शृंगारी कवि भी हैं। व्यक्तिगत शृंगार ने भी इस भावना को बल दिया यह निश्चितप्राय है।

मध्य की रचनाओं में साम्यवाद और गान्धीवाद के आधार पर नवीन समाज के नव-निर्माण का सन्देश है। यहाँ वे प्रगतिवादी हो गये हैं। 'स्वप्न' और 'मौन-निमन्त्रण' आदि कविताओं में रहस्यवाद की झलक मिलती है।

इस प्रकार एक ही पन्त प्रकृति-प्रेमी, शृंगारी और छायावादी, प्रगतिवादी और आदर्शवादी तथा अन्त में अद्वैतवादी भी हैं।

इनकी कला की एक विशेषता भाषा की मसृणता, मृदुता और पेशलता है। शब्दों में मणि-कांचन-संयोग, विलक्षण लाक्षणिक प्रयोग, चारुतम योजना, गतिमान् छन्द, सतालस्वर संगीत आदि तथा सबके ऊपर कोमल-कल्पना की उड़ाने, इनकी कविता के विशेष गुण हैं। गुण एवं रीति का प्रयोग इनके काव्य में रसानुकूल ही हुआ है तथा अलंकारों का विधान नैसर्गिक है न कि बलात् भार-रूप में। कहना होगा कि इनकी भाषा एवं शैली आदर्श हैं। विशेष अलंकारों से युक्त इन गुणों से समन्वित कुछ पद्यांश नीचे दिए जाते हैं—

(क) प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?

निराकार तम मानो सहसा ज्योतिपुंज में हो साकार।
बदल गया द्रुत जगज्जाल धर कर नाम रूप-नाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, खिली सुरभि डोले मधुबाल।
स्पंदन, कंपन, नव जीवन फिर सीखा जग ने अपनाना।

(ख) फिर परियों के बच्चे से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।।

[बादल]

(ग) नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि।
मृदु करतल पर शशि-मुखवर नीरव अनिमिष एकाकिनि।।

[चाँदनी]

(घ) कौन-कौन तुम परिहृतवसना,
म्लानमना, भू-पतिता-सी,
वातहता विच्छिन्न लता सी,
रति-श्रान्ता ब्रज-वनिता-सी ?
गूढ़ कल्पना सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी।

[छाया]

(ङ) वसुधा के उरोज शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता के जाँघों से सरका लहरा रेशम का जल।

(च) दर्पी हठी निरंकुश निर्मम कलुषित कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत,
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अन्तिम हैं उनके क्षण।

[धनपति]

(छ) निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय !

[महात्मा जी के प्रति]

(ज) चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,

आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता-प्रकाशिनी ।

[परतंत्र भारत-माता]

(झ) **तप रे मधुर-मधुर मन !**
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन ।

(ञ) **मानव अन्तर हो भू विस्तृत नव मानवता में भव विकसित ।**
जन मन हो नव चेतना ग्रथित, जीवन शोभा हो कुसुमित हे ।
फिर दिशि क्षण में ।
तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन-जन में, जग-मंगल हित हे !

पन्त जी का हिन्दी-साहित्य में स्थान—हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उसका आदिकाल वीर-गाथाओं का समय था; पूर्व मध्य-काल भक्ति का और उत्तर-मध्यकाल रीति-निरूपण एवं शृंगार का अतः आधुनिक छायावादी कवि पन्त की तुलना उन कालों के कवियों से नहीं हो सकती । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि समस्त हिन्दी-साहित्य के प्रतिनिधि कवियों में पन्त जी उनके साथ सगर्व और ससम्मान बिठाए जा सकते हैं । पन्त जी की तुलना केवल वर्त्तमान-काल के कवियों से की जा सकती है । इनमें इस क्षेत्र के और इस स्तर के इनके अतिरिक्त चार कवि हैं—मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा । इनमें से प्रथम दो निश्चित ही पन्त जी से बढ़कर हैं । गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा तो मुक्तक और प्रबन्ध सभी की दृष्टि से अपरिमित और अनुपम है, प्रसाद इनसे ऊपर द्वितीय स्थान पर हैं क्योंकि उनमें गुप्त जी के गुण होते हुए भी भाव-निष्कासन में सहजता और सरलता नहीं है और निराला एवं महादेवी जी क्रमशः इनसे कुछ कम चतुर्थ और पञ्चम स्थान पर है । प्रसाद आनन्दलोक के विहारी हैं अतः उनके काव्य में रहस्य की प्रधानता होने के कारण भावगाम्भीर्य अधिक है, निराला के काव्य में ऊर्ज्वस्विता है, क्रान्ति है और है गूढ़ दार्शनिकता एवं महादेवी जी के काव्य में प्रणय-वेदना से उदगत आँसुओं की सिक्तता है । इनमें से एक का काव्य तो आत्म-प्रकाश से इतना जाज्वल्यमान है कि चर्मचक्षु चोंधिया जाते हैं, वह

केवल अन्तर्मुखियों की विहार-भूमि है, दूसरे के काव्य की धमक दो ही व्यक्ति सह सकते हैं—एक तो वे जो दृढ़-हृदय हैं और दूसरे वे जो दर्शनभोजी हैं और तीसरे का काव्य नित्य विरह के सत्स्वरूप से युक्त होता हुआ भी केवल दुखियों को ही आश्वासन दे सकता है। पन्त जी के काव्य में प्रकृति-प्रेम, प्रकृति के माध्यम से मानव-जीवन की सुन्दर झाँकियाँ, नारी-सौन्दर्य के साथ विरह-विकम्पन और दार्शनिकता सभी कुछ है परन्तु इन सब में कोमल कल्पना-परियों की सुन्दर उड़ानें, भाव-मार्दव और सजीव चित्रांकन ऐसी विलक्षणता से पुञ्जीभूत है कि पाठक सहसा कह पड़ता है—'धन्य महाकवि, धन्य !'

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ (सन् १९०७ ई०) में फरुखाबाद में हुआ था। इनके पिता का नाम गोविन्दप्रसाद और माता का नाम हेमरानी था। इनके पिता एम० ए०, एल० एल० बी० थे और माता भी विदुषी थीं अतः पुत्री की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी बाल्यकाल से ही समुचित रूप में हुआ। सत्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और चार वर्ष पश्चात् संस्कृत और दर्शन विषयों के साथ बी० ए० पास किया। पुनः संस्कृत में ससम्मान एम० ए० की परीक्षा पास की। इस शिक्षा के साथ-साथ उन्हें चित्र और संगीत कलाओं की भी शिक्षा दी गई। इस प्रकार संस्कृत, दर्शन, चित्र और संगीत के अध्ययन ने उनकी काव्य-साधना के लिए पर्याप्त सामग्री दी। संस्कृत ने शब्द-भण्डार और उनकी सुकोमल योजना और दर्शन ने चिन्तन और अध्यात्म-विवेचन की क्षमता दी तथा चित्रकला के अध्ययन ने सुन्दर चित्रांकन और संगीत की शिक्षा ने शब्दों में स्वर भर दिया।

इनका विवाह ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। विद्याध्ययन-काल में ही महात्मा बुद्ध के जीवन एवं उनकी शिक्षाओं से ये अत्यधिक प्रभावित हुई थीं। इन पर उनका ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये परिणीता होते हुए भी बौद्ध-भिक्षुणी होने के लिए उद्यत हो गई परन्तु परिवार के गुरुजन सहमत न हुए। एम० ए० पास करने के पश्चात् ये प्रयाग-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका नियुक्त हुई और भगवान् तथागत की पूत भावना अपना रंग लाई। इन्होंने गृहस्थ से दूर विद्यापीठ में ही रहकर जन एवं साहित्य की सेवा में जीवन लगाने का निश्चय किया और तब से ये वहीं इस साधना में लगी हुई है। ये 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी है। कुछ वर्ष हुए, इन्होंने 'साहित्य-संसद' नाम की एक संस्था भी स्थापित की। वास्तव में ये दो संस्थाएँ—प्रयाग-विद्यापीठ और साहित्य-संसद—ही महादेवी जी के प्राण हैं, इन्हीं की उन्नति के लिए वे सदैव सजग रही है और आज भी दत्तचित्त हैं।

इन्होंने कविता करना बाल्यकाल से ही सीखा था। इसमें इनकी माता का बड़ा हाथ था। इनकी कविता-रुचि कैसे परिवर्धित हुई, इसको जानने के लिए हम महादेवी जी के ही शब्दों को यहाँ उद्धृत करते हैं। वे लिखती हैं—

"माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरम्भ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रजभाषा के ही समर्थक निकले, अतः उल्टी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्या-पूर्त्तियों में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खडी बोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं द्वारा हुआ तब उसमें, बोलने की भाषा में ही, लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता नहीं मानते थे अतः छिपा-छिपाकर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न किया। माँ से सुनी एक करुण कथा को प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानो खण्ड-काव्य लिखने की इच्छा भी पूरी कर ली। बचपन की यह विचित्र कृति कदाचित् खो गई है। उसके उपरान्त बाह्य जीवन के दुःखों की ओर मेरा विशेष ध्यान जाने लगा था। पड़ोस की एक विधवा वधू के जीवन से प्रभावित होकर मैंने 'अबला', 'विधवा' आदि शीर्षकों से उस जीवन के जो शब्द-चित्र दिए थे वे उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में भी स्थान पा सके। पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारत माता,' 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ मेरा कविता का शैशव भी समाप्त हो गया। इस समय से मेरी प्रवृत्ति एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई, जिसमें व्यष्टिगत दुःख समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म-चेतना का आभास देने लगा।"

इस उद्धरण से उनकी कविता के प्रारम्भ के विषय में हमें एक निश्चित बात ज्ञात होती है। कविता के शैशव के पश्चात् जबसे इनकी प्रवृत्ति एक विशेष दिशा की ओर मुड़ी, तब से इनकी लेखनी एवं तूलिका से अनेक सुन्दरतम पुस्तकें एवं चित्र हमारे समक्ष आए। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

काव्य-ग्रन्थ—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा। इनमें से प्रथम चार 'यामा' नामक संग्रह में संकलित हैं।

गद्य-ग्रन्थ—अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ, स्मृति की रेखाएँ और महादेवी का विवेचनात्मक गद्य।

इनमें से उपर्युक्त काव्य-ग्रन्थ 'नीरजा' पर इन्हें सेक्सरिया पुरस्कार और 'यामा' पर मगलाप्रसाद पारितोषिक मिल चुके हैं, जिनसे इनकी काव्य-प्रतिभा और काव्य-श्रेष्ठता प्रतिध्वनित होती है।

यामा—यामा में नीहार, रश्मि, नीरजा और सान्ध्यगीत संग्रहीत हैं और सब मिलाकर १८५ गीत हैं। यामा से तात्पर्य याम-संग्रह से है, अर्थात् नीहार आदि चारों चार याम हैं। नीहार से तात्पर्य कुहरे से है, रश्मि से किरण, नीरजा से कमलिनी और सान्ध्यगीत से सन्ध्या के गीत है, इस प्रकार इनके सार्थक अभिधान से विदित होता है कि जीवन के आठ पहरों में से ये दिवस के चार पहरे हैं। उषाकाल में नीहार की धुंध से सारी वसुन्धरा आवृत होती है, पुनः भगवान् मरीचिमाली अपने भासमान् किरणजाल से संसार को आलोकित कर देते हैं, जिससे नीहार का सिक्त साम्राज्य समाप्त हो जाता है और उल्लास भरने लगता है, कमलिनियाँ खिल जाती हैं और एक लम्बे समय तक विश्व-व्यापार चलता है, तदनन्तर अहोरात्र की सन्धि होती है और सन्ध्या अपने धूसर वेश में विश्व-व्यापार को समाप्त कर मलिनता छा देती है। इसी प्रकार नीहार में विषादपूर्ण वातावरण है। महादेवी जी का हृदय संसार-दुख को देखकर विषाद से भर गया है। उनका हृदय एक अज्ञात प्रियतम की खोज में निकल पड़ता है, परन्तु मार्ग निश्चित नहीं कर पाता। रश्मि में नीहार का विषाद-मालिन्य दूर हो गया है। इसमें उल्लास भरा हुआ है तथा इसके गीतों में प्रेमी और प्रेयसी के मध्य व्याप्त अनुराग की बड़ी सुन्दर व्यंजना है और विरह-वेदना में भी आशा का संचार है, अतः मधुरता है। रश्मि के पश्चात नीरजा का विकास होता है। इस काव्य में मन-कमलिनी की भाव-पंखुरियाँ बड़े गूढ़ किन्तु मनोहारी ढंग में खोली गई हैं। प्रभात से संध्या तक का समय भी लम्बा होता है, इसीलिए इसमें गीतों की संख्या भी औरों की अपेक्षा अधिक है। सांध्यगीत में पुनः विवाद दीख पड़ता है।

नीहार की रचनाओं से महादेवी जी की वैराग्य-भावना व्यक्त होती है। संसार का दुख देखकर वे संसार से भागकर असीम की शरण लेती हैं। वे उसके सौन्दर्य से मुग्ध हो जाती हैं और उसे प्रियतम समझ कर अपना अटूट नाता जोड़ लेती हैं। यहाँ से अद्वैत की भावना तो प्रारम्भ हो गई है, परन्तु विरहिणी विरह-पीड़ा का आनन्द लेने के लिए पृथकत्व स्वीकार करती है। रश्मि की अधिकांश रचनाओं में ईश्वर, जीव और प्रकृति का सम्बन्ध बतलाया

गया है। यह इनकी प्रौढ़ कृति है, जिसमें भाषा और भाव का सुन्दरतम रूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें पूर्णतः अद्वैत की प्रतिष्ठा हुई है। नीरजा नीहार की भाँति अनुभूतिप्रधान काव्य है, जिसमें अद्वैत के शुष्क ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का सरस राग है। प्रेम के लिए पार्थक्य अभिप्रत है, अतः इसमें महादेवी जी अपने दूरस्थ प्रियतम की विरहिणी बनकर पुनः अपना अस्तित्व स्वीकार करती हैं। सांध्यगीत में प्रेम पक कर उपासना का रूप धारण कर गया है।

दीपशिखा—इसमें ५१ गीत हैं। सम्भवतः जीवन रात्रि के अवशिष्ट चार याम समष्टिरूप में इसमें अभिव्यंजित हैं। इसकी अधिकांश कविताएँ दीपक पर हैं, जो आत्मा का प्रतीक है। जिस प्रकार दीपक मिलनवेला (प्रभात) तक रात्रि भर जलता है, उसी प्रकार आत्मा को भी मिलनपर्यन्त जलने के लिए ही इसमें प्रेरणा दी गई है। इस काव्य मे प्रतीकों का बड़ा प्रयोग है। दीपक के अतिरिक्त स्नेह प्रेम का, लौ सुख का, प्रकाश आत्म-प्रकाश का, झंझावात कठिनाइयों एवं मृत्यु का, रात्रि विरह-रात्रि का और अन्धकार वेदनाकृत मलिनता का प्रतीक है।

महादेवी जी की इन रचनाओं मे एक भाव-सूत्र पिरोया हुआ है, जिससे मुक्तक संग्रह होते हुए भी इनमें भावों का एक संश्लिष्ट संगठन है।

काव्य-साधना—जिस समय छायावाद अपने पूर्ण यौवन पर था, महादेवी जी ने काव्य क्षेत्र में पदार्पण किया। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विवेचन में महादेवी जी ने **छायावाद** के विषय मे लिखा है कि—

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव्य-भूमि पर उसने प्रकृति पर बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की, और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, छायावाद और अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"

इस छायावाद की व्याख्या को यदि एक छोटे से वाक्य में कहा जाय तो इस प्रकार रख सकते है कि प्रकृति के विविध सौन्दर्यपूर्ण अंगों में व्यापक चेतन सत्ता की छाया का भाव होना ही छायावाद है। उपर्युक्त महादेवीजी की परिभाषा में अध्यात्मवाद और छायावाद एक तत्व के पर्यायवाची शब्द हैं। अध्यात्मवाद से तात्पर्य रहस्यवाद है या अन्य यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। **रहस्यवाद** के विषय मे वे यामा की भूमिका में लिखती हैं—"मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती

तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकं-रूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।"

महादेवी जी की इन छायावाद एवं रहस्यवाद की परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने से हम इस परिणाम पर आते हैं कि छायावाद में प्रकृति सचेतन प्रतीत होती है जिससे अन्तःउल्लास मिलता है तथा रहस्यवाद में इससे आगे बढ़कर उस व्याप्त विराट् सत्ता से सम्बन्ध जोड़ने की तीव्र अभिलाषा होती है। प्रसाद जी ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्तिगत चित्सौन्दर्य के दर्शन को अखिल विश्व में व्याप्त चित्सौन्दर्य के दर्शन से भिन्न नहीं माना है अतः वे व्यष्टिसौन्दर्य दृष्टि को समष्टि सौन्दर्यदृष्टि से पृथक् नहीं मानते। इस प्रकार उनकी दृष्टि में छायावाद और रहस्यवाद में कोई अन्तर नहीं। परन्तु महादेवी जी प्रकृतिपरक व्यष्टिसौन्दर्य दृष्टि को आत्मपरक समष्टि सौन्दर्यदृष्टि की प्राथमिक सीढ़ी मानती हैं अतः उनके अनुसार रहस्यवाद छायावाद की पराकाष्ठा है।

इनसे मान्य रहस्यवाद पर ज्ञानप्रधान उपनिषदों का पूर्ण प्रभाव होते हुए भी वह उनके रहस्यवाद से भिन्न है क्योंकि यहाँ रति का माधुर्य है। मध्यकालीन भक्तों में से कबीर आदि निर्गुणिए सन्तों के रहस्यवाद में योग की जटिलता और गम्भीर दार्शनिकता थी तथा जायसी आदि प्रेममार्गी सन्तों के रहस्यवाद में वैष्णव भावना का प्रभाव था एवं मीरा के रहस्यवाद में साकारो-पासना थी। आधुनिक रहस्यवाद, जिसकी महादेवी जी प्रतिनिधि कवयित्री हैं, इन सभी के आंशिक लक्षणों से युक्त है अतः वह औपनिषदिक एवं मध्यकालीन रहस्यवाद से विशिष्ट है।

इन्होंने 'यामा' के प्राक्कथन में 'अपनी बात' नामक द्वितीय अंश में आधुनिक रहस्यवाद की रूपोद्भावना के विषय में वेदान्त, योग, सूफीमत एवं कबीर के रहस्यवाद की पृथक्-पृथक् विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि—

"आज गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी इस सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली। जो मनुष्य के हृदय को अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका, तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"

इस उपरिलिखित विवेचन से ज्ञात होता है कि रहस्यवाद छायावाद का अग्रिम आध्यात्मिक धरातल है, जहाँ मानवीय हृदय सायुज्य का आनन्द लेता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रकृति का चिरसौन्दर्य मानव-हृदय को आकृष्ट कर उसे एक विराट् सत्ता का भान करा देता है और पुनः उसे विमुग्ध कर उससे अभिन्न सम्बन्ध जोड़ने के लिए तीव्र उत्कण्ठा से भर देता है। इस मानसिक स्थिति में पराविद्या की अपार्थिवता भी है और वेदान्त के अद्वैत की छाया भी है जो कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र से आबद्ध है। कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव को महादेवी जी ने वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं कहा है। परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि कबीर के प्रणयवाद पर सूफी-प्रभाव पर्याप्त मात्रा में था। इस प्रकार आधुनिक रहस्यवाद पर सूफी-प्रभाव भी स्पष्ट है जैसा कि उन्होंने 'यामा' के प्राक्कथन में स्वीकार भी किया है। उनकी कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर अनेक आलोचक उन्हें वैष्णवी समझकर आधुनिक मीरा भी कहते हैं परन्तु यह विचारणीय है।

मीरा साकारोपासिका थीं जब कि **महादेवी** जी निराकारोपासिका हैं। वे गिरिधरलाल के गुणों पर रीझ कर विरहिणी की भाँति तड़पती थीं और तड़पन इनमें भी है परन्तु आलम्बन में भेद है—एक का आलम्बन साकार का सौन्दर्य था और दूसरी का निराकार का है जो प्रकृति के प्रतीकों से ही केवल उद्भासित हो सका है। मीरा की साधना के समान ही महादेवी जी की साधना में दुःखवाद का साम्राज्य है किन्तु मीरा की रहस्य-भावना अन्तर्मुखी थी जिसका आधार संसार से विरति और प्रिय से रति है जब कि इनकी भावना अन्तर्मुखी होती हुई प्रिय की रति पर तो आधारित है परन्तु संसार से विरत नहीं। जिसके परिणाम-स्वरूप ये संसार का त्याग नहीं कर सकीं। मीरा पर योगी प्रभाव भी था क्योंकि उनके गीतों में शून्य, त्रिकुटी, अनहदनाद, सुषुम्ना आदि नाड़ियों एवं योगियों के चिह्नों का वर्णन है परन्तु महादेवी जी ने योग साधन को महत्व नहीं दिया। वे प्रकृति के प्रतीकों से अपने प्रियतम की छवि को निहारती हैं, उसमें सुरत भी लगाती हैं और मानसिक उपकरणों से उसकी आरती भी करती हैं परन्तु वे काय-साधन एवं चिह्न-धारण को मूल्य नहीं देतीं। महादेवी जी का साधना-भवन अनुभूति की आधारशिला पर अवश्य खड़ा है परन्तु उसकी टीप-टाप कल्पना के ही बल पर है अतः बौद्धिक है। मीरा में बुद्धितत्व का अभाव है, केवल हृदयतत्व ही सचेष्ट है। निम्न उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

मीरा—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।
म्हेल चढ़ि-चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी
कब आवै महाराज ।
दादुर मोर पपइया बोले ।
कोइल मधुरे साज ।
उमग्यौ इन्द्र चहूँ दिसि बरसै
दामिण छोड़ी लाज ।
धरती रूप नवा नव धरिया
इन्द्र मिलण के काज ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर
बेगि मिलौ महाराज ।

महादेवी—

लाये कौन सन्देश नये घन
अम्बर गर्वित
हो आया नत
चिर निस्पन्द हृदय में उसके
उमड़े री पुलकों के सावन !
जीवन जलकण से निर्मित-सा
चाह इन्द्रधनु से चित्रित-सा
सजल मेघ-सा धूमिल है जग
चिर नूतन सकरुण पुलकित-सा
तुम विद्युत् बन आओ पाहुन
मेरी पलकों पर पग धर-धर ।

मीरा के पद में सहज वर्णन है अतः वह साधना का अंग है परन्तु महादेवी जी के गीत में 'पुलकों के सावन', 'जीवन-जलकण से निर्मित-सा', 'चाह इन्द्रधनु से चित्रित-सा' तथा 'सजल मेघ-सा धूमिल है जग' आदि वाक्य एवं वाक्यांश बुद्धि की शाण पर चढ़ कर ही निकले है अतः कला-प्रधान हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा और महादेवी की, साधना में बड़ा अन्तर है । हाँ, एक साम्य है और वह है विरह-वेदना का । दोनों ही विरह में तड़पती हैं और विलाप करती हैं । महादेवी जी की साधना में दुख स्वसंवेद्य है अतः इस दुख ने ही उन्हें अज्ञात प्रियतम की ओर उन्मुख किया है । अपने

दु:खवाद के विषय में वे 'रश्मि' की भूमिका में लिखती हैं—

"अपने दु:खवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दु:ख धूप-छाँही डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दु:ख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस क्यों का उत्तर दे सकना मेरे लिए भी किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार जिसे दु:ख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है परन्तु उस पर दु:ख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसकी प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।"

इन शब्दों से ज्ञात होता है कि जिस दुख से उनमें वेदना जग पड़ी है वह स्वसंवेद्य होता हुआ भी आत्मीय नहीं, वह विश्व-दुख की प्रतिच्छाया है जो उनके हृदय-पटल पर आकर पड़ी और उन्हें विकल कर डाला। यह बात 'आधुनिक कवि' की भूमिका के उनके इन शब्दों से प्रमाणित होती है कि "हृदय में तो निराशा के लिए कोई स्पर्श ही नहीं पाती, केवल एक गम्भीर करुणा की छाया देखती हूँ।"

इसका स्पष्टीकरण माया की भूमिका से हो जाता है, जहाँ वे लिखती हैं—"दु:ख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अधिक भोगना चाहता है परन्तु दु:ख सब को बाँट कर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"

इससे स्पष्ट विदित होता है कि उनकी वेदना संसार-दुख की प्रतिक्रिया है, जो उनके हृदय में बचपन से ही भगवान् बुद्ध के जीवन-परिचय से संवेद्य हो गया था। रश्मि की भूमिका में उन्होंने यही भाव लिखा भी है।

महादेवी जी को दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को विश्व से एक अटूट बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो देश और काल के बन्धन में पड़े हुए जीवात्मा का क्रन्दन है।

महादेवी जी की दु:खाभिव्यक्ति में एक संयम है अत: इनकी विरह-वेदना के प्रकाशन में तुलसीदास एवं गुप्त जी की भाँति परम संयति है, इस

अभिव्यक्ति के प्रकाशन-प्रकार को वे स्वयं 'सान्ध्यगीत' के वक्तव्य में स्पष्ट करती हैं—

"दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति, आर्त्तक्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है, जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में है, जिसमें संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की संभावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ नि.श्वास में भी है, जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती, और उसका प्रकटीकरण निःस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए संयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।"

इस पर्यालोचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी जी को जीव प्रकृति और ईश्वर पर अटूट विश्वास है। ईश्वर सब का स्रोत है। जीवात्मा ने प्रकृति के वैभव में उस विराट् के वैभव को देखा और उसे ऐसा जान पड़ा कि यह सब उसी का सौन्दर्य-विभव है, जिसका कि वह स्वयं एक अंश है। बस यही भावना जीव के अन्दर ईश्वर के प्रति अद्वैत-प्राप्ति के लिए तीव्र होती चली जाती है। जीवात्मा का संसार-चक्र में पड़कर ईश्वर से चिर-विभेद हो गया है अतः विरह-तड़पन भी चिरकालीन है और इसी हेतु मिलन के लिए प्रचंड विकलता है। जीवात्मा इसके लिए ईश्वर को प्रियतम मानकर साधना-पथ पर अग्रसर होती है। यही एक तत्व है जिसे महादेवी जी ने अपने काव्य में प्रकट किया है—यही उनकी **दार्शनिकता** है। इस पर उपनिषद्, निर्गुण-साधना, वैष्णवी-भावना एवं सूफी-मत का पर्याप्त प्रभाव है। इनकी **आत्म-साधना** का निरूपण हम उन्हीं के कुछ उद्धरणों से नीचे करते हैं।

महादेवी जी के अनुसार एक असीम ब्रह्म सर्वत्र प्रकाश-रूप से व्याप्त हो रहा है और हम सभी क्षुद्र तारकों के समान हैं। यदि वह व्यापक प्रकाश है तो हम एक प्रकाश-बिन्दु ही हैं और इसी प्रकार वह निराकार साकार बना हुआ है—

तुम असीम विस्तार ज्योति के, मैं तारक सुकुमार,
तेरी रेखा रूप हीनता, है जिसमें साकार।

उसी की आभा का कण कान्तिमानों को कान्ति दे रहा है। रात्रि तमसावृत निस्सीम गगन में टिमटिमाते तारक-दीपकों की ज्योति और निशान

करुण-क्रन्दन में भी इतना आकर्षण हो गया है कि विश्व आहत होकर भी मुग्ध हो गया है तथा नेत्रों में दीपक से जल रहे हैं और पलकों में तरंगिणी तरंगें ले रही है—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !

इन वेदनापूर्ण गीतों से स्पष्ट विदित हो रहा है कि महादेवी जी के मन में कितना विरह-दुख भरा पड़ा है। उनका काम तो निरन्तर जलना है और वह हो रहा है परन्तु प्रियतम फिर भी द्रवित नहीं हुआ है अतः वे निष्ठुर अरूप की अर्चना आरम्भ करती हैं। वह अर्चना बाह्यरूप से नहीं है। उसमें लघुतम जीवन ही प्रिय का सुन्दर मन्दिर है और श्वासें ही अभिनन्दन हैं। अश्रु अर्घ्य, रोम अक्षत और वेदना चन्दन है तथा स्नेहभरा मन ही दीपक, लोचन-तारक ही विकसित कमल और स्पन्दन ही जलती धूप है, एवं पलकों का ही नर्तन और प्रिय-प्रिय जपते हुए अधरों का ही ताल है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?

उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेहभरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।

इससे हमें निराकार की मानसिक अर्चना का स्पष्ट संकेत मिल रहा है जिस पर वैष्णवी भावना का प्रभाव स्पष्ट है। महादेवी जी को चिरवेदना ही प्रिय है अतः वे मिलन की भूखी नहीं हैं। हाँ, मिलन को चाहती अवश्य परन्तु मिलने पर भी हर्ष से पूर्व वे प्रिय के पदों को आँसुओं से ही धोना चाहती हैं—

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते पद पखार ।

इस प्रकार महादेवी जी की साधना-सरणी में अद्वैत, कबीर के दाम्पत्य-प्रेम अतएव सूफियों तथा वैष्णवी भावना का अद्भुत पुट देखते हैं। इनकी साधना-सरणी को हम केवल बौद्धिक प्रयत्न ही मानने को उद्यत नहीं, हमारी मान्यता है कि संसार की दुःखात्मक स्वानुभूति ने विराट् सत्ता की इन्हें अनुभूति कराई और आत्मा की वीणा से ये स्वर फूटे। हाँ, इनका कलात्मक पक्ष, जिसमें सुन्दर प्रतीकों, सांकेतिक शब्दों एवं अलंकृत वाक्यों का बोलबाला है, अवश्य बुद्धि का कुछ सीमा तक विलास है। प्रिय की स्वानुभूति के विषय में 'दीपशिखा' में वे स्वयं लिखती हैं—

जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत्-सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती ?
चाँदनी के बादलों से स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस-रात बिखेरते क्यों ?
सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती ?
कल्प-युग-व्यापी विरह को एक सिहरन में सँभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप बाले,
क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती
मेघ पथ में चिन्ह विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय-पद.
जो न उनकी चाप का मै जानती सन्देश उन्मद,
किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?

महादेवी जी की साधना में यद्यपि प्रकृति उस रूप में

करुण-क्रन्दन में भी इतना आकर्षण हो गया है कि विश्व आहत होकर भी मुग्ध हो गया है तथा नेत्रों में दीपक से जल रहे हैं और पलकों में तरंगिणी तरंगें ले रही है—

> **मैं नीर भरी दुख की बदली !**
> **स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,**
> **क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,**
> **नयनों में दीपक से जलते**
> **पलकों में निर्झरिणी मचली !**

इन वेदनापूर्ण गीतों से स्पष्ट विदित हो रहा है कि महादेवी जी के मन में कितना विरह-दुख भरा पड़ा है। उनका काम तो निरन्तर जलना है और वह हो रहा है परन्तु प्रियतम फिर भी द्रवित नहीं हुआ है अतः वे निष्ठुर अरूप की अर्चना आरम्भ करती हैं। वह अर्चना बाह्यरूप से नहीं है। उसमें लघुतम जीवन ही प्रिय का सुन्दर मन्दिर है और श्वासें ही अभिनन्दन हैं। अश्रु अर्घ्य, रोम अक्षत और वेदना चन्दन है तथा स्नेहभरा मन ही दीपक, लोचन-तारक ही विकसित कमल और स्पन्दन ही जलती धूप है, एवं पलकों का ही नर्तन और प्रिय-प्रिय जपते हुए अधरों का ही ताल है—

> **क्या पूजा क्या अर्चन रे ?**
>
> **उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।**
> **मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।**
> **पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे।**
> **अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।**
> **स्नेहभरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।**
> **मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।**
> **धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।**
> **प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।**

इससे हमें निराकार की मानसिक अर्चना का स्पष्ट संकेत मिल रहा है जिस पर वैष्णवी भावना का प्रभाव स्पष्ट है। महादेवी जी को चिरवेदना ही प्रिय है अतः वे मिलन की भूखी नहीं हैं। हाँ, मिलन को चाहती अवश्य परन्तु मिलने पर भी हर्ष से पूर्व वे प्रिय के पदों को आँसुओं से ही धोना चाहती हैं—

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते पद पखार ।

इस प्रकार महादेवी जी की साधना-सरणी में अद्वैत, कबीर के दाम्पत्य-प्रेम अतएव सूफियों तथा वैष्णवी भावना का अद्‌भुत पुट देखते हैं । इनकी साधना-सरणी को हम केवल बौद्धिक प्रयत्न ही मानने को उद्यत नहीं, हमारी मान्यता है कि संसार की दुःखात्मक स्वानुभूति ने विराट् सत्ता की इन्हें अनुभूति कराई और आत्मा की वीणा से ये स्वर फूटे । हाँ, इनका कलात्मक पक्ष, जिसमें सुन्दर प्रतीकों, सांकेतिक शब्दों एवं अलंकृत वाक्यों का बोलबाला है, अवश्य बुद्धि का कुछ सीमा तक विलास है । प्रिय की स्वानुभूति के विषय में 'दीप-शिखा' में वे स्वयं लिखती हैं—

जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत्-सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक-राग गाती ?
चाँदनी के बादलों से स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस-रात बिखेरते क्यों ?
सजग स्मित क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती ?
कल्प-युग-व्यापी विरह को एक सिहरन में सँभाले,
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि दीप बाले,
क्यों किसी के आगमन के
शकुन स्पन्दन में मनाती
मेघ पथ में चिन्ह विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,
किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?

महादेवी जी की साधना में यद्यपि प्रकृति उस रूप में तो चित्रित नहीं

गर्भित है अतः क्लिष्ट है। इसी काल में मीरा ने भी अपने प्रियतम गिरिधर-नागर के प्रेम में सैंकड़ों गीत गाये, जिनमें भग्न हृदय रो रहा है। तुलसीदास के अतिरिक्त मात्राओं की न्यूनाधिकता का ध्यान किसी ने नहीं रक्खा है तथा सभी लयप्रधान हैं।

इन उपर्युक्त कवियों के पदों में संगीत था तथा राग-रागिनियाँ भी थीं परन्तु आधुनिक काल के कवियों ने संगीत को तो काव्य में महत्व दिया परन्तु राग-रागिनियों की परम्परा को न अपनाया। गुप्त, प्रसाद, पन्त और महादेवी आदि कवियों ने इसी नवीन प्रणाली को ग्रहण किया। इन्होंने जिन गीतों को गाया है वे प्रायः मात्रिक छन्दों के ही अन्तर्गत आते हैं। केवल निराला ही ऐसे कवि हैं, जिनके अनेक गीतों में प्राचीन परम्परा का अनुसरण है। प्रसाद, पन्त और महादेवी की रचनाओं में शृंगार है परन्तु नग्न नहीं और महादेवी तो विशेषतः संयत है। साथ ही इन सब में दार्शनिकता भी है, जिसने छायावाद एवं आधुनिक रहस्यवाद से नवीन रूप धारण कर लिया है। इसका विवेचन पहले हो चुका है, जिसे हम महादेवी जी की काव्यसाधना का भावपक्ष कह सकते हैं।

महादेवी जी की गीति अन्य आधुनिक कवियों से एक विशेषता रखती है कि उन्होंने मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक लोक-गीतों का भी प्रयोग किया है। अन्य कवियों ने ऐसा नहीं किया। महादेवी जी के गीतों के भाव प्रायः हृदय में उतर जाते हैं, केवल कुछ ही गीत ऐसे हैं जिनका भाव पहले बुद्धि के द्वारा चर्वित होता है और पुनः हृदय में उतरता है। प्रसाद के अनेक गीत बहुपर्त्ती भावों से युक्त हैं अतः संगीत एवं भाषा के माधुर्य से युक्त होते हुए भी मस्तिष्क के लिए बोझा बन जाते हैं। निराला गंभीर दार्शनिक हैं। उनके संगीत में वही स्वाद है जो शुष्क खाँड के गिनौरे में होता है। पन्त अवश्य मधुर हैं परन्तु वहाँ भावों का प्रवहन विविधविषयी है, कोई एक आलम्बन नहीं और न वेदना है। महादेवी जी के गीतों में एक चढ़ती धारा है, एक ओर को चढ़ाव है और वह भी तरल और साथ ही मधुर भी। किं बहुना, उनके संगीत का स्वाद गूँगे का गुड़ चखना है, जो अनुभूत होता है परन्तु व्यक्त करने के लिए दुष्कर है।

इनकी भाषा बड़ी परिमार्जित है, जिसका मुख्य कारण इनका प्रकाण्ड संस्कृतज्ञा होना ही है। भाषा में सुगढ़ शब्द-योजना इनकी कला का सुन्दर प्रदर्शन है जिसमें माधुर्य एवं प्रसाद गुण अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ छविमान् है। उपनागरिका वृत्ति भी अपनी सजधज के साथ विद्यमान है

इनके गीतों में अलंकार भी दमकते हैं परन्तु वे इस प्रकार लादे हुए नहीं हैं कि जिनकी चमक में चक्षु चौंधिया जायें और गीति का अपना रूप न दीख पड़े। यह बात निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी—

उपमा—

रात सी नीरव व्यथा, तम सी अगम मेरी कहानी

———

तरल मोती सा जलधि जब काँपता

———

हिम सा उज्ज्वल दुकूल

रूपक—

धनु बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग व्योम में,

अपह्नुति—

वे मुस्काते फूल नहीं, जिनको आता है मुरझाना।
तारों के दीप नहीं, जिनको भाता है बुझ जाना।
वे नीलम से मेघ नहीं, जिनको है घुल जाने की चाह।
वह अनन्त ऋतुराज नहीं, जिसने देखी जाने की राह।

उल्लेख—

मधुर राग तू मैं स्वर-संग्रम,
तू असीम में सीमा का भ्रम !

इन्हें प्रतीक बड़े प्रिय हैं, जो प्रकृति के बीच में से उठकर आए हैं। कहीं-कहीं इन प्रतीकों के उद्भाव एवं स्थापन में कल्पनायें मधुर होती हुई भी विलक्षण हो गई हैं, अतः क्लिष्टता आ गई है और कहीं-कहीं पर निपट नवीनता है अतः बौद्धिक-व्यायाम की चेष्टाएँ ही दीख पड़ती हैं। परन्तु ऐसा कम हुआ है।

इनकी रचनाओं में शृंगार, करुण, अद्भुत और शान्त रस मिलते हैं। शृंगार में विरह का ही प्रमुखतः चित्रण है। आठ प्रकार के सात्विक भावों में से रोमांच, कम्प, वैवर्ण्य, और अश्रु का वर्णन है तथा स्मृति, भय, चिन्ता, औत्सुक्य, शंका, आवेग, उन्माद, निद्रा, स्वप्न और मोह आदि संचारी भावों का अंकन है।

लिख दिया है। यदि इसके आधार पर हम उनका स्थान निर्धारण और मूल्यांकन करना चाहें तो निराला जी के उनके (महादेवी जी के) प्रति कहे निम्न शब्दों में यही कह सकते हैं—

हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा-पाणी,
स्फूर्ति चेतना रचना की प्रतिमा कल्याणी।

गद्य-रचनाएँ—पहले लिखा जा चुका है कि इनकी चार गद्य-पुस्तकें हैं—अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ, स्मृति की रेखायें और महादेवी का विवेचनात्मक गद्य।

'अतीत के चल-चित्र' में उनके संस्मरण हैं; 'शृंखला की कड़ियाँ' में उनके नारी-विषयक लेख हैं जिनमें नारी की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है; 'स्मृति की रेखायें' में रेखाचित्र और 'विवेचनात्मक गद्य' में इनकी रचनाओं की भूमिका एवं कुछ अन्य निबन्ध संग्रहीत हैं। 'अतीत के चलचित्र' में भी रेखाचित्र अधिक हैं।

महादेवी जी का रूप उनके काव्य एवं गद्य के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न सा दीखता है। काव्य में उनकी व्यक्तिगत भावना चित्रित है। उनका अपना निजी दुख, विरह-वेदना एवं रहस्यानुभूति वर्णित एवं व्यंजित है परन्तु गद्य में समाज का दुख वर्णित हुआ है अतः उनका काव्य आत्मकेन्द्रित है और गद्य समाज-केन्द्रित। संसार में सभी प्राणी दुखी हैं, मानव अधिक दुखी हैं और उनमें भी नारीवर्ग। दुखी को देखकर सहानुभूति का उत्पन्न होना दयालु का प्रथम लक्षण है। महादेवी जी ने विपन्न मानव को देखा और उनके मानस में समवेदना की तरंगें उठने लगीं, विशेषतः नारी की समस्याओं ने उन्हें अधिक विचलित किया। यही दया, करुणा, ममता, वात्सल्य और प्रेम उनकी लेखनी से फूट पड़ा।

'अतीत के चलचित्र' में पहला चित्र एक भृत्य के जीवन का चित्र है, दूसरा पारिवारिक अत्याचारों से घुट-घुट कर जीने वाली बाल-विधवा का और तीसरा विमाता के दुर्व्यवहार से दुखी एक अबोध बालिका का चित्र है। इनके अतिरिक्त सब्जी बेचने वाले अलोपी का और बदलू कुम्हार का भी चित्रण है तथा कुछ संस्मरण भी हैं।

'स्मृति की रेखाएँ' में पहला रेखाचित्र एक ग्रामीण अशिक्षित वृद्धा का है और दूसरा एक परम दुखी चीनी फेरी वाले का है जो अपनी खोई हुई बहिन की खोज में कपड़ा बेचता फिरता है। इनके अतिरिक्त इसमें गाँव की निर्धनता एवं धोबियों के पारिवारिक जीवन आदि के भी रेखाचित्र हैं।

ये सभी चित्र सहानुभूति पूर्ण लेखनी से अंकित हुए हैं अतः वास्तविकता से पूर्ण हैं। ये गद्यगीत न होते हुए भी कविता से पूर्ण है। कल्पनाएँ कवि-कल्पनाएँ हैं अतः उनसे प्रसूत ये चित्र विचित्र हैं।

'शृंखला की कड़ियाँ' में स्त्री की हीनावस्था, विधवा की विवशता एवं पतिता की दुर्दशा का बड़ा मार्मिक एवं करुण चित्रण है।

महादेवी जी का गद्य आदर्श गद्य है, जो सुसंस्कृत, सुगठित और प्रसाद-गुण-युक्त है। उसमें भावों का एक तारतम्य है तथा उत्तरोत्तर दृढ़ निबन्धन है। कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य से क्लिष्टता भी आ गई है। उदाहरणतः दो उद्धरण नीचे दिए जाते हैं।

"उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देने वाले सफेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।"

[स्वर्ग का एक कोना]

वेश्या-जीवन पर—

"इन स्त्रियों ने, जिन्हें गर्वित समाज पतिता के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरुष की वासना की वेदी पर कैसा घोरतम बलिदान किया है। इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरुष की बर्बरता, रक्त-लोलुपता पर बलि होने वाले युद्ध-वीरों के चाहे स्मारक बनाये जावें, पुरुष की अधिकार भावना को अक्षुण्ण रखने के लिये प्रज्ज्वलित चिता पर क्षण भर में जल मिटने वाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरुष की कभी न बुझने वाली वासनाग्नि में हँसते-हँसते अपने जीवन को तिल-तिल जलाने वाली इन रमणियों को मनुष्य-जाति ने कभी दो बूँद आँसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा।"

[शृंखला की कड़ियाँ]